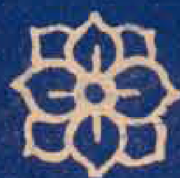
काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी

डॉ॰ भँवरलाल जोशी

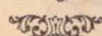


चौखम्बा प्रकाशन

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

६



काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी

लेखक

डॉ० भँवरलाल जोशी

एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी–एच० डी०

प्राध्यापक : स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,

गवर्नमेण्ट कालेज, अजमेर

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-1

१९६८

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०२५

मूल्य : २०-०० संशोधित 24

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)

फोन : ३१४५

प्रधान शाखा

चौखम्बा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ३०७६

THE

CHOWKHAMBA RASHTRABHASHA SERIES

6

****

KĀŚMĪRA ŚAIVADARŚANA AURA KĀMĀYANĪ

(Kashmir Monistic Shaivism and Its Influence on Kamayani)

By

Dr. BHANWAR LAL JOSHI,
M. A. (Hindi and Sanskrit), Ph. D.
Professor, Post-graduate Department of Hindi,
Government College, Ajmer

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1 (India)
1968

First Edition
1968
Price : Rs. 20-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Antiquarian Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 3076

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत 'काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी' नामक मेरे शोध-प्रबन्ध का मुद्रित रूप है। उक्त प्रबन्ध सन् १९६३ में विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया गया था और परीक्षक-मण्डल द्वारा स्वीकृत किया गया था।

जब मैंने काश्मीर शैवदर्शन के विचार से 'कामायनी' पर शोध करने के लिए 'काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी' विषय लिया था तब कामायनी पर प्रकाशित समीक्षात्मक ग्रन्थों में 'कामायनी अनुशीलन', 'कामायनी सौन्दर्य' और 'कामायनी दर्शन' ये तीन ही ऐसे ग्रन्थ थे जिनमें काश्मीर शैवदर्शन के विचार से कामायनी का आंशिक स्पर्श किया गया था। इन तीन ग्रन्थों को छोड़ कर कामायनी के दार्शनिक प्रतिपाद्य को स्पर्श करने वाला तब और कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं था।

जब मैं अपने शोध-कार्य में काफी आगे बढ़ चुका था तब मुझे ज्ञात हुआ कि 'कामायनी' के दर्शन-सम्बन्धी विषयों पर आगरा विश्वविद्यालय में दो शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये जा चुके हैं। अतः मुझमें यह जानने की उत्सुकता स्वाभाविक थी कि उन प्रबन्धों का वास्तविक विवेच्य विषय क्या है और उनकी विषय-परिधि मेरी विषय-परिधि को कहाँ तक आक्रान्त करती है। इस जिज्ञासा-तृप्ति के लिए एक प्रबन्ध के तो प्रकाशन की प्रतीक्षा करनी पड़ी और दूसरे प्रबन्ध की पाण्डुलिपि देखने के लिए मुझे आगरा विश्वविद्यालय के अधिकारियों की कृपापूर्ण अनुमति लेनी पड़ी। 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन' शीर्षक प्रकाशित शोध-प्रबन्ध को देखने पर ज्ञात हुआ कि उसमें कामायनी के काव्यत्व पर दृष्टि केन्द्रित कर के सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन के साथ उसके दार्शनिक पक्ष के अध्ययन का प्रयत्न किया गया है। उक्त प्रबन्ध के सात प्रकरणों में से अन्तिम प्रकरण के उत्तरार्द्ध में तो कामायनी पर अन्य दार्शनिक विचारधाराओं का प्रभाव दिखाया गया है और पूर्वार्द्ध के ४३ पृष्ठों में से २६ पृष्ठों में निगमागम के अन्तर, शैवसम्प्रदायों के भेदों और काश्मीर शैवदर्शन के कतिपय सिद्धान्तों की चर्चा है और शेष केवल १७ पृष्ठों में कामायनी पर काश्मीर शैवदर्शन के प्रभाव का अन्वेषण-प्रयत्न है। इस प्रयत्न में भी शोधकर्ता की दृष्टि कामायनी के अन्तस् में विद्यमान काश्मीर शैवदर्शन की उत्तरोत्तर विकासात्मक चिन्तनधारा तक न पहुँच कर नियतिवाद, आभासवाद, स्वातंत्र्यवाद, समरसता और आनन्दवाद नाम से हिन्दी-जगत् में

काश्मीर शैवदर्शन के बहुचर्चित कतिपय सिद्धान्तों की कामायनी में विशृङ्खलित एवं फुटकल अभिव्यक्तियाँ ढूँढ़ने तक ही सीमित रह गई है। मनु को तीन मलों और छह कञ्चुकों से आवृत बताते हुए उसकी जीवरूपता और जीवरूपता से मुक्ति के सम्बन्ध में कुछ बातें कही गई हैं, किन्तु कामायनी में उनका अन्वेषण करके विवेचन करने की अपेक्षा तत्सम्बन्धी शास्त्रीय विवेचन को ही प्रधानता दी गई है। यह सब जानकर मुझे सन्तोष हुआ कि 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन' प्रबन्ध का शोधकर्ता मेरे विषय की परिधि तक नहीं पहुँचा है। यद्यपि उसने काश्मीर शैवदर्शन के मूल ग्रन्थों को पढ़कर कामायनी के दार्शनिक पक्ष को समझने का प्रयत्न किया है, फिर भी कामायनी के दार्शनिक अध्ययन को उक्त प्रबन्ध के विषय का केवल एक अंग बनाने के कारण और उस एक अंगरूप अध्ययन में भी प्राचीन-अर्वाचीन अन्यान्य दार्शनिक-वैज्ञानिक विचारधाराओं का विवेचन हो जाने के कारण काश्मीर शैवदर्शन के विचार से कामायनी का व्यापक एवं गम्भीर अध्ययन उपेक्षित रह गया है।

दूसरे शोध-प्रबन्ध 'प्रसाद का काव्य और दर्शन' में लेखिका ने दो अध्यायों में प्रसाद के साहित्य को प्रभावित करने वाले विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्तों और प्रसाद-साहित्य पर पड़े उनके प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, किन्तु उक्त प्रबन्ध की पाण्डुलिपि को पढ़ने पर ऐसा प्रतीत हुआ कि शोधयित्री ने काश्मीर शैवदर्शन के मूल ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया है और कामायनी के दार्शनिक पक्ष के सम्बन्ध में बहुचर्चित जो भी सामान्य सामग्री हिन्दी में उपलब्ध थी उसी के सहारे कामायनी के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत किया है। अतः लेखिका के उपर्युक्त प्रबन्ध के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'प्रसाद का काव्य और दर्शन' शोध-विषय में प्रसाद के सम्पूर्ण साहित्य को लेकर चलने के कारण न तो उसमें कामायनी के दार्शनिक पक्ष का अपेक्षित अध्ययन ही हुआ है और न कामायनी सम्बन्धी दार्शनिक विवेचन नये महत्त्वपूर्ण परिणामों को ही प्रस्तुत कर सका है।

इससे यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों प्रबन्धों में कामायनी के दार्शनिक पक्ष को अपने शोध-विषय का केवल एक अंग बनाकर उसका अध्ययन किये जाने के कारण उनमें कामायनी के दार्शनिक पक्ष के अध्ययन का आंशिक रूप में ही स्पर्श हो पाया है और कामायनी के दर्शन का सांगोपांग व्यवस्थित एवं गम्भीर अध्ययन अधिकांशतः उपेक्षित ही रह गया है। अतः मेरे चलते हुए शोध-कार्य के बीच में उक्त दो प्रबन्धों के प्रस्तुत और स्वीकृत हो जाने पर भी मेरे शोध-विषय की सीमा अनाक्रान्त ही रही है।

यहाँ यह सूचना दे देना भी मैं आवश्यक समझता हूँ कि जब मैं अपने शोध-प्रबन्ध को लिख चुका था तब उन्हीं दिनों के आस पास 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' नामक डा० नगेन्द्र की पुस्तक भी संभवतः प्रकाशित हो गई थी, परन्तु उसके प्रकाशन का पता मुझे तब चला जब मैं अपना शोध-प्रबन्ध विश्वविद्यालय में प्रस्तुत कर चुका था। अतः उसका उपयोग मेरे शोध-प्रबन्ध में संभव नहीं हुआ। अब उसके प्राप्त होने से उसमें व्यक्त कामायनी के दर्शन सम्बन्धी विचारों के औचित्य-अनौचित्य के विषय में यद्यपि बहुत कुछ लिखा जा सकता है तथापि अपने शोध-प्रबन्ध को उसके मूल रूप में ही प्रस्तुत करने की इच्छा से मैं तद्विषयक विचारों का यहाँ अब समावेश करना उचित नहीं समझता। उनकी विस्तृत चर्चा कहीं अन्यत्र ही की जायगी।

विश्वविद्यालय में मेरे इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने के बाद एतत्सं-बन्धी जो अन्य ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनमें व्यक्त विचारों के सम्बन्ध में भी मेरी स्पष्ट मान्यताएँ हैं, जिन्हें मैं यथावसर पृथक् रूप में व्यक्त करूँगा।

कामायनी के दार्शनिक पक्ष का अध्ययन करते समय मेरी यह प्रबल इच्छा थी कि अपने इस शोध-कार्य के परिणामस्वरूप मैं विद्वन्मण्डल के सम्मुख कुछ ऐसी नूतन उपलब्धियाँ प्रस्तुत करूँ कि जिनसे मेरे ग्रंथ का स्थायी मूल्य हो सके। इस उद्देश्य से मैंने यह आवश्यक समझा कि मैं अंगरेजी रूपान्तर में प्रस्तुत शैवदर्शन सम्बन्धी कतिपय ग्रन्थों के ऊपरी अध्ययन तक ही अपने आपको सीमित न रखूँ अपितु शैवदर्शन के मूलग्रन्थों का अध्ययन कर के इस दर्शन के आन्तरिक तत्वों को हृदयंगम करूँ। अतः मैंने काश्मीर शैवदर्शन के यथोपलब्ध मूल ग्रन्थों और टीकाओं का गम्भीर अध्ययन किया। मूल ग्रन्थों और टीकाओं का निरन्तर श्रमसाध्य पारायण करने पर भी जब मुझे अनेक शंकाओं और जिज्ञासाओं के घटाटोप के बीच तत्त्व-प्रकाश की पूर्ण बौद्धिक उपलब्धि न हो सकी तब विवश होकर कश्मीर की लम्बी यात्रा करनी पड़ी। इस यात्रा में अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए कश्मीर के अपने लम्बे प्रवास-काल में मैंने कश्मीर की घाटी में काल-क्रम से बचे हुए शैवदर्शन के परम्परागत पण्डितों के चरणों में बैठ कर श्रद्धापूर्ण प्रणिपात और परिप्रश्नों से उक्त दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को गुरु-मुख से समझकर हृदयंगम करने का सौभाग्य प्राप्त किया।

इस प्रकार काश्मीर शैवदर्शन के मूल ग्रन्थों के अध्ययन और मनन तथा इस दर्शन के विशेषज्ञ काश्मीरिक विद्वानों के गुरुमुख से तथ्य की सम्यक् प्रतिपत्ति के पश्चात् मैंने गतानुगतिक प्रवृत्ति को त्यागकर स्वतन्त्र बुद्धि से काश्मीर शैवदर्शन के परिवेश में कामायनी के दार्शनिक स्वरूप का चिन्तन और मनन किया और अपने वर्षों के ऐसे चिन्तन और मनन के परिणामस्वरूप

कामायनी के सम्बन्ध में जो ज्ञानवर्धक नयी उपलब्धियाँ मुझे हुईं उन्हीं को मैंने इस प्रबन्ध के रूप में विद्वानों के समक्ष रखने का साहस किया है।

शोध-विषय 'काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी' के नामकरण के सम्बन्ध में मुझे यह निवेदन करना है कि 'काश्मीर शैवदर्शन' नाम से यहाँ किसी अज्ञात या सर्वथा नवीन दर्शन की चर्चा नहीं की जा रही है। शैवागम के आधार पर विकसित अद्वैत शैवदर्शन ही काश्मीर शैवदर्शन है, जिसे ईश्वराद्वयवाद, शिवाद्वयदर्शन, स्वातंत्र्यवाद, प्रत्यभिज्ञादर्शन आदि विविध नामों से बहुधा अभिहित किया जाता रहा है। कुछ दशकों पूर्व तक कश्मीर अपनी दुर्लङ्घ्य पर्वतीय सीमाओं के कारण भारत के शेष भागों से पृथक्-सा था। अतः कश्मीर प्रदेश से बाहर इस दर्शन का प्रचार बहुत कम हुआ (अध्ययन-अध्यापन तो प्रायः हुआ ही नहीं)। दूसरे, शैवागम की इस अद्वैतवादी दार्शनिक विचारधारा का विकास कश्मीर में ही हुआ और इस दर्शन के उपलब्ध साहित्य के प्रायः सभी लेखक कश्मीर के ही निवासी थे। अतः देशविशेष के नाम पर यह दर्शन कश्मीर के बाहर अर्वाचीन विद्वानों में सामान्यतः 'काश्मीर शैवदर्शन' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध रहा है। इसी कारण शोध के विषय के नामकरण में इस अद्वैत शैवदर्शन को 'काश्मीर शैवदर्शन' संज्ञा से अभिहित किया गया है, यद्यपि मैंने अपने इस प्रबन्ध के अन्तर्गत उक्त दर्शन के सभी नामों का निस्संकोचभाव से प्रयोग किया है।

जैसा कि विषय के नामकरण से स्पष्ट है मेरे शोध का विषय काश्मीर शैवदर्शन के सामान्य अध्ययन के साथ केवल उक्त दर्शन के विचार से कामायनी के दार्शनिक पक्ष के विवेचन तक ही सीमित है क्योंकि कामायनी का दर्शन काश्मीर शैवदर्शन की ही आधार-शिला पर प्रतिष्ठित है। कतिपय अन्य प्राचीन-अर्वाचीन दार्शनिक विचारधाराओं और आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी कामायनी पर यत्किंचित् प्रभाव है, परन्तु प्रथम तो कामायनी पर उनके प्रभाव की चर्चा मेरे पूर्ववर्ती शोधकर्ता के द्वारा अपने प्रबन्ध में की जा चुकी है; दूसरे, उक्त विचारधाराओं का समावेश काश्मीर शैवदर्शन की अनुवृत्तिमूलक दृष्टि के अन्तर्गत किया जा सकता है। अतः मैंने कामायनी के दार्शनिक पक्ष के अध्ययन में उनके प्रभाव के स्वतंत्र विवेचन की आवश्यकता नहीं समझी है। इस तरह शोध की विषय-परिधि के अन्तर्गत रहते हुए ही मैंने काश्मीर शैवदर्शन के परिवेश में कामायनी के दार्शनिक पक्ष का व्यापक एवं गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और अपने ऐसे प्रयत्न में कामायनी के काव्य-सौष्ठव के विवेचन का लोभ तो मुझे सर्वथा संवरण ही करना पड़ा है, यद्यपि मैंने अपने प्रबन्धगत विवेचन में दार्शनिक शब्दावली में छिपे अर्थगांभीर्य को

प्रकट करते हुए यह स्पष्ट किया है कि कामायनी का सौन्दर्य शैवदर्शन के आलोक में ही पूरी तरह खिल सकता है।

केवल काश्मीर शैवदर्शन के विचार से कामायनी के दार्शनिक पक्ष का विशेष अध्ययन लक्ष्य होने के कारण प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का आकार भी आजकल के हिन्दी के अधिकांश शोध-प्रबन्धों के आकार से छोटा ही मिलेगा, क्योंकि जहाँ शोध-दृष्टि विषय के विस्तार पर न होकर विषय के चिन्तनगत गाम्भीर्य पर होती है वहाँ शोध-प्रबन्ध की आकार-वृद्धि संभव भी नहीं होती।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में पाँच अध्याय हैं जिनमें से प्रथम अध्याय में काश्मीर शैवदर्शन के उद्‌भव और विकास पर विस्तार से विचार किया गया है। काश्मीर शैवदर्शन सम्बन्धी कुछ ऐसे प्रसंगों को भी मैंने इस अध्याय में अन्तर्भूत किया है जिनके सम्बन्ध में अन्य विद्वानों ने पहले थोड़ा-बहुत कह रखा था, किन्तु जहाँ वे विषय के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाये अथवा जहाँ उनके निष्कर्षों से मुझे सन्तोष नहीं हुआ, वहाँ मैंने प्रामाणिक प्रतिमानों के बल पर नवीन प्रस्थापनाएँ की हैं। जहाँ नवीन प्रस्थापनाएँ प्रतिष्ठित न करके मैंने प्राचीन मतों को ही स्वीकृत किया है वहाँ भी मैंने पूर्व-प्रतिष्ठित मतों के समर्थन में और नये प्रमाणों की खोज की है।

प्रथम खण्ड के दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय में काश्मीर शैवदर्शन के मूल ग्रन्थों के प्रमाण-बल पर इस दर्शन के सिद्धान्तों की सविस्तार व्याख्या की गई है, क्योंकि जब तक कामायनी के आधारभूत दर्शन के सिद्धान्तों को हम हृदयंगम नहीं करेंगे तब तक कामायनी पर उक्त दर्शन के प्रभाव को सम्पूर्णतया समझने में असमर्थ हो रहेंगे। इसलिए इस प्रबन्ध के प्रथम खण्ड में उक्त दर्शन के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। उपर्युक्त अध्यायों में निरूपित सभी सिद्धान्त काश्मीर शैवदर्शन के विविध ग्रन्थों में विद्यमान हैं। अतः उनकी मौलिक खोज का दावा न करते हुए भी मूल ग्रन्थों में बिखरी पड़ी सामग्री के अध्ययन, समुचित चयन और गूढ़ सिद्धान्तों के गुरु-मुख से सम्यक् बोध के पश्चात् मैंने जिन सिद्धान्तों का उक्त अध्यायों में स्वरूप-निरूपण किया है उनकी व्याख्या सम्बन्धी मौलिकता तो निश्चय ही मेरी अपनी है। सिद्धान्त-निरूपण की मौलिकता के अतिरिक्त कतिपय शास्त्रीय प्रश्नों के स्पष्टी-करण में भी मैंने अपने मौलिक विचार प्रकट करने का प्रयत्न किया है।

प्रबन्ध का द्वितीय खण्ड 'उपसंहार' को छोड़ कर छठे अध्याय से लेकर ग्यारहवें अध्याय तक कुल छह अध्यायों में विभक्त है—(६) अशुद्ध अध्वा और 'सकल' प्रमाता मनु, (७) श्रद्धा द्वारा मनु को शैवाद्वैतदर्शन का उपदेश, (८) जीवात्मा मनु पर गुरुरूपा श्रद्धा का शक्तिपात, (९) मनु की रहस्यात्मक

साधना, (१०) मनु की आत्म-प्रत्यभिज्ञा और त्रिपुरजय और (११) मनु की मुक्ति का स्वरूप और उसकी शेषवृत्ति ।

काश्मीर शैवदर्शन के परिवेश में कामायनी के दार्शनिक पक्ष का यह अध्ययन अपनी जिन मौलिक उपलब्धियों के कारण विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है वे उपलब्धियाँ दो प्रकार की हैं—पहली यह कि कामायनी की कथा के अन्तस् में आरोहणमूलक विकास-क्रम से विद्यमान काश्मीर शैवदर्शन की विचारधारा का सुश्रृङ्खलित अन्वेषण और गंभीर विवेचन प्रथम बार इस शोध-प्रबन्ध में हुआ है और दूसरी यह कि कामायनी में अनुस्यूत काश्मीर शैवदर्शन की उक्त विचारधारा की स्पष्टता के लिए आनुषंगिक आवश्यकता के रूप में कामायनी की पारिभाषिक शब्दावली की व्याख्या करके कामायनी के अर्थ की विवृति का नवीन प्रयत्न किया गया है ।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध में कामायनी का दार्शनिक अध्ययन आरम्भ से लेकर अन्त तक सर्वथा मौलिक दृष्टि का परिणाम है । मेरे इस कथन की सत्यता का पूर्ण प्रमाण तो सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध को पढ़ने पर ही मिलेगा, किन्तु अपने उक्त कथन की सद्यःपुष्टि के लिए मुझे आवश्यक प्रतीत होता है कि मैं पारिभाषिक शब्दावली को हटा कर कामायनी में अनुसंहित काश्मीर शैवदर्शन की विचारधारा के आरोहणमूलक उत्तरोत्तर विकास को यहाँ संक्षेप में कथा-निबद्ध कर दूँ ।

अवरोहण

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार एक परमशिव ही परासत्ता है जो स्वतः-सिद्ध है । वह स्वतःसिद्ध परमशिव ही अपने स्वातंत्र्य-स्वभाव से नाना प्रमातृ-प्रमेय आदि रूपों में आत्म-अवभासन करके जगत्-लीला करता है । अतएव शैवाचार्य सर्वप्रथम परमशिवसंज्ञक परतत्त्व का स्वरूप-निरूपण करके परमशिव की इस अवरोहण-लीला को समझाते समय शिव-शक्ति की अभेदभूमिका से प्रारम्भ कर शुद्ध अध्वा की भेदाभेद भूमिका का स्वरूप प्रकट करते हुए भेद-भूमिका के जीव-जगत् का स्वरूप-निरूपण करते हैं । यह परमशिव की अवरोहण-लीला का क्रम है, जिसमें वह अपने अप्रतिहत स्वातंत्र्य से जीवरूपों में उतर कर अपने अन्दर ही जगत्-लीला करता है । प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम खण्ड में काश्मीर शैवदर्शन के सिद्धान्तों के निरूपण का क्रम परमशिव की इसी अवरोहण-लीला के क्रम के अनुसार है । परमशिव की अवरोहण-लीला का वह क्रम बन्धन की उत्तरोत्तर परिपुष्टता का क्रम है । जीव इस परिपुष्ट बन्धन-दशा का प्राणी होता है और बन्धन से मुक्ति ही जीव का चरम लक्ष्य होता है ।

कामायनी के आरम्भ का मनु परिपुष्ट बन्धन-दशा का प्राणी है। आनन्दरूपा मुक्ति उसका परमसाध्य है।

आरोहण

अतः प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड में कामायनी के दार्शनिक अध्ययन में अवरोहण-क्रम के विपरीत बन्धन से मुक्ति की ओर ले जाने वाले आरोहण-क्रम का निरूपण मिलेगा क्योंकि यहाँ अवरोहण की परिपुष्ट बन्धन-दशा का जीव मनु मुक्ति-पथ के आरोहण-क्रम से आत्म-स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा तक पहुँचा है। दूसरे शब्दों में, जीवदशा की भेदभूमिका से मुक्ति-पथ पर आरोहण करते हुए भेदाभेदभूमिका को पार कर वह (मनु) शिवपद की अभेदभूमिका पर आरूढ़ हुआ है। अतएव द्वितीय खण्ड में कामायनी के दार्शनिक स्वरूप के निरूपण में सर्वत्र यही आरोहण-क्रम मिलेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस शोध-प्रबन्ध के प्रथम खण्ड और द्वितीय खण्ड में निरूपित सिद्धान्तों में शैव-शास्त्रोचित क्रम और सङ्गति विद्यमान है।

छठा अध्याय

इस प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड से प्रारम्भ होने वाले छठे अध्याय में मनु परिपुष्ट बन्धन की दशा (पाशवावस्था) में पड़ा हुआ एक जीवमात्र है। मायीय सृष्टि में जीव में विद्यमान रहने वाली सभी परिमितताओं से आक्रान्त होकर वह यहाँ भव-पथ का पथिक बना हुआ निरन्तर क्लेश सह रहा है। इड़ा भी मायीय जगत् का एक जीव ही है, किन्तु वह मनु से थोड़ी उन्नत दशा का जीव है।

सातवाँ अध्याय

आगे के सातवें अध्याय में मनु को उसके परिपुष्ट जीवभाव अर्थात् उसकी पाशव अवस्था के दुःखों से मुक्त करने के लिए श्रद्धा उसे शैवदर्शन का अद्वैत उपदेश देती है। शैवदर्शन का उक्त अद्वैतोपदेश देने के लिए जिस सच्चे आत्मज्ञानी अधिकारी गुरु की आवश्यकता होती है उसकी पूर्ति श्रद्धा से बढ़ कर और कौन कर सकता है, क्योंकि वह साक्षात् शिव की अनुग्रहशक्ति है जो लोकानुग्रह के लिए संसृति में आई है।

आठवाँ अध्याय

सातवें अध्याय के उक्त अद्वैत शैवदर्शन के उपदेश के पश्चात् आठवें अध्याय में जीवात्मा मनु पर गुरुरूपा श्रद्धा के अनुग्रह-निपात (शक्तिपात) से जीव मनु में सांसारिक भोगों के प्रति वैरस्य और गुरुरूपा श्रद्धा के प्रति भक्ति

का उदय होता है। जीवात्मा मनु में भक्ति का उन्मेष होने पर उसकी दीक्षा होती है, क्योंकि शैवशास्त्र के अनुसार भक्त जीव ही दीक्षा के अधिकारी होते हैं। दीक्षा के अनन्तर श्रद्धा अपने तीव्र अनुग्रहनिपात से जीवात्मा मनु को कामायनी के 'दर्शन' सर्ग में परतत्त्व का प्रथम दर्शन कराकर शिवत्व-लाभ के प्रति उसमें तीव्र उत्कण्ठा जगाती है। इसका कारण यह है कि तीव्र उत्कण्ठा के बिना परतत्त्व की रहस्यात्मक साधना के प्रति जीव में सहसा प्रवृत्ति नहीं होती।

नवाँ अध्याय

नवें अध्याय में दीक्षित मनु गुरुरूपा श्रद्धा के प्रत्यय अर्थात् पर-प्रत्यय से दृष्ट परतत्त्व में उक्त तीव्र उत्कण्ठा के कारण स्व-प्रत्यय से भावना-दृढ़ता के लिए रहस्यात्मक साधना में प्रवृत्त होता है, क्योंकि परतत्त्व में स्व-प्रत्ययजनित भावना-दृढ़ता के बिना जीवन्मुक्ति नहीं होती। परतत्त्व की रहस्यात्मक साधना में आत्मज्ञानी गुरु का मार्ग-दर्शन अनिवार्य होता है। 'रहस्य' सर्ग में जीवात्मा मनु के साथ श्रद्धा की उपस्थिति इसी अनिवार्यता की पूर्ति करती है।

दसवाँ अध्याय

रहस्यात्मक उपायों की साधना से अनुपाय समावेश तक पहुँचे हुए मनु को दसवें अध्याय में गुरुरूपा श्रद्धा के वचनमात्र से ही आत्म-स्वरूप की पूर्ण प्रत्यभिज्ञा हो जाती है और इस प्रकार प्रत्यभिज्ञारूपेण अपने शिव-स्वभाव का विमर्श होते ही मनु की त्रिपुररूपी सूक्ष्मतम भेद-कल्पना भी पूर्णतया ध्वस्त हो जाती है। मनु की आत्म-प्रत्यभिज्ञा से ही त्रिपुर का क्षय हुआ है, न कि त्रिपुरक्षय से आत्म-प्रत्यभिज्ञा, इसे सप्रमाण त्रिपुरक्षय के प्रसंग में प्रकट किया गया है। मनु की उक्त आत्म-प्रत्यभिज्ञा उसकी पूर्णात्मिका जीवन्मुक्ति है अर्थात् आत्म-स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा से वह यहाँ जीवन्मुक्त हो जाता है।

ग्यारहवाँ अध्याय

पूर्णात्मिका जीवन्मुक्ति से कृतकृत्य होने पर जीवन्मुक्त के शेष जीवन का जो कर्तव्य कर्म है उसका निरूपण ग्यारहवें अध्याय में किया गया है। लोकानुग्रह ही जीवन्मुक्त की शेषवृत्ति होती है, क्योंकि स्वात्म-पूर्णतावश निराशंस हुए जीवन्मुक्त का अपने लिए (स्व-अर्थ) तो कुछ कर्तव्य शेष रहता नहीं। अतएव लोकानुग्रह ही जीवन्मुक्त मनु के शेष जीवन का कर्तव्य (वृत्ति) रह जाता है। मनु-पुत्र 'मानव' और इड़ा के साथ सारस्वत प्रदेश-निवासी जीवन्मुक्त (शिवरूप) ऋषि मनु के पावन तपोवन में पहुँच कर जब इड़ा-मुख

से भव-ताप-मुक्ति की आकांक्षा प्रकट करते हैं तब आत्मज्ञानी मनु शैवशास्त्र के अद्वैतोपदेश के साथ उन्हें आत्म-स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराकर जीवन्मुक्त कर देता है। जीवों को उनके जन्म-जन्मान्तर के दुःखों से मुक्त कर 'स्वरूप-विमर्श' का आनन्द-लाभ करा देने से बढ़कर जीवन्मुक्त मनु के लोकानुग्रह का और क्या प्रमाण होगा? आत्म-स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हो जाने पर सब समरसता-विमर्श के आनन्दपद में संलीन हो जाते हैं।

अन्त में 'उपसंहार' के अन्तर्गत कामायनी के दार्शनिक अध्ययन के संपूर्ण निष्कर्षों की संहति प्रस्तुत करते हुए विश्व-मानव के लिए कामायनी के इस संदेश को स्पष्ट किया गया है कि जीवन का पुरुषार्थ (आनन्द) अभ्युदय और निःश्रेयस में से किसी एक की ही साधना में न होकर दोनों की समन्वित साधना में है।

शोध-प्रबन्ध के उपर्युक्त संहत निष्कर्षों से यह सहज ही सिद्ध हो सकेगा कि कामायनी का दर्शन काश्मीर शैवदर्शन की पीठिका पर प्रतिष्ठित है और मैंने उसको कामायनी के कवि के द्वारा गृहीत उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

मेरे इस ग्रन्थ की मान्यता की दृष्टि से यह भी कम महत्त्वपूर्ण सूचना नहीं होगी कि इसके प्रकाशन के पूर्व ही एकाध विद्वान् ने 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी जैसी संस्था की पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख में इस ग्रन्थ के या मेरे नामोल्लेख के बिना ही पाण्डुलिपि से इसकी सामग्री का उपयोग कर लिया है।

विषय-विवेचन के समर्थन में काश्मीर शैवदर्शन के जिन प्रमाणों का उल्लेख हुआ है उनको मैंने मूलरूप में ही अपने शोध-प्रबन्ध की पाद-टिप्पणियों में उद्धृत कर दिया है, क्योंकि उनमें से कुछ तो प्रकाशित नहीं हैं और कुछ कश्मीर को छोड़ कर अन्यत्र सहज उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी अवस्था में केवल प्रकरणसंख्या अथवा पृष्ठसंख्या ही लिख देना मुझे उचित प्रतीत नहीं हुआ। जहाँ मूल उद्धरणों का एक से अधिक बार प्रसंग देना पड़ा है वहाँ उन्हें दुबारा मूलतः उद्धृत न करके केवल अध्याय-संख्या, श्लोक-संख्या अथवा पृष्ठसंख्या ही दी गई है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित है। अतएव विषय-विवेचन के अनुरोध से इसमें काश्मीर शैवदर्शन के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी अनिवार्य हो गया है, क्योंकि प्रथम तो दर्शनशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों को हटा देने पर अर्थ की गम्भीरता समाप्त हो जाती है तथा लेखकों के विचारों का सम्यक् सम्प्रेषण नहीं हो पाता और दूसरे, पारिभाषिक शब्दों के

स्थानापन्न शब्दों के प्रयोग से वाक्य भी जटिल हो जाते हैं। ऐसी दशा में विवश होकर प्रस्तुत प्रबन्ध में काश्मीर शैवदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली ज्यों की त्यों ग्रहण कर ली गई है और पाठकों की सुविधा के लिए ऐसी पारिभाषिक शब्दावली को प्रबन्ध के अन्तर्गत ही यथास्थान स्पष्ट कर दिया गया है।

कतिपय शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी आजकल हिन्दी में संस्कृत से भिन्नता देखने में आती है। हिन्दी में आजकल बहिर्रूपता, अन्तर्रूपता, बहिर्साक्ष्य, अन्तर्साक्ष्य जैसे शब्द चल पड़े हैं, किन्तु व्याकरण के अनुरोधवश मैंने उन्हें ऐसे रूप में ग्रहण न कर शुद्ध संस्कृत रूप में ही ग्रहण किया है, जैसे बहीरूपता, अन्तारूपता, बहिस्साक्ष्य, अन्तस्साक्ष्य, सज्ज्ञान आदि, क्योंकि शास्त्रीय विवेचन के बीच में मुझे ये ही शब्द उपयुक्त प्रतीत हुए हैं।

यहाँ मैं उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ जिनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन और सहयोग से मैं अपने इस शोध-कार्य में लाभान्वित हुआ हूँ। सबसे पहले मैं अपने श्रद्धास्पद गुरु पं० मोहनवल्लभ जी पंत, भूतपूर्व आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, सरदार वल्लभभाई विद्यापीठ, वल्लभविद्यानगर (गुजरात), का सविनय अभिवन्दन करता हूँ जिनके सतत प्रेरणाशील एवं विद्वत्तापूर्ण निर्देशन में रह कर मैंने अपना प्रस्तुत शोध-कार्य पूरा किया है।

काश्मीर शैवदर्शन के विशेषज्ञ एवं उसके परम्परागत पण्डित, कुलगाम-निवासी डा० बलजिन्नाथ जी पण्डित, तत्कालीन अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, गवर्नमेण्ट कालेज, अनन्तनाग और सम्प्रति प्रिन्सिपल, इन्स्टीट्युट आफ कश्मीर शैविज्म, श्रीनगर (कश्मीर), ने कश्मीर के प्रवास-काल में मेरे ठहरने की सुविधापूर्ण व्यवस्था करने, काश्मीर शैवदर्शन के अलभ्यप्रायः ग्रन्थ जुटाने, उक्त दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को समझाने और तत्सम्बन्धी शंकाओं का समाधान करने में मेरी जो अमित सहायता की है, उसके लिए मैं उनके प्रति श्रद्धापूर्वक आभार प्रकट करता हूँ।

पूज्य गुरुवर डा० ब्रह्मानन्द जी शर्मा, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग गवर्नमेण्ट कालेज, अजमेर, से तो मुझे विविध रूपों में सहयोग मिला है। उन्होंने अतीव व्यस्त रहते हुए भी प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की पाण्डुलिपि देखने एवं बहुमूल्य सत्परामर्शों से मुझे लाभान्वित करने में अनुग्रह दिखाया है, इसके लिए मैं उनके प्रति श्रद्धातिशय से नमित हूँ।

इनके अतिरिक्त पूज्य पं० नरोत्तमदास जी स्वामी, श्रद्धेय महामहिम श्रीमद्-अमृतवाग्भव जी महाराज, डा० रामानन्द जी तिवारी, पं० कैलाशचन्द्र जी मिश्र

से भी मुझे अपने इस शोध-कार्य में प्रेरणात्मक सुझाव मिले हैं। अतः मैं उक्त विद्वानों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ और के० एम० मुन्शी इन्स्टीट्यूट आगरा, एस० पी० कालेज, श्रीनगर (कश्मीर), गवर्नमेन्ट कालेज, अनन्तनाग (कश्मीर), रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट, जम्मू एण्ड कश्मीर, श्रीनगर (कश्मीर) के पुस्तकालयों तथा कलकत्ता की नेशनल लाइब्रेरी के अधिकारियों का आभार मानता हूँ, जिन्होंने अपने पुस्तकालयों में सुरक्षित उपयोगी सामग्री को देखने की अनुमति एवं सुविधा प्रदान कर मेरे शोध-कार्य में सहयोग दिया है। ऐसे सहयोग के प्रसंग में श्री बैकुण्ठनाथ जी चतुर्वेदी, उपनिदेशक, शिक्षा-विभाग, दिल्ली, को भी हार्दिक धन्यवाद देना मैं कैसे भूलूँ ?

अन्त में मैं उन सब विद्वानों के प्रति भी कृतज्ञता-प्रकाशन को अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनके ग्रन्थों से मैंने अपने इस शोध-कार्य में सहायता ली है। इस ग्रन्थ के सुन्दर प्रकाशन का श्रेय चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी के व्यवस्थापक महोदय को है। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

भँवरलाल जोशी

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६७	१६	अन्तःस्वानन्दगोचरा	अन्तःस्वानुभवानन्दगोचरा
८२	१	यथाक्रम से	यथाक्रम
९७	६	परिभाषिक	पारिभाषिक
११५	२६	अभिहत	अभिहित
१४४	१०	की अतिशयिता	के अतिशय
१५८	७	आत्मा की	आत्मा का
१५९	१६	गृहस्थी	गृहस्थ
१९८	२८	निःश्रेयस्	निःश्रेयस
२०१	७	प्रेम-पत्नी	प्रेम-पत्नी
२१९	१९	परमार्श-लाभ	परमार्थ-लाभ
२२१	२०	उनकी	उसकी
२२३	८	निष्यप्रयोजन	निष्प्रयोजन
२२५	२६	भावत्थेन सत्सदृशा	भावत्वेन तत्सदृशा
२२८	२२	शैवी दशा	शैवी दीक्षा
२२९	१३	दन्तर्भूत	तदन्तर्भूत
२२९	१४	परमार्यातः	परमार्थतः
२२९	२५	पदामिका	पदात्मिका
२४६	५	चेतना	चेतन
२४७	२९	प्रतीति	प्रतीत
२४८	६	शव	शिव
२५०	१०	ऋषि का	ऋषिका
२६०	१३	नमित	निर्मित
२६०	१४	स्विप्न	स्वप्न
२६१	३१	मयः	मतः
२६४	२७	च रादिभेदतया	चतुरादिभेदतया (पाद-टिप्पणी)
२७०	३१	करुते	कुरुते (पाद-टिप्पणी)
२८५	७	विसग	विसर्ग
३००	२५	स्मितिमात्र	स्मितमात्र
३०२	७	पारमैश्वर्य	पारमेश्वर्य

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

काश्मीर शैवदर्शन : इतिहास तथा सिद्धान्त

द्वितीय खण्ड

कामायनी : काश्मीर शैवदर्शन के परिवेश में

काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी

प्रथम खण्ड

काश्मीर शैवदर्शन : इतिहास तथा सिद्धान्त

अध्याय १

काश्मीर शैवदर्शन : उद्भव और विकास

शैवागम की इस अद्वैतवादी दार्शनिक विचारधारा का विकास कश्मीर देश में हुआ और शैवदर्शन के इस अद्वैतवाद पर उपलब्ध साहित्य के प्रायः सभी रचयिता कश्मीर के निवासी हैं। अतः कश्मीर के बाहर देश-विशेष के नाम पर इसे काश्मीर शैवदर्शन नाम से अभिहित किया जाता है[1]। माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ सर्वदर्शनसंग्रह में शैवदर्शन शीर्षक से पृथक् प्रत्यभिज्ञादर्शन के नाम से इस दर्शन का परिचय दिया है। प्रत्यभिज्ञादर्शन नामकरण का कारण यह है कि इस दर्शन का विकास 'प्रत्यभिज्ञा' सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। इस दर्शन के सूत्रस्थानीय ग्रन्थ का नाम ईश्वरप्रत्यभिज्ञा है, इस कारण से भी माधवाचार्य ने इसे उक्त नाम से निर्दिष्ट किया है। प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त यह है कि बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति होने पर ज्यों ही गुरुवचनादि से मितप्रमाता को यह प्रत्यभिज्ञान हो जाता है कि 'मैं शिव हूँ' त्यों ही उसे तत्क्षण आत्म-स्वरूप शिवत्व का साक्षात्कार हो जाता है। अतः भारतीय दर्शन-शास्त्र में मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रत्यभिज्ञान का यह 'सुघटमार्ग' अपनी नवीनता एवं विशिष्टता के कारण शैवदर्शनों के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नामकरण

काश्मीर शैवदर्शन के साहित्य में इसे त्रिकमत कहा गया है[2] क्योंकि शिवशासन में सिद्धातन्त्र, नामकतन्त्र तथा मालिनीतन्त्र इन तीनों तन्त्रों को सर्वाधिक प्रधानता दी गई है। ये ही तन्त्र-त्रय इस दर्शन के मुख्य आधार-भूत आगम ग्रन्थ हैं जिनके सहारे त्रिकदर्शन का विकास हुआ है। काश्मीर शैवदर्शन के साहित्य में इस दर्शन को त्रिकमत के अतिरिक्त शिवशास्त्र[3] और शिवशासन[4] भी कहा गया है। दूसरे, यह दर्शन ज्ञान के तीनों पक्षों अर्थात् भेद, भेदाभेद और अभेद की अपने अभेदवाद के प्रकाश में व्याख्या करता है तथा इस मत में पर, अपर और परापर रूप तीन त्रिक माने गये हैं। शिव शक्ति और

---

१. काश्मीर शैविज्म, पृष्ठ १।

२. तच्च (त्रिकशास्त्रं) सिद्धानामकमालिन्याख्यखण्डत्रयात्मकत्वात्त्रिविधम्।
—तंत्रालोक, भाग१, पृष्ठ ४९।

३. स्वच्छन्दतंत्र, पटल १।१५। ४. तंत्रालोक, आ० १।१३।

उनका संघट्ट 'परत्रिक' कहलाता है। 'अपरत्रिक' के अन्तर्गत शिव शक्ति और नर हैं और 'परापरत्रिक' में परा, परापरा और अपरा देवी-त्रय अधिष्ठात्रियां हैं। इन तीनों त्रिकों के आधार पर प्रतिष्ठित होने के कारण भी यह त्रिकमत कहलाता है[1]। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द और जयरथ ने मत के स्थान पर दर्शन का प्रयोग कर स्पष्टतया इसे 'त्रिक-दर्शन' संज्ञा से अभिहित किया है।[2]

शैवाचार्य सोमानन्द ने जहाँ जहाँ अन्य दर्शनों से इस दर्शन का तुलनात्मक विवेचन किया है वहाँ वहाँ सर्वत्र इस दर्शन को 'शैवे' ऐसा लिखकर इसे शैव-दर्शन नाम से निर्दिष्ट किया है। आचार्य उत्पलदेव ने शिवदृष्टि की अपनी वृत्ति में इस दर्शन को 'ईश्वराद्वयवाद' संज्ञा दी है[3] क्योंकि एकमात्र परमेश्वर ही अपने स्वातंत्र्य-स्वभाव से इस नानाप्रपञ्चसमन्वित विश्व का स्वात्म-अभिन्न रूप में उन्मीलन और निमीलन करता है और ऐसा करना ही उसका ईश्वरत्व है। अतएव उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। सामरस्य भाव से ऐसे सर्व-ग्रहणमूलक ईश्वर का जिस दर्शन-विधा में प्रतिपादन किया गया है उसे ईश्वराद्वयवाद कहना ही युक्तियुक्त है। इसी कारण ईश्वराद्वय-दर्शन में दर्पणनगरन्याय से एकत्व के साथ अनेकत्व भी असंगतिजनक नहीं। शिव ही परम ईश्वर है। अतः आचार्य क्षेमराज ने अपने स्पन्दसंदोह ग्रन्थ में इस दर्शन को 'शिवाद्वय-दर्शन' नाम दिया है[4]।

त्रिक-दर्शन को षडर्धशास्त्र[5] एवं षडर्धक्रमविज्ञान[6] भी कहा गया है क्योंकि इस दर्शन के अनुसार संस्कृत-लिपि की वर्णमाला प्रकाशरूप परमशिव में

---

१. (क) शिवशक्तिसंघट्टात्मकं परत्रिकशब्दवाच्यम्।
—तंत्रालोक भाग १, पृष्ठ ७।
(ख) इदानीमपरमपि त्रिकं परामृष्टुमाह।—वही, पृष्ठ २०।
(ग) नरशक्तिशिवात्मकं त्रिकम्।
—परात्रिंशिकाविवरण, प्रारंभिक श्लोक ३।
(घ) तदेवं परं त्रिकं परामृश्य परापरमपि परामृष्टुमुपक्रममाणः प्रथमं तावत् परां देवीं परामृशति।
—तंत्रालोकविवेक भाग १, पृष्ठ १६।

२. (क) महार्थमंजरी परिमलावृत्ति, पृष्ठ ९६।
(ख) तंत्रालोकविवेक भाग १, पृष्ठ ३५।

३. शिवदृष्टिवृत्ति आ० २, पृष्ठ ३६।

४. स्पन्दसंदोह, पृष्ठ १०। ५. तन्त्रसार, पृष्ठ ९२।

६. तन्त्रालोकविवेक भाग १, पृष्ठ २८।

अभेदभाव से रहने वाले विमर्शतत्त्व के उदय-क्रम का द्योतन करती है और इस प्रकार लिपि के प्रथम छह स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ—उसी उन्मेष-क्रम का प्रतिनिधित्व करते हैं जिस क्रम से अनुत्तर, आनन्द, इच्छा, ईशना, उन्मेष और ऊर्मि शक्तियों का परमसत्ता से उल्लासन होता है। इनमें से इच्छाशक्ति और उन्मेषशक्ति अपने अपने भोग्यों के साथ संयुक्त होने से क्रमशः ईशना और ऊर्मि रूप धारण करती हैं और आनन्दशक्ति अनुत्तर एवं आनन्द का संघट्ट है। अतएव आनन्दशक्ति, ईशानाशक्ति और ऊर्मिशक्ति क्रमशः अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष पर आधारित होने के कारण इन उत्तरवर्ती शक्ति-त्रय की ही किंचित् विकासोन्मुख अवस्थाएँ हैं, अतः इनसे अभिन्न ही हैं। इसलिए ह्रस्व-त्रय अर्थात् अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष ही प्रधान हैं, जो क्रमशः चित्, इच्छा और ज्ञान कहलाते हैं।[1] इसी विचार से उक्त नामों से इसे अभिहित किया गया है। काश्मीर शैवदर्शन का यह परामर्श-क्रम-विज्ञान महर्षि पाणिनि से प्रभावित प्रतीत होता है क्योंकि पाणिनि ने भी अपने माहेश्वरसूत्रों में प्रधानता और प्राथमिकता के विचार से अ, इ और उ को ही आद्यसूत्र में ग्रथित किया है[2]।

इस दर्शन के अनुसार परमेश्वर अपनी स्पन्दरूपा शक्ति से सदैव अवियुक्त रहता है। स्पन्दरूपा शक्ति ही उसका नित्यस्वभाव है। अतएव स्पन्दकारिका की अपनी निर्णयवृत्ति में आचार्यक्षेमराज ने 'स्पन्दशास्त्र' संज्ञा से भी इस दर्शन का उल्लेख किया है[3]। किन्तु आचार्य उत्पलदेव ने स्पन्द शब्द का व्यापक अर्थ न लेकर केवल स्पन्दकारिकाओं के लिए ही 'स्पन्दशास्त्र' का प्रयोग किया है[4]।

शिवसूत्रविमर्शिनी में रहस्यात्मक साधना के कारण इस अभेदवादी दार्शनिक सम्प्रदाय को रहस्य सम्प्रदाय कहा गया है[5]। त्रिक-शास्त्र में परमशिव की स्वातंत्र्य-शक्ति अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रतिष्ठित है और इस स्वातंत्र्यशक्ति से जिस विमर्शात्मक शिवस्वभाव की व्यंजना होती है वह काश्मीर शिवाद्वयवाद की ऐसी विशिष्टता है जो अन्य भारतीय दर्शन-संप्रदायों में स्फुटता से उपलब्ध नहीं होती। प्रकाश-विमर्शात्मक संवित्स्वभाव भगवान् परमशिव अपने स्वातंत्र्य-स्वभाव के कारण स्वपरिगृहीतसंकोच से प्रमातृ-प्रमेयरूप में सर्वाभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् अवभासित

---

१. तंत्रालोकविवेक भाग २, पृष्ठ १८६। २. अष्टाध्यायी प्रारम्भ—अइउण्
३. स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ३। ४. यथोक्तं स्पन्दशास्त्रे।
—शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ ३।
५. जीवलोके रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदि।—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृष्ठ १।

होकर भी स्वरूपच्युत नहीं होता और अपने संविद्रूप स्वातंत्र्य से स्वयं ही प्रकाशित होता रहता है। अतः इस दर्शन को स्वातंत्र्यवाद की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है[1]।

इतिहास

वेदों के समान शैवागमों का उद्भव भी शैव अनादिकाल से ही मानते हैं। उनका विश्वास है कि शैवागमों के उद्भव जैसी कोई तिथि नहीं है क्योंकि वे स्वयं भगवान् शिवद्वारा रचित हैं। काल क्रम से केवल उनके लोक-प्रकाशन का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। कश्मीर के शैवाचार्य सोमानन्द ने शिवदृष्टि के सातवें आह्निक में शैवशास्त्रों के आविर्भाव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कलियुग का प्रारम्भ होने पर शिवशासन के व्याख्याता ऋषिगण सामान्यजनों की पहुँच के परे कलापि ग्राम आदि दुर्गम पार्वत्य स्थानों पर चले गये। उपदेष्टृजनों की परम्परा के इस प्रकार तिरोहित हो जाने पर लोक में शैवशास्त्रों का प्रचार व्युच्छिन्न हो गया और अज्ञानान्धकार में भटक कर लोग दुःखी होने लगे। संसृति-सागर में निमग्न जीवों के प्रति अपार करुणा से प्रेरित होने के कारण भूतल पर श्रीकण्ठनाथ के रूप में अवतीर्ण भगवान् शिव ने कैलास पर्वत पर विहार करते हुए रहस्यशास्त्र के पुनः प्रचार के लिए दुर्वासा मुनीश्वर को आदेश दिया। भगवान् शिव से आदेश पाकर महामुनि श्रीदुर्वासा ने त्र्यम्बकादित्य नामक मानस पुत्र (शिष्य) को उत्पन्न किया और शैवागम का समस्त रहस्य उसमें संक्रमित करके उसे अद्वैत शैवागम के प्रचार के लिए नियुक्त किया। इस प्रकार अद्वैत शैवागम का प्रादुर्भाव हुआ[2]। आगे चल कर यह अपने प्रथम प्रवर्तक त्र्यम्बक के नाम पर 'त्र्यम्बकशास्त्र' के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ[3]। त्र्यम्बकादित्य की परम्परा में सोलहवां शिष्य संगमादित्य घूमते घूमते कश्मीर गया और वहीं बस गया[4]। उसके पुत्र पौत्रादि के द्वारा और शिष्य-परम्परा के द्वारा आगे इस शास्त्र का परिपूर्ण विकास कश्मीर देश में ही हुआ।

उद्भव

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भाग १, पृष्ठ ९।

२. शिवदृष्टि आ० ७।१०७–१२१।

३. एवमेषां त्र्यम्बकाख्या तेरम्बा देशभाषया।
स्थिता शिष्यप्रशिष्याद्यैर्विस्तीर्णा मठिकोदिता।
—वही, आ० ७।१२१–१२२।

४. वही, आ० ७।११४–११९।

अन्य स्ववर्गीय सम्प्रदायों से अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय में अपनी अतिप्राचीनता दिखाने की एक परम्परागत प्रवृत्ति होती है। उसी परम्परा-पोषित विश्वास के कारण शैव आचार्यों ने भी काश्मीर शैवागम के प्रादुर्भाव को कलियुग के प्रारम्भ के उल्लेख द्वारा अत्यन्त प्राचीन बताने की चेष्टा की है। किन्तु इस परम्परागत विवरण में थोड़ी-बहुत ऐतिह्यस्पर्श की गवेषणा भी की जा सकती है। शिवदृष्टि में आचार्य सोमानन्द ने अपने आपको त्र्यम्बकादित्य की बीसवीं पीढ़ी में बताया है। अतएव आचार्य सोमानन्द के काल से काश्मीर शैवागम के उद्भव का कालनिर्णय किया जा सकता है। डा० पाण्डेयजी ने सोमानन्द को त्र्यम्बकादित्य का उन्नीसवाँ वंशज लिखा है[1]। किन्तु उनका यह मत अनुचित है क्योंकि शिवदृष्टि में सोमानन्द ने स्पष्टतः लिखा है कि वह त्र्यम्बकादित्य का बीसवाँ वंशज था[2] क्योंकि उसके पन्द्रहवें पूर्वज ने ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था और उससे उत्पन्न सोलहवाँ पूर्वपुरुष संगमादित्य कश्मीर में आकर बसा था। संगमादित्य के बाद वर्षादित्य, अरुणादित्य और आनन्द की तीन पीढ़ियाँ और बीतने पर बीसवीं पीढ़ी में सोमानन्द उत्पन्न हुआ था। इस

---

१. अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासोफिकल स्टेडी, पृष्ठ ७३।

२. सिद्धस्तद्वत्सुतोत्पत्त्या सिद्धा एवं चतुर्दश।
यावत्पंचदशः[१५] पुत्रः सर्वशास्त्रविशारदः ॥
स कदाचिल्लोकयात्रामासीनः प्रेक्षते ततः।
बहिर्मुखस्य तस्याथ ब्राह्मणी काचिदेव हि ॥
रूपयौवनसौभाग्यबन्धुरा सा गता दृशम्।
दृष्ट्वा तां लक्षणैर्युक्तां योग्यां कन्यामथात्मनः ॥
सधर्मचारिणीं सम्यग्गत्वा तत्पितरं स्वयम्।
अर्थयित्वा ब्राह्मणीं तामानयामास यत्नतः ॥
ब्राह्मणेन विवाहेन ततो जातस्तथाविधः।
तेन यः स च कालेन कश्मीरेष्वागतो भ्रमन् ॥
नाम्ना स [१६]संगमादित्यो [१७]वर्षादित्योऽपि तत्सुतः।
तस्याप्यभूत् स [१८]भगवानरुणादित्यसंज्ञकः ॥
[१९]आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुद्बभूव तथाविधः।
तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य[२०] ईदृशः ॥
—शिवदृष्टि, आ० ७।११४-१२०।

प्रकार सोमानन्द त्र्यम्बकादित्य का उन्नीसवाँ वंशज न होकर बीसवाँ वंशज था।

भगवद्गीता-विवरण के अन्त में स्पन्दकारिका के विवृतिकार राजानक रामकण्ठ ने अपने आपको मुक्ताकण का अनुज बताया है—

यो नारायण इत्यभूच्छ्रुतनिधिः श्रीकान्यकुब्जे द्विज-
स्तद्वंशे स्वगुणप्रकर्षखचितो मुक्ताकणाख्योऽभवत्।
तस्यैषा सदृशानुजेन रचिता रामेण विद्वज्जन-
श्लाघ्यत्वात्सफलश्रमेण भगवद्गीतापदार्थप्रथा॥[१]

राजतरंगिणी से यह भी ज्ञात होता है कि मुक्ताकण कश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) का समकालीन था[२]। तदनुसार रामकण्ठ भी अवन्तिवर्मा का समसामयिक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त स्पन्दविवृति में रामकण्ठ ने अपने आपको आचार्य उत्पलदेव का शिष्य बताया है[३] और उसी ग्रन्थ के उपसंहार वाक्य में स्पष्टतः कहा है—

कृतिस्तत्रभवतो महामाहेश्वराचार्य-शिरोमणिराजानकश्रीमदुत्पलदेवपादपद्मानुजीविनो राजानकश्रीरामकण्ठस्य[४]।

उत्पलदेव आचार्य सोमानन्द के शिष्य थे[५]।

अब यदि हम परम्परागत रीति से प्रत्येक पीढ़ी के लिये पच्चीस वर्षों की अवधि मान लें तो इस प्रकार रामकण्ठ के प्रगुरु आचार्य सोमानन्द का आविर्भाव आठवीं शती ईस्वी की समाप्ति के आसपास हुआ होगा और सोमानन्द का चतुर्थ पूर्वपुरुष संगमादित्य उससे सौ वर्ष पूर्व कश्मीर में बस गया

---

१. भगवद्गीताविवरण, पृ० ४०५।

२. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥
—राजतरंगिणी ५।३४।

३. सद्विद्यासरसीविभूषणवरस्फारोत्पलोच्चाशय-
प्रोत्सर्पत्परिपक्वबोधमधुपेनेदं मयागायि यत्।
रामेणानुपमप्रमोदमधुरं बद्धावधानस्यत-
च्छ्रोतुः कस्य न चेतनस्य तनुते विश्रान्तिमन्तः पराम्॥
—स्पन्दविवृति, श्लोक २, पृष्ठ १६७।

४. स्पन्दविवृति, पृष्ठ १६८।

५. (क) शिवदृष्टि, पृष्ठ २।
(ख) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, पृष्ठ २७१।

होगा। संगमादित्य का सोलहवाँ पूर्वज त्र्यम्बकादित्य इस प्रकार उससे चार सौ वर्ष पूर्व हुआ होगा। इस तरह यह कहा जा सकता है कि त्र्यम्बकादित्य के लगभग पाँच सौ वर्षों के पश्चात् सोमानन्द उत्पन्न हुआ होगा। एतदनुसार श्रीसोमानन्द के बीसवें पूर्वपुरुष त्र्यम्बकादित्य को महामुनि दुर्वासा से शैवशास्त्र की प्राप्ति लगभग तीसरी शती ईस्वी के बाद किसी समय हुई होगी।

चतुर्थ शती ईस्वी के प्रारम्भ से लेकर सोमानन्द के आविर्भाव-काल अर्थात् आठवीं शताब्दी की समाप्ति तक काश्मीर शैव-सम्प्रदाय का क्या स्वरूप रहा, इस सम्बन्ध में उपयुक्त प्रमाणों के अभाव में इस समय कुछ नहीं कहा जा सकता। तंत्रालोक से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि (कन्नौजनरेश यशोवर्मन् पर अपनी विजय के उपरान्त) कश्मीर-नृपति ललितादित्य (७३५-७६१ ई०) आचार्य अभिनवगुप्त के पूर्वपुरुष अत्रिगुप्त की विद्वत्ता से अत्यधिक प्रभावित होकर उसे अपने राज्य कश्मीर में ले आया था[1]। इससे यह भी संकेत मिलता है कि उस समय कश्मीर का राजपरिवार शैवधर्म का अनुयायी था अथवा उसके प्रति श्रद्धालु था और कश्मीर में तांत्रिक शैवमत के विकास के अनुकूल वातावरण भी था। श्री सोमानन्द के चतुर्थ पूर्वपुरुष संगमादित्य का घूमते हुए सातवीं ईस्वी की समाप्ति के लगभग कश्मीर में जा पहुँचना और वहीं बस जाना भी इसी बात का प्रमाण है कि उस समय तांत्रिक शैवधर्म को राज्य की ओर से संरक्षण प्राप्त था। इन दोनों (अत्रिगुप्त और संगमादित्य के) प्रवासी ब्राह्मण-परिवारों के कश्मीर में आगमन से पूर्व कश्मीर का जनसामान्य जिस धर्म का पालन कर रहा था, उसका स्वरूप शास्त्रानुमोदित निश्चित न होकर शैवधर्म और बौद्धधर्म-सम्बन्धी सामान्य विश्वासों का एक मिश्रित रूप था[2]। अतएव संभव है, जनप्रचलित शैवधर्म को शास्त्रों का आधार देकर दृढमूल करने के लिए कश्मीरस्थ शैव-मतावलम्बी दोनों प्रवासी परिवार धार्मिक-साहित्य की रचना प्रारम्भ करके श्री सोमानन्द और वसुगुप्त के आविर्भाव तक—अपने लगभग सौ वर्षों के प्रभाव-काल में—जनरुचि को अपने सिद्धान्तों के

---

१. कोप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः।
तमथ ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत्
प्रणयरभसात् कश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम्॥

—तंत्रालोक, आ० ३७।३८-३९।

२. अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी, पृष्ठ ८७।

उपदेशों अथवा शास्त्रार्थों से काफी प्रभावित कर चुके होंगे। अतः यह कहा जा सकता है कि काश्मीर शैवागम के उपलब्ध मुख्य आगमों का निर्माण लगभग ७०० ई० और ८०० ईस्वी के मध्य में हुआ होगा और तदुपरान्त उस आगम-साहित्य के सिद्धान्तों के आधार पर श्री सोमानन्द ने अपने शिवदृष्टि प्रकरण से काश्मीर शैवागम के दार्शनिकपक्ष का प्रवर्तन किया होगा। दर्शन-शास्त्र की शैली में अपेक्षित परपक्ष का खण्डन और तर्कों के आधार पर स्वपक्ष का मण्डन काश्मीर शैव-साहित्य में आचार्य सोमानन्द से पहले दृष्टिगत नहीं होता[1]। इसीलिए तंत्रालोक में 'तर्को योगांगमुत्तमम्' कहकर आचार्य सोमानन्द को तर्क का कर्ता कहा गया है[2]। अतएव काश्मीर शैवदर्शन का आविर्भाव-काल सोमानन्द के काल अर्थात् ८०० ईस्वी लगभग से ही मानना तर्कसम्मत है।

डा० पाण्डेयजी सोमानन्द का काल ८५० ईस्वी मानकर प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रारम्भ ८५० ई० से मानते हैं[3]। किन्तु हमारे मत में रामकण्ठ के काल के विचार से आचार्य सोमानन्द का काल ८०० ई० के आस पास ही मानना उचित है क्योंकि अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के समसामयिक मुक्ताकण का कनिष्ठ भ्राता होने के कारण रामकण्ठ का काल ८५५ ई० न मानकर यदि ५-१० वर्ष पीछे भी मान लें तो भी उससे दो पीढ़ी पूर्व होने वाले सोमानन्द को सामान्यतः ८०० ई० से बहुत पीछे रखना तर्कानुकूल नहीं लगता। अतः प्रत्यभिज्ञादर्शन (काश्मीर शैवदर्शन) का प्रारम्भ लगभग ८०० ई० से मानना ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

---

१. तेषां (सोमानन्दपादानां) हि ईदृशी शैली—

स्वपक्षान्परपक्षांश्च निःशेषेण न वेद यः।
स्वयं स संशयाम्भोधौ निमज्जंस्तारयेत्कथम्॥

—परात्रिंशिकाविवरण, पृष्ठ ११७।

२. परमोपादेयस्वप्रकाशस्वात्मेश्वरप्रत्यभिज्ञापनपरस्य तर्कस्य कर्तारो व्याख्यातारश्च (सम्मानार्थं बहुवचनं) परं नमस्कर्तव्याः इति परामृष्टुमाह—

श्रीसोमानन्दबोधश्रीमदुत्पलविनिःसृताः।
जयन्ति संविदामोदसन्दर्भा दिक्प्रसर्पिणः॥

—तंत्रालोक, भाग १, पृष्ठ ३०।

३. भास्करी भाग २, भूमिका पृष्ठ ३।

साहित्य

रचनाकाल तथा सिद्धान्त-प्रतिपादन की शैली के विकास के विचार से काश्मीर शैवदर्शन के आधारभूत उपलब्ध साहित्य को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—आगमशास्त्र, स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। रचना-काल के विचार से काश्मीर शैवदर्शन में आगम-शास्त्र का पहला स्थान है।

आगम शास्त्र

स्वयं भगवान् शिव आगमों के स्रष्टा और वक्ता कहे जाते हैं[1]। शैवागमों में उल्लेख है कि लोकानुग्रह के लिए श्रीकण्ठमूर्ति भगवान् शिव ने इनका ज्ञान ऋषियों को प्रदान किया था और तदनन्तर शिष्य-प्रशिष्यपरम्परा से आगमों का ज्ञान जगत् में प्रचलित होता रहा[2]। काश्मीर शैवागमों में मालिनीविजयोत्तर तंत्र, स्वच्छन्दतंत्र, विज्ञानभैरव, नेत्रतंत्र, स्वायम्भुव तन्त्र, रुद्रयामल तन्त्र, नैश्वास तंत्र, आनन्दभैरव और उच्छुष्मभैरव मुख्य माने गये हैं[3]। मातंग तंत्र और मृगेन्द्र तन्त्र को भी श्रीचैटर्जी ने कश्मीर के मुख्य आगमों के अन्तर्गत माना है,[4] किन्तु ये स्पष्टतः ही द्वैत शैवमत के प्रतिपादक हैं[5]। अतः मृगेन्द्रतन्त्र तथा मातंगतन्त्र की गणना काश्मीर शैवागम के अन्तर्गत उचित नहीं, क्योंकि काश्मीर शैवागम अद्वैतमूलक है। नैश्वास तन्त्र, आनन्दभैरव और उच्छुष्मभैरव के जहाँ-तहाँ उल्लेख-मात्र मिलते हैं[6]। मूलग्रन्थ अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने लिखा है कि मालिनी की ख्याति के

---

१. विज्ञानभैरव विवृति, पृष्ठ ७। २. शिवदृष्टि आ० ७।१२२।

३. काश्मीर शैविज्म, पृष्ठ ८। ४. वही, पृष्ठ ८।

५. (क) द्वैतशास्त्रे मतंगादौ। —तंत्रालोक आ० १।२२४।

(ख) श्रीमत्कामिकभेदं मृगेन्द्रोत्तरसंज्ञकं पृष्टः।

—मृगेन्द्रतन्त्र पृष्ठ ३।

मृगेन्द्रतन्त्र 'कामिक' का भेद है ओर 'कामिकतंत्र' भेदप्रधान तन्त्रों में माना गया है। देखिए—अभिनवगुप्त : एन हिस्टो० एण्ड फिलो० स्टेडी, पृष्ठ ७६।

६. (क) यदुक्तं श्रीमदुच्छुष्मभैरवे।

—स्वच्छन्दतन्त्र टीका, भाग ५, पृष्ठ ३८२।

(ख) एताश्च श्रीमदानन्दभैरवे। —वही, पृष्ठ ४८४।

(ग) उक्तं च श्रीमदानन्दे कर्मसंश्रित्य भावतः।

—तंत्रालोक आ० १३।३५४।

कारण इस ग्रन्थ का शैवतान्त्रिक सम्प्रदायों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और उन सब में यह सर्वश्रेष्ठ है[1]। यही कारण है कि

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र

इसे मालिनी-विजयोत्तर कहा गया है। वर्ण-विज्ञान के क्रम के विचार से इसके दो नाम प्रसिद्ध हैं— पूर्वमालिनी और उत्तरमालिनी। वर्णों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति और ध्वनि-शास्त्र के विचार से संस्कृत की वर्णमाला के शुद्ध वैज्ञानिक उदय-क्रम का नाम पूर्वमालिनी है। जब वर्णों के स्वाभाविक और वैज्ञानिक उद्भव-क्रम पर ध्यान न देकर स्वरों और व्यंजनों को अक्रमिक एवं अस्त-व्यस्तरूपेण लिया जाता है तब उसे उत्तरमालिनी कहा जाता है। उत्तरमालिनी के वर्णों के क्रम में 'न' आदि में और 'फ' अन्त में होता है। अतः उत्तरमालिनी को 'नादिफान्ता' कहा जाता है। साधकों की देह में मंत्रशक्ति द्वारा दिव्य प्राण संक्रमित करने में मालिनी की सर्वाधिक उपादेयता है। देवी और परमेश के संवाद के रूप में यह तन्त्र ग्रथित है[2] और परम तत्त्व के जिज्ञासु नारदादि ऋषियों को भगवान् स्कन्द ने इस शिवमुखोद्भूत तन्त्र का उपदेश दिया था[3]। यह ग्रन्थ २३ अधिकारों (अध्यायों) में विभक्त है, जिनमें आगम के महत्त्वपूर्ण अंग योग और तत्सम्बन्धी क्रियाओं का प्रतिपादन है। वर्तमान रूप में उपलब्ध मालिनी-विजयोत्तर तन्त्र सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र का उत्तर भाग प्रतीत होता है[4]।

देवी और भैरव के संवाद के रूप में इस तन्त्र की अवतारणा हुई है। यह रुद्रयामलतन्त्र का सार है और सर्वशक्तिप्रभेदों का इसे हृदय कहा गया है[5]।

विज्ञानभैरव

इस तन्त्र में काश्मीर शैवागम के ज्ञान और योगपक्षों का विवेचन है। १६१ छन्दों में ग्रथित इस तन्त्र पर क्षेमराज एवं शिवोपाध्याय की विवृति और भट्ट आनन्द की विज्ञान-कौमुदी टीका है। प्रकाशित ग्रन्थ में पृष्ठ १६ पर क्षेमराजकृत विवृति २३ वें

---

१. श्रीमालिनीविजयोत्तरे इति नादि-फान्ताया मालिन्या विजयेन सर्वोत्कर्षेण उत्तरति सर्वस्रोतोभ्यः प्लवते, सारभूतत्वात्सर्वशास्त्राणाम्। एतदेवाह—

दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः।
तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्॥
—तंत्रालोक भाग १, पृ० ३५।

२. मालिनीविजयोत्तर तन्त्र, अधिकार १।१-१३।

३. वही २३।३९-४३ तथा अधि० १।२-७।

४. शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सिद्धयोगीश्वरीमतम्।
यन्न कस्यचिदाख्यातं मालिनीविजयोत्तरम्॥—मा०.वि० तन्त्र १।१३

५. रुद्रयामलतंत्रस्य सारमद्यावधारितम्।
सर्वशक्तिप्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च॥—विज्ञानभैरव, श्लोक १६२।

छन्द तक ही बताई गई है, किन्तु ग्रन्थ के उपसंहार में २४ वें छन्द 'ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो' तक क्षेमराज की वृत्ति का उल्लेख है।

स्वच्छन्दतन्त्र

स्वच्छन्द तन्त्र को भैरव तन्त्रों (अद्वैत तन्त्रों) में प्रधान कहा गया है।[१] यह शैवदीक्षा का सर्वाधिक प्रामाणिक शास्त्र है। इसका वर्ण्य-विषय उपासना और क्रिया (कर्मकाण्ड) है। स्वच्छन्द नाम ही काश्मीर शैवदर्शन के स्वातन्त्र्यस्वभाव भैरव (शिव) का पर्याय है। अन्य तन्त्रों की भाँति इसका उद्भव भी देवी और भैरव के बीच हुए दार्शनिक संवाद से हुआ है[२]। प्रारम्भिक छन्दों से ज्ञात होता है कि यह तन्त्र मूल स्वच्छन्द तन्त्र का संक्षिप्त रूप है[३]। इसमें १५ पटल (अध्याय) हैं जिनमें तन्त्रोद्धार, अर्चा, अधिवास, दीक्षाभिषेक, तत्त्वादिदीक्षा आदि रहस्यात्मक साधना सम्बन्धी विषयों का सुन्दर विवेचन किया गया है। इस तन्त्र पर आचार्य क्षेमराज की उद्द्योत नाम की टीका है[४]। क्षेमराज से पूर्व अन्य ग्रन्थों के प्रक्षेपों, ग्रन्थविपर्यासों और पाठविपर्यासों से दुर्मेधावियों ने स्वच्छन्द तन्त्र की सैकड़ों शाखाएँ कल्पित करली थीं। क्षेमराज ने इस तन्त्र की पुरातन पुस्तक का अन्वेषण करके यथासम्भव उन अशुद्धियों का निराकरण किया।[५] क्षेमराज ने स्वच्छन्द तन्त्र के अपने पूर्ववर्ती टीकाकार भुल्लक का स्वच्छन्दतंत्र की टीका में अनेकशः उल्लेख किया है और उसकी टीका को द्वैत-व्याख्यापरक होने के कारण त्याज्य बताया है[६]। इस तन्त्र में अनेक पौराणिक आख्यानों का उल्लेख है और उनके वर्णन में भी पौराणिक वर्णन-पद्धति ग्रहण की गई है।

---

१. समुद्धृतभैरवतन्त्रजातमध्ये प्रधानभूतं दिव्यं सर्वभोगापवर्गप्रदं तंत्रं, तत्त्वया गूहनीयं ज्येष्ठाशक्तिपातवतामेव प्रकाश्यं नेतरेषाम्।

—स्वच्छन्द तंत्र, भाग ४, पृष्ठ २६।

२. मुदितं भैरवं दृष्ट्वा देवी वचनमब्रवीत्। —स्वच्छन्द तन्त्र,पटल १।४-७।

३. वही।

४. क्षेमराजो विवृणुते श्रीस्वच्छन्दनयं मनाक्।

—स्वच्छन्द तन्त्र, प्रारम्भ।

५. एवं च प्रायशो ग्रन्थान्तरप्रक्षेपो ग्रन्थविपर्यासः पाठविपर्यासश्च अस्य ग्रन्थस्य दुर्मेधोभिः परिकल्पितः शतशाखो दृश्यते। सोऽस्माभिः पुरातनपुस्तकान्वेषणतो यावद्गति अपसारित इति आस्तामेतत्।

—स्वच्छन्द तन्त्र, भाग ६, पटल १४, पृष्ठ १२०।

६. यत्तु श्रीभुल्लक—इति अपठत्, तदसंगतत्वादुपेक्ष्यमेव।

—स्वच्छन्द तन्त्र, भाग ६, पटल ११, पृष्ठ १३७।

प्रजापति दक्ष, स्वायम्भुव मनु आदि के आख्यानों के साथ इलावृत, पर्वतों, भूभागों, द्वीपों और नदियों का सविस्तार वर्णन मिलता है[1]। ये आख्यान और वर्णन पुराणों के प्राचीन और संक्षिप्त मूल रूपों से लिए गये प्रतीत होते हैं क्योंकि कालान्तर में तो पुराणों पर आगमिक सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ने लगा था। अग्निपुराण का रचना-काल लगभग १० वीं शती ईस्वी का अंतिम चरण माना जाता है[2] और उसमें तान्त्रिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस बात का प्रमाण है कि सोमानन्द और वसुगुप्त से पूर्व रचित स्वच्छन्द तन्त्र में पाये जाने वाले इन आख्यानों के उपजीव्य ग्रन्थ वर्तमान आकार को प्राप्त पुराण नहीं हैं, अपितु प्राचीन संक्षिप्त और मूल पुराण ही हैं। शिवपुराण में शिवसूत्रों और वार्तिकों का उल्लेख भी हमारे उक्त मत का ही समर्थन करेगा[3]।

नेत्रतन्त्र

यह तन्त्र काश्मीर शैवागम के साधना पक्ष की व्याख्या से सम्बन्धित है। भैरवी और भैरव के संवाद के रूप में इस ग्रन्थ की अवतारणा की गई है। भैरवी की जिज्ञासा का समाधान करते हुए प्रथम पटल में भैरव अपने सर्वात्मक अभेद-स्वरूप को प्रकट करता है और शेष पटलों (अध्यायों) में मोक्ष तथा सिद्धिप्रद मन्त्रोद्धार, यजनविधि, भुक्ति-मुक्ति-फलप्रदा दीक्षा, अभिषेकविधि, साधन-विधि, सूक्ष्मध्याननिरूपण, परध्यान-निरूपण आदि साधनात्मक पक्षों का सविस्तार वर्णन है। क्षेमराज के अनुसार स्वच्छन्द तन्त्र की भाँति यह तन्त्र भी पहले द्वैतव्याख्यापरक था। उस भेदव्याख्या को दूर करने के लिए तथा इसके अद्वैतमूलक रहस्योद्घाटन के लिए ही क्षेमराज ने अद्वैतामृत से स्फीत उद्द्योत वृत्ति का प्रणयन किया था[4]। यह तन्त्र अद्वैत तन्त्रों के साथ द्वैत और द्वैताद्वैत तन्त्रों को भी सिद्धि देने वाला बताता है।[5] साधक को मुक्ति तक ले जाने (नयते) और महान्

---

१. स्वच्छन्द तन्त्र, भाग ५ अ, पृष्ठ ७८, ७९, ११४, १२१।

२. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय अध्ययन, भूमिका, पृष्ठ १५।

३. शिवमहापुराण (हिन्दी) षष्ठी कैलाशसंहिता, अध्याय १६, श्लोक ४४–४५।

४. गतानुगतिकप्रोक्तभेदव्याख्यातमोऽपनुत्।
परार्द्वैतामृतस्फीतो नेत्रोद्द्योतोऽयमुत्थितः॥
—नेत्रतन्त्र, भाग २, उपसंहार, पृष्ठ ३४३।

५. वही, अधिकार १६।२३।

भय से उसका त्राण करने के कारण यह तन्त्र 'नेत्रतन्त्र' नाम से अभिहित है।[1]

स्वायम्भुव तन्त्र

अपनी कश्मीर-यात्रा के समय पब्लिकेशन एण्ड रिसर्च डिपार्टमेन्ट, जम्मू व कश्मीर, श्रीनगर के कार्यालय में वहाँ के मुख्य पण्डित रामचन्द्रजी और पं० दीनानाथजी से हुई बातचीत के प्रसंग में उन्होंने लेखक को बताया कि इस बृहदाकार ग्रन्थ की पाण्डुलिपि रिसर्च-विभाग के पास है किन्तु विभागीय कठिनाइयों के कारण अभी इस तंत्र का प्रकाशन स्थगित है।

इस तन्त्र की सम्पूर्ण पाण्डुलिपि अभी तक कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकी है।

रुद्रयामल तन्त्र

विज्ञानभैरव, परात्रिंशिका, भवानीनामसहस्र इत्यादि इसी तन्त्र के खण्ड माने जाते हैं।

कश्मीर के विभिन्न शैवागम ग्रन्थों के रचना-काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना अत्यन्त कठिन है। केवल यह अनुमान किया जा सकता है कि सोमानन्द का चतुर्थ पूर्व-पुरुष संगमादित्य ७०० ई० के आस-पास कश्मीर में आकर बस चुका होगा और अभिनवगुप्त के पूर्व-पुरुष अत्रिगुप्त का कश्मीर में प्रवेश भी आठवीं शती ईस्वी के मध्य तक अवश्य हो गया था। अतः यह मानना असंगत न होगा कि काश्मीर शैवदर्शन के उपलब्ध मुख्य आगमों का निर्माण संभवतः ७०० ई० और ८०० ई० के मध्य हुआ होगा।

शिवसूत्र

शिवसूत्रों के स्रष्टा स्वयं भगवान् शिव माने जाते हैं।[2] वसुगुप्त द्वारा इन शिवसूत्रों की प्राप्ति के सम्बन्ध में कश्मीर के शैवाचार्यों में दो विचार-परम्पराएँ हैं। वसुगुप्त के शिष्य भट्ट कल्लट ने अपने स्पन्दसर्वस्व में इस बात का उल्लेख किया है कि स्वयं भगवान् शिव से स्वप्न में वसुगुप्त को शिवसूत्रों का ज्ञान प्राप्त हुआ था।[3] किन्तु इस परम्परा में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता कि वसुगुप्त को शिवसूत्र महादेवगिरि पर शिला पर उट्टंकित मिले थे, जैसा कि क्षेमराज की शिवसूत्रविमर्शिनी में

---

१. नयते मोक्षभावं तु तारयेन्महतो भयात्।
नयनाच्च तथा त्राणान्नेत्रमित्यभिधीयते॥

—नेत्रतंत्र भाग २, अधिकार २२।१२।

२. शिवः सूत्रमरीरचत्। सूत्रमाह महेश्वरः।

—शिवसूत्रवार्त्तिक (भास्कराचार्य) पृष्ठ ५।

३. कल्लटकृत स्पन्दवृत्ति, उपसंहार पृष्ठ ४०।

उल्लिखित दन्तकथा से ज्ञात होता है।[1] राजानक रामकण्ठ (स्पन्दविवृतिकार), उत्पलवैष्णव (स्पन्दप्रदीपिकाकार) और भास्कर (शिवसूत्रवार्त्तिककार) के अनुसार शिवसूत्र स्वयं भगवान् शिवकृत अवश्य हैं किन्तु वे यह नहीं मानते कि वसुगुप्त को उनका ज्ञान स्वप्न में भगवान् शिव से हुआ था। उनके अनुसार वसुगुप्त को शिवसूत्रों का ज्ञान एक सिद्ध से प्राप्त हुआ था।[2]

भट्ट कल्लट वसुगुप्त का शिष्य था और राजतरंगिणी के अनुसार राजानक रामकण्ठ भट्टकल्लट का समकालीन सिद्ध होता है और उत्पलवैष्णव को भी आचार्य अभिनवगुप्त और क्षेमराज से पूर्व माना जाता है।[3] अतः वसुगुप्त-सम्बन्धी उनके उल्लेखों पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। दूसरे वसुगुप्त का शिष्य कल्लट भी वसुगुप्त के द्वारा शिला पर उट्टंकित शिवसूत्रों की प्राप्ति का कहीं उल्लेख नहीं करता, जैसा शिवसूत्र-विमर्शिनी में है। अतः सम्भव है कि वसुगुप्त की चामत्कारिक सिद्धियों और शिवसूत्रों के शिवकृत माने जाने की चर्चा ने ही कालान्तर में इस प्रकार की दन्तकथा को जन्म दिया हो कि शिवसूत्र वसुगुप्त को शिलोट्टंकित रूप में मिले थे। स्वप्न में वसुगुप्त द्वारा शिवसूत्रों की प्राप्ति के सम्बन्ध में लेखक का निवेदन यह है कि आत्मसाक्षात्कार कर चुकने वाले शैवसिद्ध के लिए स्वप्न में शिव से ज्ञानोपलब्धि विशेष आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि आचार्य सोमानन्द ने भी स्वप्न में महेश्वर से प्राप्त शिव-शासनोपदेश की चर्चा की है[4] और महेश्वरानन्द ने भी इसी प्रकार का उल्लेख किया है।[5] इसके अतिरिक्त आत्म-प्रत्यभिज्ञात शैवयोगी तत्त्वतः शिवस्वरूप ही होता है। अतः उसके शिव-समावेश के क्षणों में या उसके स्वप्न में होने वाली अन्तःप्रेरणा को भगवान् शिव की आज्ञा या उपदेश कहना अनुचित भी नहीं

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी पृष्ठ २–३, तथा स्पन्दनिर्णय पृष्ठ २।

२. (क) स्पन्दविवृति पृष्ठ १६५। (ख) स्पन्दप्रदीपिका, प्रारम्भ। (ग) शिवसूत्रवार्त्तिक पृष्ठ २–३।

३. काश्मीर शैविज्म पृष्ठ १३।

४. इति कथितमशेषं शैवरूपेण विश्वं,जगदुदितमहेशांघ्र्याज्ञया स्वप्नभाजा।
यदधिगमबलेन प्राप्य सम्यग्विकासं, भवति शिवमयात्मा सर्वभावेन सर्वः॥
—शिवदृष्टि आ० ७।१०६।

५. इत्थं प्राकृतसूत्रसप्ततिसमुल्लासैकसन्धायिनीं।
जाग्रत्तल्लक्षणनिर्विशेषस्वप्नावतीर्णां प्रतिज्ञोत्तराम्॥
—महार्थमंजरी, पृष्ठ १९१

है। इस तरह यह कहना निराधार नहीं कि वसुगुप्त को स्वप्न में शिवसूत्रों का प्रातिभ ज्ञान हुआ था।

वसुगुप्त ने मुक्ति के तीन उपाय (साधन) माने हैं—आणव उपाय, शाक्त उपाय और शांभव उपाय। मोक्ष के इस उपाय-त्रय के अनुसार शिवसूत्र तीन प्रकाशों (अध्यायों) में विभाजित हैं। क्षेमराज ने शिवसूत्र-विमर्शिनी में ७७ शिवसूत्रों पर वृत्ति लिखी है और भास्कराचार्य ने अपने शिवसूत्रवार्त्तिक में ७९ सूत्रों का उल्लेख किया है। शिवसूत्रवार्त्तिक के प्रथम प्रकाश का १७ वाँ सूत्र 'स्वपदशक्तिः' और तृतीय प्रकाश का १५ वाँ सूत्र 'विसर्गस्वाभाव्यादबहिः स्थितेस्तत्स्थितिः' अन्य ग्रन्थों में न मिलने के कारण पाठ-भेद प्रकट करते हैं।

शिवसूत्रों की व्याख्या करने वालों में भास्कराचार्य, क्षेमराज और वरदराज के नाम उल्लेखनीय हैं। शिवसूत्रों का रहस्य समझाने के लिए भास्कराचार्य ने ३९० श्लोकों में वार्त्तिक की रचना की थी[1]। उक्त भास्कराचार्य ने अपने आपको कल्लट की परम्परा में छठा बतलाया है[2] और कल्लट का काल अवन्तिवर्मा के काल (८५५ ई०) से विदित होता है। अतः परम्परागत रीति से कल्लट और भास्कराचार्य के मध्य की चार पीढ़ियों के लिए सौ वर्षों का काल मानने पर भास्कराचार्य का आविर्भाव ९५५ ई० के लगभग होता है। साथ ही ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी से यह भी ज्ञात होता है कि वह अभिनव-गुप्त से पहले हुआ था क्योंकि अभिनव गुप्त ने उसका उल्लेख किया है[3]। अभिनवगुप्त से सामान्यतया पूर्ववर्ती प्रतीत होने वाले उत्पल वैष्णव ने भी अपनी स्पन्दप्रदीपिका में भास्कराचार्य के कक्ष्यास्तोत्र का उल्लेख किया है[4]। इस प्रकार यह अनुमान होता है कि भास्कराचार्य अभिनवगुप्त और उत्पल-वैष्णव से पूर्ववर्ती पीढ़ी का शैवाचार्य था।

क्षेमराज ने विमर्शिनी वृत्ति से शिवसूत्रों के अर्थ-विस्तार में महत्त्वपूर्ण योग दिया और वरदराज ने पद्यात्मक वार्त्तिक लिखकर शिवसूत्रों की व्याख्या का प्रयास किया। इनके अतिरिक्त भास्कराचार्य के अनुसार तत्त्वार्थचिन्तामणि नामक टीका में कल्लट ने भी शिवसूत्रों के अन्तिम खण्ड की व्याख्या की थी[5]। शिवसूत्रों पर कल्लटकृत 'मधुवाहिनी' नामक एक अन्य वृत्ति का भी

---

१. शिवसूत्रवार्त्तिक, पृष्ठ ८८। २. वही, प्रारम्भ।
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग १, पृष्ठ १०।
४. स्पन्दप्रदीपिका, पृष्ठ २६।
५. शिवसूत्रवार्त्तिक, उपोद्घात पृष्ठ ३।

उल्लेख मिलता है[१]। संभव है, यह वृत्ति सम्पूर्ण शिवसूत्रों पर लिखी गई वृत्ति थी, जो अप्राप्य है।

स्पन्दशास्त्र काश्मीर शैवदर्शन के साधना-पक्ष से सम्बन्धित है और स्पन्द-कारिका इसका मूलभूत ग्रन्थ है। कारिकाओं की भाषा सरल है किन्तु उनमें प्रतिपादित विचार अत्यन्त गंभीर एवं व्यापक हैं। कुल ५१ कारिकायें हैं जो तीन निःष्यन्दों (अध्यायों) में विभक्त हैं। प्रथम अध्याय में २५ कारिकाओं में स्वरूपस्पन्द, द्वितीय अध्याय में ७ कारिकाओं में सहज-विद्योदयस्पन्द और तृतीय अध्याय में १९ कारिकाओं में विभूतिस्पन्द का निरूपण किया गया है। क्षेमराज ने इन ५१ कारिकाओं में निबद्ध सिद्धान्तों को ही स्पन्दशास्त्र कहा है[२]। आगमों की भाँति यहाँ भी सिद्धान्त-निरूपण ही है, परपक्षखण्डनात्मक और स्वपक्षमण्डनात्मक दार्शनिक शैली का परिग्रहण नहीं है।

स्पन्दशास्त्र

कश्मीर के शैवाचार्यों में स्पन्दकारिका के रचयिता के सम्बन्ध में मतभेद है। उत्पल वैष्णव[३] और भास्कराचार्य[४] भट्टकल्लट को स्पन्दकारिका का लेखक मानते हैं और क्षेमराज के स्पन्दनिर्णय में प्राप्त कारिका के अनुसार 'स्पन्द-कारिका' ग्रन्थ वसुगुप्तकृत माना जाता है[५]। डा० पाण्डेयजी ने कल्लट के स्पन्दसर्वस्व की 'दब्धं महादेव गिरौ' कारिका के 'दब्धं' शब्द के आधार पर विरोधी कथनों में संगति बैठाकर यह सिद्ध किया है कि स्पन्दकारिका का रचयिता वसुगुप्त ही है, कल्लट नहीं[६]। महेश्वरानन्द भी क्षेमराज के मत का समर्थन करता है[७] और हम इस सम्बन्ध में एक और प्रमाण प्रस्तुत करना चाहते हैं और वह प्रमाण है विज्ञानभैरव के विवृतिकार काश्मीरिक शिवोपाध्याय का, जो स्पष्टतया स्पन्दकारिका ग्रन्थ को वसुगुप्तकृत बतलाता है[८]। निष्कर्ष यह है कि क्षेमराजकृत स्पन्दनिर्णय के "लब्ध्वाप्यलभ्यमेतत्—" छन्द के अन्तःसाक्ष्य और महेश्वरानन्द तथा काश्मीरिक शिवोपाध्याय के बहिःसाक्ष्य से यह प्रमाणित

---

१. तदुक्तमिति शिवसूत्रवृत्त्योर्मधुवाहिनीतत्त्वार्थचिन्तामण्योर्भट्टश्रीकल्लट-पादैः। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी।

२. स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ २। ३. स्पन्दप्रदीपिका, प्रारम्भ श्लोक ७, ८।

४. शिवसूत्रवार्त्तिक, पृष्ठ २–३। ५. स्पन्दनिर्णय, निःष्यन्द ४।२।

६. अभिनवगुप्त, हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टेडी, पृष्ठ ९३।

७. महार्थमंजरी के प्रथम छन्द की वृत्ति।

८. यदुक्तं वसुगुप्तपादैः—

एक-चिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः। —विज्ञानभैरव टीका, पृष्ठ ८४।

होता है कि निःसंदेह वसुगुप्त ही 'स्पन्दकारिका' का रचयिता है। क्षेमराज ने स्पन्द-चर्चा के प्रसंग में वसुगुप्त के लिए 'महागुरु' शब्द के प्रयोग से भी वसुगुप्त का स्पन्दशास्त्र-प्रवर्तक होना ध्वनित किया है[1]। कुछ अर्वाचीन विद्वानों ने वसुगुप्त को त्रिक का मूल प्रवर्तक लिखा है[2]। किन्तु यह मत समीचीन नहीं है क्योंकि वसुगुप्त का स्पन्दकारिका ग्रन्थ ही त्रिक-दर्शन का आदि एवं प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ नहीं है। त्रिक-दर्शन का मूल प्रवर्तक तो त्र्यम्बकादित्य था, जिसके नाम के पीछे इस दर्शन का 'त्र्यम्बक-शास्त्र' अथवा 'त्र्यम्बकमठिका' नाम प्रचलित हुआ है[3]।

इस शास्त्र के स्पन्द-नामकरण का कारण यह है कि अशेष सर्ग-संहारादि के विलास को दर्पणनगरवत् स्वभित्ति पर ही स्वयमेय दिखाती हुई अचल परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति किंचिच्चलत्तात्मक होने के कारण स्पन्द कही गई है[4]। यह स्पन्द या विमर्श परमशिव का नित्य-स्वभाव है[5]। स्पन्दस्वरूप अर्थात् आत्मस्वभाव में विश्रान्ति ही जीवन्मुक्ति है। यह स्पन्द तत्त्व सबमें अनुस्यूत है[6]। सब व्यक्ति अपने स्पन्दशक्तिमय शंकरात्मक स्वभाव की अनुभूति कर लें, इसी का साधन प्रतिपादन करने के लिये वसुगुप्त ने इस शास्त्र को स्पन्द नाम से अभिहित किया है[7]।

वसुगुप्त ने अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। उसके बारे में भट्टकल्लट ने जो कुछ लिखा है उसी से ज्ञात होता है कि वह कल्लट का गुरु था। अतएव

वसुगुप्त

कल्लट के काल से ही वसुगुप्त का काल-निर्णय होता है। काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा का समकालीन होने से भट्टकल्लट का काल लगभग ८५५ ई० माना जाता है और इस प्रकार अनुमान किया जाता है कि वसुगुप्त ८२५ ई० और ८५० ई० के मध्य किसी समय हुआ होगा। वसुगुप्त का 'गुप्त' नामांश उसका पारिवारिक उपनाम प्रतीत होता है और कश्मीर में 'गुप्त' परिवार का प्रवेश, अधुनातन प्राप्त तथ्यों के आधार पर, अत्रिगुप्त से ही माना जा सकता है। अतः सम्भव है, वसुगुप्त भी अभिनवगुप्त के पूर्व-पुरुषों में से था अथवा उसके सजातीय ब्राह्मण परिवार से सम्बन्धित था।

---

१. स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ३।
२. भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५७६।
३. शिवदृष्टि आ० ७।१२१–१२२।
४. स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ३।
५. वही।
६. वही, पृष्ठ ३०।
७. वही, पृष्ठ ३।

स्पन्दशास्त्र पर निम्नांकित वृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं—भट्टकल्लट की स्पन्द-सर्वस्व वृत्ति, रामकण्ठ की स्पन्दविवृति, उत्पलवैष्णव की स्पन्दप्रदीपिका और क्षेमराज की स्पन्दसंदोह तथा स्पन्दनिर्णय वृत्ति।

भट्टकल्लट व रामकण्ठ

भट्टकल्लट वसुगुप्त का शिष्य और काश्मीर नृपति अवन्तिवर्मा का सम-कालीन सिद्धपुरुष था[1]। रामकण्ठ उत्पलदेव का शिष्य और उक्त अवन्तिवर्मा का समसामयिक था, यह हम पूर्व बता आये हैं। इस प्रकार राजतरंगिणी के अनुसार भट्टकल्लट और रामकण्ठ समकालीन सिद्ध होते हैं। रामकण्ठ के द्वारा भट्टकल्लट के उल्लेख[2] से यह अवश्य कहा जा सकता है कि वह कल्लट का समकालीन होते हुए भी अवस्था में उससे छोटा था। डा० पाण्डेयजी ने रामकण्ठ का समय ९५०–९७५ ई० के बीच माना है[3] किन्तु उपर्युक्त तथ्यों के अनुसार यह मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पाण्डेयजी ने रामकण्ठ के द्वारा उत्पल-देव का उल्लेख देखकर उत्पलदेव के बाद अनुमान से रामकण्ठ की तिथि निश्चित करने का प्रयास किया था और हम राजतरंगिणी और रामकण्ठ के 'भगवद्गीता-विवरण' के स्पष्ट प्रमाणों के आधार पर उसका समय-निर्धारण करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अवन्तिवर्मा (८५५ ई०) के समकालीन मुक्ताकण का अनुज होने के कारण हम उसे ५–१० वर्ष ही नहीं, यदि मुक्ता-कण से १५ वर्ष भी पीछे रख दें तब भी उसे ८७० ई० से पीछे रखना अनुचित प्रतीत होता है।

अवन्तिवर्मा का समय ८५५ ई० तक माना जाता है। अतः अधिक से अधिक ८८३ ई० तक भी यदि रामकण्ठ को पीछे खींच लें तो भी नवीं शताब्दी ई० के बाद तो उसे किसी भी प्रकार नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार प्रस्तुत प्रमाणों के समक्ष पाण्डेयजी द्वारा बताई गई रामकण्ठ की तिथि उचित नहीं जान पड़ती। कुछ विद्वानों ने रामकण्ठ की स्पन्दकारिका पर लिखी गई वृत्ति का नाम 'स्पन्दविवरण' बताया है। परन्तु यह मत अनुचित है क्योंकि रामकण्ठकृत

---

१. अनुग्रहाय लोकानां भट्टश्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्॥
—राजतरंगिणी ५।६६।

२. स्वयं वृत्तिकृता भट्टकल्लटेन व्याख्यातम्।
—स्पन्दविवृति, पृष्ठ ७।

३. अभिनवगुप्त, पृष्ठ ९५।

स्पन्दकारिका की वृत्ति का नाम 'स्पन्दविवरण' न होकर 'स्पन्दविवृति' है। प्रमाण के रूप में नीचे की पंक्तियां पर्याप्त होंगी—

सम्पूर्णा इयं वृत्त्यनुसारिणी स्पन्दविवृतिः[1]।

× × ×

इति श्रीराजानकरामकृतायां विवृत्याख्यायां स्पन्दकारिकाटीकायां व्यतिरेकोपपत्तिनिर्देशो नाम प्रथमो निःष्यन्दः[2]।

रामकण्ठ की स्पन्दविवृति में रखा गया कारिकाओं का क्रम क्षेमराज की स्पन्दनिर्णय वृत्ति के क्रम से भिन्न है। 'स्पन्दविवृति' के प्रथम निःष्यन्द में १६ कारिकाएँ हैं और द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ निःष्यन्द में क्रमशः ११,३ और २१ कारिकाएँ हैं। रामकण्ठ के अनुसार कल्लट की वृत्ति को स्पष्ट करने के लिए ही उसने अपनी विवृति की रचना की थी[3]। रामकण्ठ की व्याख्या से पूर्व कल्लटकृत स्पन्दकारिका की जो व्याख्या विद्वत्समाज में पहुँच चुकी थी, उसी का मर्म खोलकर स्पन्दविवृति में रखा गया है।

उत्पल वैष्णव

उत्पल वैष्णव त्रिविक्रम का पुत्र था तथा नारायणस्थान (त्रालघाटी में आधुनिक नारस्तान) में उत्पन्न हुआ था[4]। उत्पल वैष्णव ने आचार्य उत्पलदेव (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार) का अपनी स्पन्दप्रदीपिका वृत्ति में उल्लेख किया है[5]। किन्तु त्रिकदर्शन के महासिद्ध अभिनवगुप्त का उसके ग्रन्थों में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती भास्कराचार्य के 'कक्ष्यास्तोत्र' का उल्लेख भी उत्पल वैष्णव ने किया है जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है। ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं कि उत्पल-वैष्णव अभिनवगुप्त के बाद हो और उसका उल्लेख न करे क्योंकि अभिनवगुप्त के बाद काश्मीर शैवदर्शन पर लिखने वाले प्रायः सभी लेखक उसके प्रभाव को अवश्य प्रकट करते रहे हैं। अतएव इस समय यही कहा जा सकता है कि उत्पलवैष्णव प्रत्यभिज्ञासूत्रकार उत्पलदेव और शिवसूत्रवार्त्तिककार भास्कराचार्य के पश्चात् और अभिनवगुप्त से पूर्व किसी समय हुआ होगा। भट्टकल्लट की

१. स्पन्दविवृति, उपसंहार। २. वही, पृष्ठ ५४।

३. स्पन्दविवृति श्लोक ५ तथा पृष्ठ ११।

४. नारायणस्थानसंस्थद्विजवर्य-त्रिविक्रमात्।
जातो जनानुग्रहार्थं व्याख्याति स्पन्दमुत्पलः॥
—स्पन्दप्रदीपिका, प्रारम्भिक श्लोक ५।

५. स्पन्दप्रदीपिका, पृष्ठ ३, ३०।

तत्त्वार्थचिन्तामणि वृत्ति का भी स्पन्दप्रदीपिका में उल्लेख है[1]। स्पन्दप्रदीपिका में उत्पलवैष्णवकृत एक अन्य ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है और वह है 'भोग-मोक्षप्रदीपिका'[2]।

क्षेमराज ने पहले स्पन्दकारिका की प्रथम कारिका पर ही अत्यन्त विस्तार से टीका लिखी थी, जो 'स्पन्दसंदोह' के नाम से प्रसिद्ध है[3]। और इसके अनन्तर अपनी 'निर्णय' नामक वृत्ति से स्पन्दशास्त्र का सम्यक् अर्थद्योतन

क्षेमराज

कर अन्य वृत्तिकारों के समक्ष अपनी वृत्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। क्षेमराज ने बार-बार अपनी निर्णयवृत्ति को स्पन्दशास्त्र पर लिखी गई अन्य सब वृत्तियों से श्रेष्ठ बताते हुए सहृदय विवेकशील विद्वज्जनों से उसके उचित मूल्यांकन का निवेदन किया है[4]। क्षेमराज अभिनवगुप्त का शिष्य था क्योंकि उसने अपने सभी ग्रन्थों के उपसंहार में ऐसा उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (बृहतीवृत्ति) की रचना १०१४ ई० में हुई थी[5]। अतएव क्षेमराज का साहित्य-रचनाकाल लगभग १०२५ ई० से लेकर १०५० ई० तक माना जा सकता है। डा० कान्तिचन्द्रजी पाण्डेय ने अभिनवगुप्त के शिष्यों में क्षेमराज का महत्त्वपूर्ण स्थान देखकर तथा क्षेमराज के द्वारा अपने आप के लिये 'अभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविन्' प्रयोग देखकर यह संभावना की थी कि क्षेमराज अभिनवगुप्त का 'पितृव्यतनय' हो सकता है[6] क्योंकि अभिनवगुप्त के एक चचेरे भाई का नाम 'क्षेम' था और क्षेमराज ने भी अपने लिए 'क्षेम' नाम का प्रयोग किया है।[7] किन्तु उनकी यह संभावना उचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि क्षेमराज अभिनवगुप्त जैसे महान् आचार्य का पितृव्यपुत्र हो और वह महासिद्ध अभिनवगुप्त के साथ रहने वाले अपने इस सम्बन्ध का उल्लेख न करे यह अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। दूसरे, अभिनवगुप्त की परिवार परम्परा में अत्रिगुप्त से लेकर अभिनवगुप्त तक सभी ज्ञातनामा व्यक्तियों के नामों के साथ पारिवारिक उपनाम 'गुप्त' शब्द लगा हुआ मिलता है। किन्तु क्षेमराज ने कहीं भी अपने नाम के साथ 'गुप्त' शब्द का प्रयोग नहीं

१. स्पन्दप्रदीपिका, पृष्ठ ३०। २. वही, पृष्ठ ३२।
३. (क) स्पन्दसंदोह, पृष्ठ २५। (ख) स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ १।
४. स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ७७।
५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, भूमिका, पृष्ठ ७ (पाद-टिप्पणी)।
६. अभिनवगुप्त, पृष्ठ १४५।
७. क्षेमेणार्थिजनार्थितेन विवृतं श्रीस्पन्दसूत्रं मनाक्।
—स्पन्दसंदोह, पृष्ठ २५।

किया। यदि क्षेमराज अभिनवगुप्त का पितृव्यतनय होता तो वह अपने लिए अपनी प्रसिद्ध कुलपरम्परा के सूचक गुप्त शब्द का प्रयोग अवश्य करता। काश्मीर शैवदर्शन के काश्मीरिक विद्वान् श्री बलजिन्नाथजी पण्डित से हुई बातचीत के प्रसंग में उन्होंने मुझे बताया कि अभिनवगुप्त के चचेरे भाई का नाम क्षेमगुप्त था और स्पन्दनिर्णयकार प्रसिद्ध शैवाचार्य क्षेमराज उससे भिन्न व्यक्ति था। अभिनवगुप्तकृत 'अभिनवभारती' के सम्पादक ने भी अभिनवगुप्त के चचेरे भाई का नाम 'क्षेमगुप्त' लिखा है[१]। अतः क्षेमराज का अपने लिए महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त का 'पादपद्मोपजीविन्' कहना उसके अभिनवगुप्त का पितृव्य-पुत्र होने का प्रमाण नहीं। इसका कारण यह है कि रामकण्ठ ने भी स्पन्दविवृति में अपने आपको आचार्य उत्पलदेव का 'पादपद्मानुजीविन्' लिखा है[२] और विज्ञान-भैरव के विवृतिकार शिवोपाध्याय ने भी ऐसा ही लिखा है—

कृतिः श्रीमद्गोविन्दगुरुसुन्दरकण्ठपादपद्मानुजीविनः शिवोपाध्यायस्य[३]।

किन्तु उनके ऐसे उल्लेख गुरु और शिष्य के घनिष्ठ सम्बन्ध और गुरु के प्रति शिष्य के श्रद्धातिशय के ही परिचायक हैं, अन्य किसी सम्बन्ध के नहीं। अतः क्षेमराज के द्वारा अपने आपको अभिनवगुप्त का 'पादपद्मोपजीविन्' लिखने से डा० पाण्डेयजी के द्वारा यह संभावना कर लेना उचित नहीं कि क्षेमराज अभिनवगुप्त का पितृव्यसुत था। स्पन्दशास्त्र के अन्य व्याख्याकारों में क्षेमराज ने भट्टलोल्लट का भी नामोल्लेख किया है[४] किन्तु उसकी वृत्ति का केवल उल्लेख ही मिलता है, मूलग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध ही है।

प्रत्यभिज्ञा शास्त्र

प्रत्यभिज्ञा शास्त्र काश्मीर शैवदर्शन का दर्शन शास्त्र है। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र ने ही सर्वप्रथम कश्मीर के अद्वैत शैवमत का दार्शनिक शैली से विवेचन प्रस्तुत किया था। दर्शन-शास्त्र की यह एक विशिष्ट शैली है कि उसमें पहले पूर्ववर्ती दर्शनों के सिद्धान्तों का दोष-दर्शन और खण्डन करके शास्त्रानुमोदित सबल तर्कों के आधार पर स्वपक्ष की स्थापना की जाती है। काश्मीर शैवदर्शन के साहित्य में इस

१. हिन्दी अभिनव भारती, प्रस्तावना।

२. कृतिस्तत्रभवतोः महामाहेश्वराचार्यशिरोमणिराजानकश्रीमदुत्पलदेवपादपद्मानुजीविनो राजानकरामकण्ठस्य।

—स्पन्दविवृति, उपसंहारवाक्य।

३. विज्ञानभैरवविवृति, उपसंहारवाक्य।

४. भट्टलोल्लटेनापि तदाद्यन्त इत्येवमेव व्याख्यायि स्ववृत्तौ।

—स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ३४।

विचार-प्रतिपादन की पद्धति का आविष्कार सर्वप्रथम आचार्य सोमानन्द ने अपने शिवदृष्टि ग्रन्थ में किया है। शिवदृष्टि का 'दृष्टि' शब्द दर्शन का ही द्योतक है। अपने इस ग्रन्थरत्न में सोमानन्द ने उक्त दार्शनिक शैली का अनुसरण करते हुए पहले परपक्ष का खण्डन और फिर स्वपक्ष का मण्डन किया है। इसी कारण तंत्रालोक के टीकाकार जयरथ ने उसे तर्क का कर्त्ता और व्याख्याता कहा है, जिसका उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं।

स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के सिद्धान्तों में तत्त्वतः न कोई भेद है और न कोई विरोध है। जिस 'प्रत्यभिज्ञा' का निरूपण आचार्य उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में किया है उसी के साधन शिवसूत्रों और स्पन्दकारिका के तीन उपाय हैं[1]। तीसरा अर्थात् शाम्भव उपाय जब परिपक्वता को प्राप्त होता है तो वही तंत्रालोक में निरूपित अनुपाय कहलाता है। इस अनुपाय को ही परिपूर्ण प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है[2]। शाम्भव उपाय का साधन शाक्त उपाय है और उसका साधन आणव उपाय है। आणव उपाय के भेद-प्रभेदों में भी पूर्व-पूर्व क्रम उत्तर-उत्तर क्रम का साधन होता है। ये उपाय-त्रय वस्तुतः मल-प्रक्षालन के साधन हैं और मल के प्रक्षालित होने पर तो आत्म-प्रकाश स्वयमेव चमक उठता है। अनुपाय में भावना के बिना ही गुरुवचनादिमात्र से ही अपने पारमेश्वर्योत्कर्ष का परामर्श हो जाता है। उपाय-त्रय से प्राप्त प्रत्यभिज्ञा को 'सुघट' उपाय इसलिए कहा जाता है कि ये सभी उपाय पातञ्जल योग आदि उपायों की तरह कष्टसाध्य नहीं हैं[3]।

आचार्य सोमानन्द ने अपने शिवदृष्टि प्रकरण में जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की थी, उन्हीं की विस्तृत व्याख्या 'प्रत्यभिज्ञा शास्त्र' का मुख्य विषय है। इस बात का उल्लेख माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह ग्रन्थ में किया है—

---

१. स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ २३।

२. इदमुक्तं तथा श्रीमत्सोमानन्दादिदैशिकैः।
सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावना करणं व्रजेत्।
एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः॥
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा।
—तंत्रालोक टीका, भाग १, आ० २, पृष्ठ ४०।

३. बाह्यान्तरचर्याप्राणायामादिक्लेशप्रयासकलाविरहात् सुघटस्तावदुक्तः।
—ई० प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २७१।

सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ ।
प्रकरणविवर्णनपंचकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः ॥

आचार्य सोमानन्द ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी तिथिसम्बन्धी उल्लेख नहीं किया। अतएव सोमानन्द के समय को जानने के लिए केवल बहिःसाक्ष्य पर ही निर्भर रहना पड़ता है। राजानक रामकण्ठ का काल सोमानन्द के काल-निर्णय में सहायक हो सकता है। रामकण्ठ मुक्ताकण का छोटा भाई था और मुक्ताकण कश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा (८५५–८८३ ई०) का समकालीन था, ऐसा रामकण्ठकृत भगवद्गीताविवरण और राजतरंगिणी से क्रमशः ज्ञात होता है, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है। भट्टकल्लट भी राजतरंगिणी के अनुसार अवन्तिवर्मा का समकालीन सिद्ध पुरुष था। इस प्रकार राजानक रामकण्ठ और भट्टकल्लट समकालीन-से प्रतीत होते हैं। इस मत का समर्थन एक और कारण से भी होता है। रामकण्ठ ने कल्लट का स्पन्दवृत्तिकार के रूप में उल्लेख किया है किन्तु कहीं भी उसके नाम के साथ श्रीमत् या कल्लटपाद जैसे किसी साधारण विशेषण का भी प्रयोग नहीं किया, केवल 'भट्टकल्लटेन' अथवा 'वृत्तिकृता' ही लिखा है[1]। यदि कल्लट रामकण्ठ की पूर्वपीढ़ी का सिद्ध रहा होता तो काश्मीर शैवों की परम्परा के अनुसार रामकण्ठ उसके लिए अवश्य किसी सम्मानसूचक विशेषण का प्रयोग करता। इसके अतिरिक्त राजतरंगिणी का स्पष्ट प्रमाण है कि रामकण्ठ का बड़ा भाई मुक्ताकण और भट्टकल्लट दोनों अवन्तिवर्मा के शासन-काल में अवस्थित होने के कारण समकालीन थे और मुक्ताकण पर्याप्त कीर्ति पाकर अपने अनुज रामकण्ठ के द्वारा भगवद्गीता की टीका लिखने के समय तक दिवंगत हो चुका था और रामकण्ठ भी उक्त टीका लिखने से पूर्व साहित्यकार के रूप में विद्वज्जनों से प्रशंसित हो चुका था। इससे भी यही प्रकट होता है कि रामकण्ठ भट्टकल्लट के समय अवश्य विद्यमान रहा होगा। भट्टकल्लट के लिये आदरवाची श्रीमत् आदि शब्दों से विरहित केवल भट्टकल्लट शब्द के प्रयोग से भी यही संकेत मिलता है कि रामकण्ठ भट्टकल्लट का अल्पवयस्क समकालीन ही रहा होगा।

सोमानन्द

दूसरे, कल्लट के गुरु वसुगुप्त और रामकण्ठ के गुरु उत्पलदेव के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि उत्पलदेव ने वसुगुप्त के स्पन्दशास्त्र ग्रन्थ का उल्लेख किया है[2]। अतः उत्पलदेव प्रसिद्धि-प्राप्त वसुगुप्त से अवस्था में छोटा ही रहा होगा। इस प्रकार उत्पलदेव का गुरु आचार्य सोमानन्द वसुगुप्त का पूर्ववर्ती अनुमानित होता है। यदि हम सोमानन्द को वसुगुप्त से पूर्व की पीढ़ी

१. स्पन्दविवृति, पृष्ठ ७।

२. शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ ३।

में न भी रखें तो भी यह मानना होगा कि सोमानन्द वसुगुप्त का समकालीन होते हुए भी अवस्था में वसुगुप्त से अवश्य बड़ा रहा होगा। श्री चैटर्जी ने सोमानन्द और वसुगुप्त के जीवन-काल की समीपता देखकर उनमें शिष्य-गुरु भाव की संभावना प्रकट की थी[1] और इस संभावना को, संभावना के रूप में ही सही, अनेकशः दुहरा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक बार दुहराई जाने से उक्त संभावना सत्य का रूप ले बैठी और ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के सम्पादक श्री मधुसूदन कौल[2] तथा उत्तरवर्ती अन्य दो विद्वानों ने तो स्पष्टतः सोमानन्द को वसुगुप्त का पट्ट शिष्य ही घोषित कर दिया[3]।

श्री चैटर्जी की उक्त संभावना का कारण यह है कि 'शारदातिलक' तंत्र की टीका में प्राप्त श्लोक में सोमानन्द से पूर्व 'वसुमन्तं' शब्द आया है और सोमानन्द के बाद जिन शैवाचार्यों के नाम उस श्लोक में हैं वे संयोग-वश एक गुरु-शिष्य-परम्परा के हैं। अतः उन्होंने 'वसुमन्तं' शब्द को 'वसुगुप्तं' शब्द मानकर (जिसका कोई आधार नहीं है) स्पष्टतया यह संभावना कर ली कि वसुगुप्त सोमानन्द का गुरु था। किन्तु उनकी यह संभावना अनुचित है कि वसुगुप्त सोमानन्द का गुरु था क्योंकि विज्ञानभैरव के टीकाकार भट्ट आनन्द ने भी काल-क्रम से अस्तंगत शैवागमों के उद्धार के लिए मर्त्यलोक में अवतीर्ण होनेवाले कश्मीर के शैव-गुरुओं की प्रस्तुति की है[4]। उसके द्वारा उल्लिखित शैव-गुरुओं की इस नामावली में श्रीकण्ठ से लेकर अभिनवगुप्त तक के नाम हैं, किन्तु वसुगुप्त का नाम इस नामावली में नहीं है और सोमानन्द के बाद तथा उत्पल से पूर्व भूतिराज का नाम है, जिसे अभिनवगुप्त ने ब्रह्मविद्या में अपना गुरु बताया है[5]। उक्त नामावली में उपर्युक्त पूर्वापर क्रम को देखकर तथा उत्पलदेव, लक्ष्मणगुप्त और अभिनवगुप्त को एक गुरु-शिष्य-परम्परा में देखकर भी न तो श्री चैटर्जी के उक्त अनुमान

१. काश्मीर शैविज्म, पृष्ठ २५। २. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २, प्रस्तावना।

३. (क) भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५७७।

(ख) कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृष्ठ ४१०।

४. श्रीविद्यां श्रीकण्ठमूर्तिं महेशं सोमानन्दं भूतिराजोत्पलेशौ।
कालेनास्तंयातशैवागमानां प्रोद्धृत्यै ये मर्त्यलोकेऽवतीर्णाः॥
श्रीलक्ष्मणाभिनवगुप्तमुखांस्त्रिकार्थतत्त्वानुशासनमहाम्बुधिशीतरश्मीन्।
—विज्ञानभैरव, प्रारम्भिक श्लोक।

५. तन्त्रालोक आ० ३०। ६२–६३।

की भाँति भूतिराज को उत्पलदेव का गुरु कहा जा सकता और न यही कहा जा सकता है कि काश्मीर शैव-गुरुओं में वसुगुप्त नाम का कोई शैव आचार्य हुआ ही नहीं, क्योंकि इस नामावली में उसका नाम नहीं है। शारदातिलक तंत्र की टीका वाले छन्द के सम्बन्ध में भी ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें संभवतः कालक्रम से शैवागमों का उद्धार करने वाले शैवाचार्यों के नाम हैं जिनमें अन्तिम पाँचों व्यक्ति संयोगवश एक गुरु-परम्परा के आ गये हैं और वह छन्द वस्तुतः गुरु-शिष्य-परम्परा का द्योतक नहीं है अथवा यह भी संभव है कि काल-सामीप्य देखकर जैसे श्री चैटर्जी ने सोमानन्द को वसुगुप्त का शिष्य कल्पित कर लिया, वैसे ही शारदातिलक तंत्र के टीकाकार ने भी स्वकीय संभावना को ही वहाँ श्लोकबद्ध कर दिया हो। संभवतः इसीलिए डा० पाण्डेयजी जैसे विद्वान् ने श्री चैटर्जी के उक्त अनुमान वाले प्रसंग की चर्चा अपने गवेषणा-कार्य में नहीं की है। अतः यही युक्तिसंगत लगता है कि सोमानन्द वसुगुप्त का शिष्य तो किसी भी दशा में न था। सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' में अपनी गुरु-परम्परा में अपने पिता आनन्द को ही अपना गुरु कहा है क्योंकि वह वंश-परम्परा शैवशास्त्र के आचार्यों के अवतार की परम्परा है[1]।

शिवदृष्टि

इस ग्रन्थ की रचना के पूर्व काश्मीर शिवाद्वैत परम्परापोषित एक धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में प्रसिद्ध था। इस ग्रन्थ ने सर्वप्रथम गौतम आदि तार्किकों की भाँति उपयुक्त तर्कों के आधार पर शिवाद्वैत को दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में उपस्थित कर न केवल कश्मीर में अपितु कश्मीर के बाहर भी इसका प्रसार किया। आठ अक्षरों के अनुष्टुप् छन्दों में इस दर्शन-ग्रन्थ की रचना की गई है। इसमें सात सौ श्लोक हैं जो विषयानुसार सात आह्निकों में विभाजित हैं। प्रथम आह्निक में अपने शिवात्मक स्वरूप के प्रति नमस्कार के अनन्तर एक श्लोक के द्वारा सूत्ररूप में समस्त शास्त्रार्थ प्रकट करके परदशा से लेकर घटपटादि-पर्यन्त शिवता-स्थिति क्यों और कैसे रहती है, इसका विवेचन किया गया है। वैयाकरणों के शब्दाद्वैत का स्वरूपकथन और उसका निराकरण दूसरे आह्निक का विषय है। तीसरे आह्निक में शाक्तों, द्वैतवादी शैवों तथा पातंजल मत के अनुयायियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। चतुर्थ आह्निक में अन्य दर्शनों की इस दर्शन के सम्बन्ध में की जा सकने वाली शंकाओं का परिहार करके शिवाद्वैत-स्वरूप का तर्कपूर्ण विवेचन किया गया है।

---

१. शिवदृष्टि आ० ७।१०७–१२०।

पाँचवें आह्निक में यह दिखाया गया है कि एक ही तत्त्व प्रमाता और प्रमेय-रूप से सब भावों में अनुस्यूत है। छठे आह्निक में वेदान्त, पांचरात्र, जैन, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध आदि दर्शनों के परसत्तासम्बन्धी सिद्धांतों की अनुपयुक्तता प्रकट की गई है। सब में अनुस्यूत निज शिवत्वस्वभाव की प्रतिपत्ति का रहस्य और उससे प्राप्त होनेवाली सर्वनिर्भरा आनन्दावस्था सप्तम आह्निक का विषय है।

आचार्य सोमानन्द ने अपने उक्त ग्रन्थ को प्रकरण कहा है और इसके प्रणयन की प्रेरणा के विषय में लिखा है कि वह स्वप्न में शिव से प्राप्त हुई थी[1]। सोमानन्द ने शिवदृष्टि में स्पष्टतः लिखा है कि जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन मैंने इस प्रकरण में किया है वे सिद्धान्त मेरी स्वकीय बुद्धि की ही प्रसूति नहीं हैं अपितु 'शिवो दाता शिवो भोक्ता' शास्त्र पर आधारित हैं[2]। शिवदृष्टि पर उत्पलकृत वृत्ति चतुर्थ आह्निक के ७४ वें श्लोक तक ही उपलब्ध है। शिवदृष्टि के अतिरिक्त सोमानन्द ने रुद्रयामल तंत्र के एक अंश पर भी संक्षिप्त वृत्ति लिखी थी, जो परात्रिंशिका कहलाती थी। किन्तु वह अब अप्राप्य है। अभिनवगुप्त ने सोमानन्द की उक्त परात्रिंशिका वृत्ति का अपने ग्रन्थ परात्रिंशिका-विवरण में अनेकशः उल्लेख किया है[3]।

उत्पलदेव सोमानन्द का शिष्य था। उसके पिता का नाम उदयाकर और पुत्र का नाम विभ्रमाकर था। उत्पल के सहपाठी का नाम पद्मानन्द था[4]।

उत्पलदेव

श्रीनगर-स्थित गुप्तपुर में उसका निवासस्थान था[5]। कश्मीर की वर्तमान जनपरम्परा के अनुसार वह वर्तमान श्रीनगर के उत्तर में स्थित 'विचारनाग' के समीप रहा करता था। डा० पाण्डेयजी ने तंत्रालोक की निम्नांकित पंक्ति के आधार पर उत्पल को सोमानन्द का पुत्र बताया है[6]—

सोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः।

किन्तु पाण्डेयजी का मत सर्वथा असत्य है क्योंकि सोमानन्द को अपना गुरु बताकर उत्पलदेव ने स्वयं अपने पिता का नाम उदयाकर बताया

---

१. शिवदृष्टि आ० ७।१०६।　　२. वही ७।१०५–६।

३. तदुक्तं सोमानन्दपादैः स्वविवृतौ।　—परात्रिंशिकाविवरण, पृष्ठ ६३।

४. शिवदृष्टिवृत्ति प्रारम्भ, श्लोक २।

५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, प्रस्तावना।

६. अभिनवगुप्त, पृष्ठ ९९।

है।[1] अभिनवगुप्त का बहिःसाक्ष्य भी इसका समर्थन करता है[2]। जिस तंत्रालोक के आधार पर उत्पल को सोमानन्द का पुत्र बताया गया है उसकी टीका में भी स्पष्टतः उत्पल को सोमानन्द का शिष्य कहा गया है[3]। अतः पाण्डेयजी द्वारा उद्धृत उपर्युक्त पंक्ति पुत्र-परम्परा को न बताकर शिष्य-परम्परा को बताती है। इसी प्रकार लक्ष्मणगुप्त को उत्पल का पुत्र बतलाना भी एक भ्रान्तिपूर्ण धारणा ही है क्योंकि लक्ष्मणगुप्त के कुल की विशेष संज्ञा 'गुप्त' थी और उत्पलदेव के कुल की विशेष संज्ञा 'राजानक' थी। अतः दो भिन्न उपनाम वाले कुलों के व्यक्ति उत्पल और लक्ष्मणगुप्त पिता-पुत्र नहीं हो सकते, गुरु-शिष्य ही हो सकते हैं। अतः लक्ष्मणगुप्त उत्पल का पुत्र नहीं, शिष्य ही था। कुछ अन्य विद्वानों ने भी उत्पल के स्थान पर उसके पिता उदयाकर को सोमानन्द का शिष्य बता दिया है,[4] किन्तु उनका ऐसा मत स्पष्टतया असत्य है। उत्पल के शिष्य रामकण्ठ के समय-निर्धारण से उत्पल का काल ८५० ई० के लगभग माना जा सकता है।

उत्पलदेव के ग्रन्थों में ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अभिनवगुप्त ने इसे सोमानन्द के ज्ञान का प्रतिबिम्ब कहा है[5]। यह छन्दोबद्ध रचना है और इन छन्दों को सूत्र कहा गया है। कश्मीर के शैवदर्शन के साहित्य में प्रत्यभिज्ञासूत्रों का महत्त्व इसी तथ्य से आँका जा सकता है कि इस ग्रन्थ के कारण ही कश्मीर से बाहर काश्मीर शैवदर्शन प्रत्यभिज्ञादर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस ग्रन्थ पर अभिनवगुप्त की विमर्शिनी नामक महत्त्वपूर्ण वृत्ति है, जो लघ्वीवृत्ति कहलाती है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें क्रमशः ज्ञानाधिकार, क्रियाधिकार, आगमाधिकार और तत्त्वार्थ-संग्रहाधिकार नाम देकर उनमें निरूपित विषयों की ओर संकेत किया गया है।

---

१. जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता ॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २, ४।२।३।

२. उदयाकरपुत्रः श्रीमानुत्पलदेवोऽस्मत्परमगुरुरिदं शास्त्रमकार्षीत्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २७६।

३. श्रीसोमानन्दस्यानुकम्प्याः पुत्राः—श्रीमदुत्पलदेवप्रभृतयः शिष्याः।
—तंत्रालोक टीका, भाग २, पृष्ठ ९५।

४. दी कलक्टेड वर्क्स आफ सर आर. जी. भण्डारकर, पृष्ठ १८६।

५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ २।

तत्त्वावबोध के लिए ईश्वरप्रत्यभिज्ञा से बढ़कर काश्मीर शैवदर्शन में अन्य ग्रन्थ दृष्टिगत नहीं होता। इसकी शैली तर्कपूर्ण और भाषा स्पष्ट एवं तथ्यमयी है। उत्पलदेव ने अपने इस ग्रन्थ पर एक टीका भी लिखी थी, जिसका उल्लेख अभिनवगुप्त तथा क्षेमराज और स्वयं उत्पल ने किया है[1]। किन्तु उक्त टीका अब अप्राप्य है। उत्पल ने अपने इसी ग्रन्थ पर 'वृत्ति' नाम की एक अन्य टीका भी लिखी थी, जो अब अपूर्ण रूप में मिलती है। उत्पलदेव के अन्य उपलब्ध ग्रन्थों में अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि और सम्बन्धसिद्धि प्रसिद्ध हैं, जिन्हें सिद्धित्रयी कहा जाता है। उत्पल ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की रचना के पश्चात् शिव-दृष्टि पर भी वृत्ति लिखी थी, जो अपूर्ण रूप में अब भी उपलब्ध है। उत्पलदेव न केवल एक महान् दार्शनिक था अपितु उच्चकोटि का कवि भी था। उसके भक्तिपूरित गीतात्मक स्तोत्र इस बात के प्रमाण हैं। उक्त स्तोत्रों का संग्रह 'शिवस्तोत्रावली' के नाम से प्रकाशित है।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त के पिता का नाम नरसिंहगुप्त था, जो लोगों में चुखुलक नाम से प्रसिद्ध था[2] और माता का नाम विमलकला था[3]। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के सम्पादक पं० मधुसूदन कौल ने अभिनवगुप्त के पिता का नाम लक्ष्मणगुप्त बताया है[4] किन्तु यह कथन असत्य है क्योंकि अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में अपने पिता का नाम नरसिंहगुप्त लिखा है। लक्ष्मणगुप्त तो प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में अभिनवगुप्त का गुरु था[5]। अभिनवगुप्त का जन्मकाल ९५० ई० और ९६० ई० के बीच माना जा सकता है और विविध विद्वानों से व्याकरण, द्वैताद्वैत तंत्र, द्वैत शैवदर्शन, ब्रह्मविद्या, त्रिकदर्शन, ध्वनि-शास्त्र और नाट्यशास्त्र आदि विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् संभवतः ९८५ ई० से पूर्व ही उसने साहित्य-रचना प्रारम्भ कर दी थी। डा० यदुवंशी ने अपने 'शैवमत[6]' ग्रन्थ में और जयशंकर प्रसादजी ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'[7] में अभिनवगुप्त को उत्पल का शिष्य बताया है। किन्तु ये मत असंगत है क्योंकि अभिनवगुप्त उत्पल का शिष्य न होकर प्रशिष्य था[8]। अभिनवगुप्त एक बहुत बड़ा शैवयोगी था और आज भी उसे

---

१. (क) ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ ३।
(ख) स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ४६। (ग) शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ १४।
२. तंत्रालोक, आ० ३७।५४। ३. वही टीका भाग १, पृष्ठ १४।
४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २, प्रस्तावना। ५. तंत्रालोक, आ० १।३०।
६. शैवमत, अध्याय ७, पृष्ठ १७१। ७. पृष्ठ २८।
८. उवाचोत्पलदेवश्च श्रीमानस्मद्गुरोर्गुरुः —तन्त्रालोक आ० १२।२५।

काश्मीर शैवदर्शन का सर्वोत्तम अधिकारी शैवाचार्य समझा जाता है। निश्चय ही अभिनवगुप्त के हाथों इस दर्शन को पूर्णता प्राप्त हुई है। उत्पलकृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञा पर आचार्य अभिनवगुप्त की विमर्शिनीवृत्ति सर्वांगसुन्दर टीका है। जो इस ग्रन्थ के तत्त्वावबोधन में अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुई है। उत्पल की अपनी विवृति पर, जो अब अप्राप्य है, अभिनवगुप्त ने विवृति विमर्शिनी नामक सुविस्तृत टीका लिखी थी, जो तीन भागों में प्रकाशित हुई है। काश्मीर शैवदर्शन के साधनात्मक क्षेत्र में अभिनवगुप्त के बृहद्-ग्रन्थ तन्त्रालोक और परात्रिंशिकाविवरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों में अभिनवगुप्त ने त्रिक-प्रक्रिया के साधनात्मक रहस्यों को प्रकट किया है और कई स्थानों पर इस दर्शन के सैद्धान्तिक गूढ़ तथ्यों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। मालिनीविजय तंत्र पर अभिनवगुप्तकृत वार्त्तिक भी इस क्षेत्र में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों और टीकाओं के अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त ने शैवदर्शन पर अनेक स्वतन्त्र लघुतर ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है, जिनमें परमार्थसार, बोधपंचदशिका और परमार्थचर्चा आदि प्रमुख हैं। सुकुमारमति जिज्ञासुओं के लिए आचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार की रचना की थी, जो तंत्रालोक का गद्यात्मक सारांश है।

अपने प्रगुरु उत्पलदेव की भाँति अभिनवगुप्त में भी उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा थी। उसके कई दार्शनिक गीत विद्यमान हैं, जिनमें प्रमुख हैं— क्रमस्तोत्र, भैरवस्तोत्र, अनुभवनिवेदनस्तोत्र, देहस्थदेवतास्तोत्र इत्यादि। ध्वनि और रस की अभिनवगुप्तकृत मीमांसा तो साहित्य की अमूल्य निधि है।

क्षेमराज

क्षेमराज के काल आदि के सम्बन्ध में पूर्व ही स्पन्दशास्त्र के प्रसंग में चर्चा की जा चुकी है। क्षेमराज अपने समय का प्रकाण्ड पण्डित था, इस तथ्य की पुष्टि उसके द्वारा की गई अनेक ग्रन्थों की वृत्तियों, स्वरचित मौलिक ग्रन्थों और कुछ ग्रन्थों के मूल पाठों सम्बन्धी गवेषणा से होती है। निम्नलिखित ग्रन्थों पर क्षेमराज की टीकाएँ उपलब्ध होती हैं—स्वच्छन्दतंत्र, नेत्रतन्त्र और विज्ञानभैरव पर उद्योतवृत्ति, स्पन्द-शास्त्र पर निर्णयवृत्ति, शिवसूत्रों पर विमर्शिनीवृत्ति, उत्पलस्तोत्रावली, स्तवचिन्तामणि, साम्बपंचाशिका और क्रमसूत्र पर वृत्ति। स्पन्दसंदोहग्रन्थ स्पन्दशास्त्र की एक कारिका की व्याख्या होते हुए भी क्षेमराज की स्वतन्त्र प्रतिभा का परिचायक है। पराप्रावेशिका, प्रत्यभिज्ञाहृदय और भैरवानुकरण-स्तोत्र आदि उसके मौलिक ग्रन्थ हैं। स्पन्दकारिका की 'निर्णय' वृत्ति के प्रसंग में क्षेमराज ने लिखा है कि यह वृत्ति उसके शूर नामक शिष्य के प्रार्थना-

अतिरेकवश लिखी गई है[1] और स्तवचिन्तामणि के उपसंहारवचनों में भी क्षेमराज ने अपनी इस विवृति की रचना का कारण शूरादित्य की भक्ति-बहुल अभ्यर्थना बताया है[2]। स्पन्दनिर्णय के 'शूर' और स्तवचिन्तामणि की विवृति के 'शूरादित्य' में संभवतः एक ही व्यक्ति का संकेत है, जिसे स्नेहवश कहीं शूर और कहीं पूरे नाम (शूरादित्य) से व्यपदिष्ट किया गया है। स्तवचिन्तामणि के उपसंहार-श्लोकों में क्षेमराज ने अपनी इस विवृति-रचना का स्थान 'विजयेश्वर' लिखा है[3]। यह विजयेश्वर आधुनिक बिजबिहारा है जो खनावल स्थान से कोई छह मील श्रीनगर की तरफ मुख्य सड़क पर पड़ता है। यहां के ब्राह्मण अपने ज्योतिषज्ञान के लिए आज भी कश्मीर-घाटी में प्रसिद्ध हैं और अपना परिचय देते समय अब भी वे अपने आपको 'विजयेश्वर' का निवासी बताते हैं, यह सर्वविदित सत्य है। क्षेमराज के "क्षेत्रे श्रीविजयेश्वरस्य विमले[4]" कथन से यह भी संकेत मिलता है कि संभवतः झेलमतटवर्ती यह विजयेश्वर (वर्तमान बिजबिहारा) ही क्षेमराज के अधिकांश ग्रंथों की रचनास्थली रहा हो और आश्चर्य नहीं यदि यही उसकी जन्मभूमि भी हो। क्षेमराज के अनन्तर वरदराज और योगराज दो ऐसे शास्त्रकार हैं जो अपने आपको आचार्य क्षेमराज का शिष्य बताते हैं।[5] योगराज ने परमार्थसार पर विवृति लिखी थी और वरदराज ने शिवसूत्रों पर वार्त्तिक लिखा था, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। वरदराज की तिथि और निवासस्थान के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात न

१. शूरनाम्नः स्वशिष्यस्य प्रार्थनातिरसेन तत्।
निर्णीतं क्षेमराजेन स्फारान्निजगुरोर्गुरोः॥
—स्पन्दनिर्णय, उपसंहार, श्लोक ४।

२. स शूरादित्यो मां बहु बहुलभक्त्यार्थयत यत्।
स्तुतौ तेनाकार्षं विवृतिमिह नारायणकृतौ॥
—स्तवचिन्तामणि, उपसंहार।

३. वही, उपसंहार।

४. क्षेमराजो व्यधात् क्षेत्रे श्रीविजयेश्वरस्यविमले सैषा शिवाराधनी।
—स्तवचिन्तामणि, उपसंहार, श्लोक ३।

५. (क) महामाहेश्वरश्रीमत्क्षेमराजमुखोद्गताम्।
अनुसृत्यैव सद्वृत्तिम् अंजसा क्रियते॥
मयावार्त्तिकं शिवसूत्राणां वाक्यैरेव तदीरितैः।
—शिवसूत्रवार्त्तिक, प्रारम्भ, पृष्ठ २।

(ख) परमार्थसार टीका पृ० १९९।

हो सकने पर डा० पाण्डेय ने वरदराज को अनुमानतः अर्वाचीन लेखक बताया है ।[1] अतएव वरदराज का समय-निर्धारण आवश्यक प्रतीत होता है ।

वरदराज

वरदराज क्षेमराज का शिष्य था, जिसने कश्मीर जाकर क्षेमराज के श्रीमुख से शिवसूत्रों का ज्ञान श्रवण किया था । वरदराज के पिता का नाम मधुराज था,[2] जो आचार्य अभिनवगुप्त का शिष्य था । मधुराज ने अपने 'गुरुनाथ-परामर्श' में लिखा है कि मैं अपनी आयु के ७४ वें वर्ष में अभिनवगुप्त के गुरु-चरणों में शिष्यभाव से गया था और ४ वर्षों तक आचार्य अभिनवगुप्त के पादपद्मों में बैठकर मैंने शैवदर्शन का अद्वैतामृत प्राप्त किया था ।[3] इससे निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि वरद-राज का जन्म उसके पिता मधुराज के अपनी ७४ वे वर्ष की अवस्था में अभि-नवगुप्त के पास जाने से पूर्व हो ही चुका होगा क्योंकि ७४ वें वर्ष के बाद मधु-राज से वरदराज की उत्पत्ति मानना यौनविज्ञान और भारतीय आश्रम-व्यवस्था के सर्वथा प्रतिकूल है । अतः यह कहना पूर्णतया तर्कसंगत है कि वरदराज अभिनवगुप्त के जीवन-काल में किशोर या युवक रूप में ही सही, किन्तु विद्यमान

---

१. अभिनवगुप्त, पृष्ठ १६०-६१ ।

२. मधुराजकुमाराणां महाहन्ताधिरोहिणाम् ।
पश्चिमेन तदालोकध्वस्तपश्चिमजन्मना ॥
मयावरदराजेन मायामोहापसारणम् ।
श्रीक्षेमराजनिर्णीतव्याख्यानाध्वानुसारिणा ॥
—शिवसूत्रवार्त्तिक, उपसंहार ।

३. चतुरधिकसप्ततितमे वर्षे मम वर्तमानेऽस्मिन् ।
पितुरधिगतमपि बाल्येऽप्यभिनवमिव भाति गुप्तमध्यापि ॥
विस्तीर्णसद्गुरुपदस्मरणप्लवेन
निस्तीर्णभीमतरभैरवधीप्रवाहः ।
अद्याष्टसप्ततितमे वयसीह वर्ते
वाचा सुधारसमुचा सह माधुरोऽहम् ॥
शक्तित्रयैकशरणे पराक्रमाक्रान्तविश्वदिक्चक्रे ।
मधुराजे मयि जीवति अनश्वरं नूनमीश्वराद्वैतम् ॥
—गुरुनाथपरामर्श, श्लोक ३८-४० ।
अभिनवगुप्तनाथवदनाम्बुजवाग्भ्रमरी ।
शिव शिव गाढं मूढमपि मां मुखरीकुरुते ॥
—वही, श्लोक २९ ।

अवश्य था। इस प्रकार अभिनवगुप्त और क्षेमराज की तिथियों से वरदराज का आविर्भावकाल ११ वीं शती ईस्वी की समाप्ति के आस-पास ही मानना युक्तिसंगत है। शिवसूत्रवार्त्तिक के सम्पादक पं० मधुसूदन कौल ने वरदराज का समय १६ वीं शती ईस्वी के प्रारम्भ में बतलाया है।[१] किन्तु उपर्युक्त सप्रमाण तर्कों से उनका यह मत सर्वथा भ्रान्त सिद्ध होता है। वरदराज के पिता मधुराज के उल्लेख से विदित होता है कि वरदराज दक्षिण भारत के केरल प्रान्त के मधुरा (मदुराई) नामक स्थान का निवासी था।[२]

इस प्रकार ८ वीं शती ईस्वी से लेकर तंत्रालोक के प्रसिद्ध टीकाकार जयरथ के समय (१३ वीं शती ई० के प्रारम्भ) तक काश्मीर शैवदर्शन का जो श्लाघनीय विकास हुआ, उसकी गति आगे चलकर मन्द पड़ गई। जयरथ के बाद काश्मीर शैवदर्शन पर मौलिक या टीका ग्रन्थ लिखने वालों में निम्नांकित लेखकों के नाम उल्लेखनीय है।

महेश्वरानन्द

महेश्वरानन्द माधव का पुत्र था[३] और वी० राघवन् के अध्यक्षीय पद के भाषण के अनुसार वह दक्षिण भारत में चिदम्बरम् स्थान पर चोलवंश के राज्यकाल में रहता था।[४] उसने अपने आपको महाप्रकाश का शिष्य बताया है।[५] उसका लोकप्रचलित नाम गोरक्ष था और महेश्वरानन्द नाम गुरु-प्रदत्त है।[६] उसने अपने सम्प्रदाय का नाम देवपाणि बताया है।[७] महेश्वरानन्द ने अपने ग्रन्थ महार्थमंजरी में लिखा है कि मुझे प्रत्यभिज्ञामार्ग के अनुगमन से ही आत्मज्ञान हुआ था।[८]

---

१. शिवसूत्रवार्त्तिक (वरदराजकृत) प्रस्तावना, पृष्ठ ४।

२. गुरुनाथपरामर्श, श्लोक ३९।

३. महार्थमंजरी-वृत्ति, पृष्ठ २०२।

४. आल इन्डिया ओरिंटियल कोन्फ्रेन्स, श्रीनगर, अक्टूबर, १९६१ अध्यक्षीय अभिभाषण पृष्ठ २।

५. महार्थमंजरी, पृष्ठ ४।

६. गोरक्षो लोकधिया देशिकदृष्ट्या महेश्वरानन्दः।
उन्मीलयामि परिमलमन्तर्ग्राह्यं महार्थमंजर्याम्॥
—महार्थमंजरी, पृष्ठ १।

७. श्रीदेवपाणिसम्प्रदायानुप्रविष्टैरस्माभिरनुसन्धीयते।
—महार्थमञ्जरी, पृष्ठ १०८।

८. वही, पृष्ठ २०२।

उसकी तिथि के सम्बन्ध में केवल इतना ही विदित होता है कि वह क्षेमराज के बाद और 'विज्ञानभैरव' के टीकाकार शिवोपाध्याय से पहले हुआ था क्योंकि महेश्वरानन्द ने क्षेमराज का उल्लेख किया है और शिवोपाध्याय ने महेश्वरानन्द का।[1] इसके अतिरिक्त कश्मीर के वर्तमान कौल यह मानते हैं कि महेश्वरानन्द उनका पूर्वज था जो दक्षिण भारत से आकर कश्मीर में बस गया था। इस प्रकार महेश्वरानन्द १६ वीं शती ईस्वी से तो निश्चय ही पहले हुआ होगा क्योंकि साहिब् कौल, जो कौल वंशपरम्परा में थे, का समय १६२९ ई० है।

महेश्वरानन्द का प्रसिद्ध ग्रन्थ महार्थमंजरी है, जिस पर स्वयं लेखक की परिमला नाम की वृत्ति है। महार्थमंजरी में ७० प्राकृत गाथाएँ हैं और ७१ वीं गाथा (कारिका) में लेखक ने स्वप्न में योगिनीदर्शन से इस ज्ञान की उपलब्धि का उल्लेख किया है।[2] महेश्वरानन्द ने अपने गुरु के उल्लेख के साथ अपने लिए भी योगीन्द्र शब्द का प्रयोग किया है[3]। महेश्वरानन्द द्वारा रचित अन्य ग्रन्थों का उल्लेख भी उसने अपनी महार्थमञ्जरी की वृत्ति में किया है।

मातृका-चक्र-विवेक शैवदर्शन के साधनात्मक पक्ष का प्रशंसनीय ग्रन्थ है। इसके रचयिता का नाम स्वतन्त्रानन्दनाथ है। पुण्यानन्द ने काम-कला-विलास की रचना की, जिसमें 'श्रीचक्र' का निरूपण है। भावोपहार एक स्तोत्र-ग्रन्थ है, जिसका रचयिता चक्रपाणिनाथ है। इस ग्रन्थ की टीका में योगानन्द और प्रबोधनाथ नाम के दो अन्य लेखकों का भी उल्लेख मिलता है।[5] भावोपहार के विवरणकार का नाम भट्ट रम्यदेव है जिसने भावोपहार की वृत्ति में अपने सात ग्रन्थों का उल्लेख किया है[6] जिनमें से अधिकांश स्तोत्रग्रन्थ हैं। भट्ट रम्यदेव के उक्त सभी ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध हैं। किसी अनन्तशक्ति नाम के लेखक की वृत्ति के साथ वातुलनाथ के सूत्र भी प्राप्त होते हैं,[7]

१. विज्ञानभैरवविवृति, पृष्ठ १०९।
२. देवीनामविलास, भूमिका।
३. महार्थमंजरीवृत्ति, पृष्ठ १९१।
४. वही, पृष्ठ १३४।
५. भावोपहार विवरण, पृष्ठ १०, ४४।
६. स्तोत्रे भावोपहारे विवरणमकरोद्रम्यदेवो द्विजन्मा···।

—वही, उपसंहारवाक्य।

७. समाप्तेयं श्रीमद्वातूलनाथसूत्रवृत्तिः।
कृतिः श्रीमदनन्तशक्तिपादानाम्॥ —वातूलनाथसूत्र, उपसंहार।

जो कश्मीर के रिसर्च विभाग से प्रकाशित हुए हैं। ये सभी 'नाथ' महेश्वरानन्द की गुरुपरम्परा से सम्बन्धित जान पड़ते हैं। इस शैवाचार्यपरम्परा में सबसे प्रमुख साहिब् कौल (आनन्दनाथ) हैं जिन्होंने रुद्रयामल तन्त्र के भवानीनामसहस्र के आधार पर कथात्मक शैली में देवीनामविलास की रचना की थी। देवीनामविलास में १६ सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग को भक्ति कहा गया है, जैसे प्रथमाभक्ति, द्वितीयाभक्ति इत्यादि। कैलास के रोमांचकारी दृश्य से इस ग्रन्थ का आरम्भ होता है। देवीनामविलास काव्य की रचना साहिब् कौल ने वि० सम्वत् १७२३ (१६६६ ई०) के वैशाख मास की शुक्ल चतुर्दशी को की थी। सन् १६७६ के लगभग उन्होंने कल्पवृक्ष नाम के दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की थी। कल्पवृक्ष ग्रन्थ में उन्होंने अपनी आयु १४ वर्ष की बताई है। इससे उनका जन्मकाल सन् १६२९ ई० सिद्ध होता है।[1] उन्होंने अपने पिता का नाम श्रीकृष्ण कौल और माता का नाम बुद्धि बताया है।[2] साहिब् कौल का 'शिवजीवदशक' संक्षिप्त होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह उनके स्वात्मप्रकाश के प्रथम स्फुरण की गीतात्मक अभिव्यक्ति है। साहिब्कौल के अन्य ग्रन्थों में शिवसिद्धनीति, चित्स्फारसाराद्वय, शिवशक्तिविलास, गुरुवृत्तचिन्तामणि, चन्द्रमौलिस्तव, शारिकास्तव आदि हैं।

उत्तरवर्ती शैवाचार्यों में भास्करकण्ठ भी उल्लेखनीय है। भास्करकण्ठ ने अपने गुरु का नाम नरोत्तम कौल बताया है।[3] भास्करकण्ठ की तिथि के संबन्ध में कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कश्मीर के पंडितों में ऐसी प्रसिद्धि है कि भास्करकण्ठ का पौत्र मणिकण्ठ नामक सिद्ध महाराजा रणजीतसिंह के समय में वजीराबाद जिले में सिलदार नामक स्थान पर धूनी रमाकर बैठा करता था। शिष्य-परम्परा से यह धूनी १९४७ ई० तक वहाँ जगती ही रही। बाद में क्या हुआ, यह कौन जानता है। इस प्रकार भास्करकण्ठ सत्रहवीं शती ई० के उत्तरार्ध में संभवतः रहा होगा। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की अभिनवगुप्तकृत विमर्शिनी पर भास्करकण्ठ की अत्यन्त विद्वतापूर्ण एवं गम्भीर वृत्ति मिलती है, जिसे

---

१. देवीनामविलास, भूमिका।

२. श्रीकृष्णात्मपरानुभूतिविभवः श्रीकृष्णकौलः सुतं।
साहिब्कौलमसूत यं च जननी बुद्धि प्रबुद्धि सती॥
—देवीनामविलास, नवमीभक्ति, पृष्ठ १८४।

३. कौलनरोत्तमेभ्यश्च विद्योपदेशमासाद्य।
—भास्करी।

'भास्करी' कहा गया है। भास्करी के लेखक ने अपनी वृत्ति को सरल बनाने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया है। अभिनवगुप्त की विमर्शिनी टीका को स्पष्टतया समझने में यह वृत्ति अत्यन्त उपयोगी है।

काश्मीर शैवदर्शन पर लिखने वाले कुछ ऐसे भी शैवाचार्य हुए हैं जिन्हें निश्चयपूर्वक उपर्युक्त किसी भी गुरुपरम्परा में नहीं रखा जा सकता। आचार्य क्षितिकण्ठ उनमें सर्वप्रथम हैं, जिन्होंने कश्मीरी अपभ्रंश में महानयप्रकाश नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ शैवदर्शन के साधनात्मक योग से सम्बन्धित है। नारायणकण्ठ ने मृगेन्द्रतंत्र पर वृत्ति लिखी थी। राजानक आनन्द का षटत्रिंशत्तत्त्वसंदोह काश्मीर शैवदर्शन के तत्त्व-परिचय का सुन्दर ग्रन्थ है। इनमें पिछला महत्त्वपूर्ण लेखक शिवोपाध्याय है, जिसने सुखजीवन के समय में विज्ञानभैरव पर वृत्ति लिखी थी।[१] सुखजीवन पटानों के राज्यकाल में उनके ही द्वारा नियुक्त किये गये कश्मीर के राज्यपाल (गवर्नर) थे। ये एक काबुली क्षत्रिय थे। इनका शासनकाल कश्मीर में रामराज्य की तरह आज भी स्मृति का विषय बना हुआ है और कश्मीर में यह कहावत प्रचलित हो गई है कि—

बख्ति सोँख़ जुव

अर्थात् वक्त तो सुखजीवन का। राजा सुखजीवन का काल १७५४ से १७६२ ई० तक माना जाता है।[२] अतः शिवोपाध्याय का काल भी यही है। शिवोपाध्याय का वास्तविक नाम शिव था और उपाध्याय उसकी जाति थी[३]। उसने अपने आपको गोविन्दगुरु और सुन्दरकण्ठ का शिष्य बताया है। शिवोपाध्याय से पूर्व एक अन्य शास्त्रकार हुआ था, जिसका नाम राजानक लक्ष्मीराम है। लक्ष्मीराम ने 'परात्रींशिका' पर संक्षिप्त विवृति लिखी थी। उसने अपना समय सम्वत् १७३२ बतलाया है।[४]

स्वतन्त्रानन्दनाथ और पुण्यानन्द को छोड़कर सभी उपर्युक्त लेखक कश्मीरी

---

१. सुखजीवनाभिधाने रक्षति काश्मीरमण्डलं नृपतौ।
अगमन्निःशेषत्वं विज्ञानोद्योतसंग्रहः सुगमः॥
—विज्ञानभैरव, उपसंहार।

२. कश्मीर (थ्रू एजेज), पृष्ठ ६३।

३. नाम्ना शिवेतिगुणिकौशिकगोत्रजात्योपाध्याय...।
—विज्ञानभैरव विवृति, पृ० १४३।

४. परात्रिंशिकाविवृति, भूमिका, पृष्ठ ६।

थे और काश्मीरशैव दर्शन के प्रायः सभी आगमों तथा सभी छोटे और बड़े ग्रन्थों की रचना कश्मीर की रम्यरूपा घाटी में हुई है।

यद्यपि अब काश्मीर शैवदर्शन की साहित्य-रचना की मशाल बुझ-सी गई है तथापि स्वर्गीय पं० हरभट्टशास्त्री[1] शैवाचार्य श्रीमद् अमृतवाग्भव[2] और पं० बलजिन्नाथ[3] आदि काश्मीरिक विद्वानों के ग्रन्थ इस दर्शन की मशाल को थामे हुए हैं।



१. पंचस्तवी की टीका, भाग ३ प्रकाशित हो गया है और भाग १-२ छप रहे हैं।

२. (क) आत्मविलास।
   (ख) श्रीविंशतिकाशास्त्र।

३. श्रीस्वातंत्र्यदर्पण (छपने वाला है)

अध्याय २

काश्मीर शैवदर्शन : सिद्धान्त

महेश्वररूप आत्मस्वरूप-निरूपण

काश्मीर शैवदर्शन की आध्यात्मिक दृष्टि अद्वैत की है। एक ही तत्त्वातीत परमशिव अन्तर्बाह्य सर्वत्र प्रकाशित है। वह पूर्ण चिद्रूप है। अतएव उसे चिति कहा गया है। चिति ही परासंवित् है[१]। शिवसूत्रों में इस चिति या परमशिव की संज्ञा आत्मा है और 'चैतन्यमात्मा' कहकर आत्मा को चैतन्यस्वरूप माना गया है[२]। शिव से लेकर धरणिपर्यन्त सभी तत्त्वों की अवस्थिति इसी चैतन्य-स्वभाव आत्मा में है। यही परतत्त्व है, जिसमें षट्त्रिंशदात्मक जगत् विभासित है[३]। आत्मा से बढ़कर कुछ भी नहीं। इसी कारण इसे परासंवित्, परमशिव, अनुत्तर आदि नामों से अभिहित किया गया है[४]। किन्तु आत्मा के स्वरूप को पूर्णरूप से परिभाषाबद्ध करने में हमारी लोकभाषा अशक्त है[५]। शैवदर्शन के अनुसार यह प्रकाश-विमर्शरूप है।

प्रकाश-विमर्शमय

ये प्रकाश और विमर्श एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न हैं। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना भी असंभव है। इनमें अविनाभाव सम्बन्ध है[६]। प्रकाश आत्मा का स्वरूप है और विमर्श प्रकाशरूप परमात्मा के स्वरूप की प्रतीति है। यह विमर्श ही उसकी अपनी महेश्वरता की पूर्ण प्रतीति है—

१. चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परासंवित्।
—तंत्रालोक, भाग ३, पृष्ठ ४०४।

२. शिवसूत्र १।१।

३. यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत्।
—परमार्थसारकारिका ११।

४. अनुत्तरं न विद्यते प्रकृष्टमुत्तरं यतस्तदनुत्तरं चिद्घनम्।
—परात्रिंशिकाविवृति (लक्ष्मीरामकृत), पृष्ठ २।

५. न विद्यते उत्तरं प्रश्नप्रतिवचोरूपं यत्र।
—परात्रिंशिकाविवृति, पृष्ठ १९।

६. प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्।
स च प्रकाशो न पृथग् विमर्शात्। —विज्ञानभैरवविवृति, पृष्ठ १२२।

स एव विमृशत्त्वेन नियतेन महेश्वरः ।

यह विमर्श परमशिव का पूर्ण 'अहम्' कहा जाता है[२]। प्रकाश शिवरूप है और विमर्श शक्तिरूप है। शिव और शक्ति का नित्य सामरस्य ही परमशिव है। शिव के बिना शक्ति की सत्ता नहीं और शक्ति के बिना शिव स्फटिक आदि की भाँति जड़-तुल्य ही हो जायगा, क्योंकि प्रकाशरूप होते हुए भी स्फटिक, मणि आदि को अपनी सत्ता की प्रतीति (विमर्श) नहीं होती[३]। शिव-शक्ति के इसी अभेदभाव को लक्ष्य कर शिवदृष्टि में कहा गया है—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिव शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्त्तुमीहते ॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते[४] ।

शक्तिस्वभाव से 'शक्त' होने पर ही शिव कर्तृत्व-पद का अधिकारी होता है। शक्ति आत्मारूपी परमशिव का विमर्श है और इस विमर्श से ही वह 'कर्तुम्', 'अकर्तुम्'—'अन्यथाकर्तुम्' स्वभावी होता है[५]। अपने उक्त विमर्श से सब कुछ कर सकने के कारण परमशिव पूर्ण स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र परमशिव की इच्छा-शक्ति ही उसका स्वातन्त्र्य कहलाता है[६]। स्मरण रहे, परमशिव की यह इच्छा किसी अपूर्ण की परोन्मुखी इच्छा न होकर स्वात्म-पूर्ण की स्वतन्त्र इच्छा है। अपूर्ण की इच्छा में स्वकीय पूर्णता के लिए अपने से व्यतिरिक्त वस्तु के प्रति उन्मुखता होती है। अपूर्ण में पर-अपेक्षा होती है। अतः उसकी इच्छा या क्रिया पर-उन्मुखात्मिका होती है। किन्तु परमशिव (आत्मा) स्वतः पूर्ण है।

स्वात्मविश्रान्तिः आनन्द

अतएव उसकी इच्छा अन्य के प्रति उन्मुख न होकर स्वात्म-स्वरूप में ही विश्रान्त रहती है, क्योंकि आत्मा से अन्य का तो सर्वथा अभाव है। अपनी इच्छा की इस अनन्योन्मुखता में ही परमात्मा की निराशंसता निहित है और यह

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग १—१।८।११।

२. या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ।
—अजड-प्रमातृसिद्धि, श्लोक १५ ।

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ १९८ ।

४. शिवदृष्टि ३।२-३ ।

५. विमर्शो हि सर्वंसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति, उभयम् एकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं-स्वभावः ॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २०५ ।

६. स्वतंत्र इति तस्येच्छा शक्तिः स्वातंत्र्यसंज्ञिता ।
—मालिनीविजयवार्त्तिक १।८७ ।

निराशंसता (अकांक्षा–अभाव) ही आत्मा की पूर्णता है, जिसके कारण वह अपने आप में पूर्ण स्वतन्त्र है। वह स्वतन्त्र अपने आपमें विश्रान्त रहता है। उसकी यह स्वात्म–विश्रान्ति ही उसका पूर्ण आनन्द कहलाता है—

स्वात्मविश्रान्तिरेवैषा देवस्यानन्द उच्यते ।[1]

परमेश्वर की इच्छाशक्ति ही उसकी स्वातंत्र्य शक्ति कहलाती है, जिसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति सदैव अभेदरूपता में स्फुरित होती है[2]। अतएव आत्मा ज्ञातृ–कर्तृरूप है। प्रत्येक क्रिया का कोई कर्ता होता है। ज्ञान एक क्रिया है। अतएव उसका भी कोई कर्ता होता है और प्रत्येक क्रिया कर्ता में होती है। वह कर्ता उस क्रिया का आश्रय होता है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया अभिन्न और एक ही हैं। इसी कारण काश्मीर शैवदर्शन में कहा गया है कि जो ज्ञान है वह क्रिया शून्य नहीं और जो क्रिया है वह ज्ञानरहित नहीं[3]।

ज्ञान क्रिया की अभेदता

ज्ञान और क्रिया वस्तुतः एक पारमेश्वरी इच्छा का ही उत्तरोत्तर विकास है। परमेश्वर की इस चिकीर्षारूप इच्छा में सब कुछ अन्तर्भूत है और वह सब वहाँ अभेदरूप से ही अवस्थित है[4]। इसी कारण 'शिवदृष्टि' में कहा गया है कि आत्मा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सर्वत्र अभेदभाव से स्फुरित है—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्वपुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः[5] ॥

शिव से लेकर धरणि तक छत्तीस तत्त्वों में अभेदरूपता से स्फुरित आत्मा का इच्छा-प्रसार ही उसका विश्वात्मक रूप है[6]। शैवागम में इसकी संज्ञा विमर्श है, क्योंकि विमर्श परमशिव की शक्ति है और उसकी शक्ति

षट्त्रिंशदात्मक जगत् : इच्छाशक्ति का स्फुरण

---

१. मालिनीविजयवार्तिक १।८८।

२. विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः ।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शनी भाग १–१।८।११।

३. न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया ।
—नेत्रतंत्र उद्द्योतटीका, भाग २, पृष्ठ ४२।

४. परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा, तस्यां च सर्वमन्तर्भूतं निर्मातव्यमभेद-कल्पेनास्ते । —ई० विमर्शिनी, भाग२, पृष्ठ १८१।

५. शिवदृष्टि २।२।

६. स्वयंप्रकाशरूपः परमेश्वरः पारमेश्वर्या शक्त्या शिवादि-धरण्यन्त-जगदा-त्मना स्फुरति प्रकाशते च । —पराप्रावेशिका, पृष्ठ ३।

का स्फार ही यह नानारूपात्मक विश्व है[1]। इसी हेतु शिवसूत्रों में विश्व को परमशिव (आत्मा) का शक्तिसंघात बताया गया है—

स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्[2]।

परमशिव विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक

परमेश्वर का शक्ति—स्फार होने के कारण नानारूपों में दृष्टिगोचर होने वाले सभी पदार्थ प्रकाशरूप ही हैं और परमेश्वर से अभिन्न हैं[3]। इस प्रकार एकमात्र परमशिव ही नाना प्रकार की विचित्रताओं के साथ विश्वभाव से स्फुरित हो रहा है[4]। वह सर्वआकृति-स्वरूप है और उससे भिन्न किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं। वह विश्वात्मक होते हुए ही विश्वोत्तीर्ण भी है[5]। विश्वरूप से अपने विमर्श का प्रकाशन करके भी परमशिव अपने विश्वोत्तीर्ण स्वरूप से किंचिन्मात्र भी च्युत नहीं होता[6]। इस प्रकार काश्मीर शैवदर्शन के विश्वोत्तीर्ण–विश्वात्मक स्वरूप वाले परमशिव का ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में निरूपित स्वरूप वाले 'परम पुरुष' के साथ पूर्ण सामंजस्य है[7]। अपनी प्रकाशरूपता में विश्वात्मक स्वरूप का यह प्रकाश (उन्मेष) चिदात्मा की अपनी इच्छा पर निर्भर है। उसकी स्वतन्त्र इच्छा के अतिरिक्त इसका अन्य कोई हेतु नहीं है। इसी कारण आचार्य क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय में चिदात्मा को ही विश्व-उल्लास का कारण बताया है—

चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः[8]।

चित्रकार जब कोई चित्र बनाता है तब उसे दो वस्तुओं की अपेक्षा होती है—एक, आधार की, जिसके ऊपर वह चित्र रचना करता है और दूसरी, वर्ण,

---

१. क्रियाशक्तेरेव (स्वातंत्र्यामर्शरूपायाः) अयं सर्वो विस्फारः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ ४२।

२. शिवसूत्र ३।३०।

३. प्रकाशो नाम यश्चायं सर्वत्रैव प्रकाशते।

—तंत्रालोक भाग १–आ० १।५४।

४. एक एव हि स्वतंत्रो बोधस्तथा तथा प्रस्फुरेत्।

—वही टीका, भाग १, पृष्ठ १०४

५. अतएव अयं विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णस्तदुत्तीर्णत्वेऽपि तन्मयः।

—वही, पृष्ठ १०५।

६. विश्वमयत्वेऽप्यस्य स्वस्वरूपान्न प्रच्यावः।

७. ऋग्वेद, पुरुषसूक्त, दशम मण्डल।

८. प्रत्यभिज्ञाहृदय सूत्र १।

तूलिका आदि सामग्री की, जिसकी सहायता से वह चित्र को मनोवांछित आकार देता है। किन्तु विश्वरूपी चित्र की सृष्टि में परमशिव को न किसी आधार की आवश्यकता होती है, न किसी उपादान कारण की और न तूलिका आदि किसी निमित्त कारण की। चिदात्मा अपनी इच्छामात्र से ही अपने लीला–विलास के

चिति–इच्छा ही विश्व का उपादान व आश्रय

लिए अपने स्वरूप (सामग्री) से अपनी ही प्रकाश-भित्ति (आश्रय) में विविध विश्व-रूपों को प्रकाशित करता है। शैवदर्शन की शब्दावली में परमशिव अपने प्रकाशरूप आश्रय में प्रकाशरूप सामग्री से अपने आपसे अभिन्न विश्व का भिन्न-वत् उल्लासन करता है। इसी पारमार्थिक तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रत्यभिज्ञाहृदय में कहा गया है कि चिति अपनी स्वतंत्र इच्छा से आत्म–भित्ति पर अर्थात् अपनी चिद्‌रूपता (आश्रय) के अन्तर्गत ही अभेदरूप से विश्व को उन्मीलित करती है[1]।

भगवान् परमशिव की यह स्वतन्त्र इच्छा स्वयं अविभक्त रहते हुए भी अपने आपसे अव्यतिरिक्त अशेष सृष्टि-संहार आदि रूपों को दर्पणनगर-न्याय से अपने अन्तर्गत ही व्यतिरिक्तवत् (भिन्नवत्)

युगपत् उन्मेष निमेषमयी इच्छाशक्ति : स्पन्द

प्रकाशित करती है[2]। एक साथ ही अपने अन्तर्गत विश्व का उन्मेष (सर्जन) और निमेष (संहार) करने वाली इस पारमेश्वरी इच्छाशक्ति को स्पन्दशास्त्र में स्पन्द कहा गया है[3]। यह एक होते हुए भी कार्यभेद से अनेक उपाधिरूपा होकर नानात्व को धारण करती है और फिर भी अद्वयरूपा ही रहती है। यही उसकी दुर्घटसम्पादनलक्षणा स्वतन्त्रता है, जिससे परमेश्वर नित्य स्वातंत्र्य-स्वभाव वाला (स्पन्दवान्) है। परमशिव की यह स्पन्दशक्ति स्वयं एक होकर भी चिन्तामणि की तरह अनेकता ग्रहण करती है[4]। इसकी असंख्य-रूपता के विचार से ही तंत्रसार में परमेश्वर की असंख्य शक्तियाँ बताई गई हैं—

---

१. स्वेच्छया स्वाभित्तौ विश्वमुन्मलीयति।

—प्रत्यभिज्ञाहृदय सूत्र २।

२. श्रीभगवतः स्वातंत्र्यशक्तिरविभक्ताप्यशेषसर्गसंहारादिपरम्परां दर्पणनगर-वत्स्वभित्तावेव भावियुक्त्यानधिकामप्यधिकामिव दर्शयन्ती 'स्पन्द' इत्यभिहिता।

—स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ३।

३. सा चैषा स्पन्दशक्ति—युगपदेवोन्मेषनिमेषमयी। वही, पृष्ठ ३-४।

४. सैकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु।—भैदेरनेकताम्।
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी॥

—मालिनीविजयोत्तर तंत्र, अधिकार ३।६ व ९।

शक्तयश्च अस्य असंख्येयाः[१] ।

चिदात्मा परमेश्वर की इन असंख्य शक्तियों में उसकी पाँच ही शक्तियां मुख्य मानी गई हैं[२] । वस्तुतः सचिन्मय एक आत्मा ही स्वतःसिद्ध है, किन्तु समझाने

परमशिव का शक्तिपंचक

के लिए शैव आचार्यों ने उस शक्तिस्वभाव परमेश्वर की शक्ति को मुख्यरूप से पाँच नामों से अभिहित किया है। जगत् की उन्मेष-दृष्टि (आभास-दृष्टि) से परमेश्वर की वे पाँचों शक्तियाँ क्रमशः चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहलाती हैं। काश्मीर शैवदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य श्रीमद् अभिनवगुप्त ने अपने तंत्रसार ग्रन्थ में इस शक्तिपंचक की परिभाषा करते हुए चिदात्मा

चित् शक्ति

की प्रकाशरूपता को उसकी चित् शक्ति कहा है[३] । यह प्रकाशरूपता परमशिव की शुद्ध संविद्रूपता है। अपने इस प्रकाश स्वरूप से ही वह सर्वत्र प्रकाशित होता है और इसी प्रकाशरूप आश्रय में विश्व के समस्त तत्त्वों का प्रकाशन होता है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में आत्मा की उक्त प्रकाशरूपता को सर्वव्याप्त बताया है। प्रकाशरूप आत्मा का इच्छास्फुरण जगत् भी प्रकाशरूप ही है—

प्रकाशात्मा प्रकाश्याऽर्थो[४] ।

क्योंकि आत्मा (परमशिव) के अप्रकाशरूप होने पर तो किसी को किसी प्रकार का प्रकाश (ज्ञान) नहीं होगा और सर्वत्र अन्धता व्याप्त हो जायेगी[५] । अतएव तत्त्वतः आत्मा की प्रकाशरूपता ही सर्वत्र अभेदरूप से अनुस्यूत है और अप्रकाशरूपता की कहीं सत्ता नहीं—

नाप्रकाशश्च सिद्ध्यति[६] ।

परमेश्वर की यह प्रकाशरूपता उसकी विमर्शरूपता से अनुप्राणित है। आग और उसकी दाहकता की भाँति प्रकाशरूपता और विमर्शरूपता में भेद सर्वथा अचिन्त्य है। विमर्श चिदात्मा के प्रकाशस्वरूप की प्रतीति है। यह विमर्श ही

---

१. तन्त्रसार, आह्निक ४, पृष्ठ २८ ।

२. तत्र परमेश्वरः पंचभिः शक्तिभिः निर्भरः । —वही, आ० ८, पृष्ठ ७३ ।

३. प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः । —तन्त्रसार, पृष्ठ ६ ।

४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग १–१।५।३ ।

५. प्रकाशमानता स्वात्मन्यपि वा न स्यात् इति अन्धता जगतः ।
—वही, विमर्शिनी भाग १, पृष्ठ १५५ ।

६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग १–१।५।३ ।

उसका स्वातंत्र्य है, जिससे आत्मा पर-निरपेक्ष होकर स्वात्ममात्र की पूर्णता में विश्रान्त रहता है। पर-निरपेक्ष आत्म-पूर्णता की प्रतीति ही उसका आनन्द है—

स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्दरूपो[1]।

क्योंकि आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार अन्य-निरपेक्षता ही परमार्थतः आनन्द है—

अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः[2]।

सांसारिक भोक्ता को अपने से पृथक्—स्थित भोग्य की अपेक्षा होती है क्योंकि वह अपूर्ण है। उसमें 'पर' की अपेक्षा है। अतएव उसका आनन्द अपने आपमें विश्रान्त न होकर दूसरे की अपेक्षा पर आश्रित है, भोग्योन्मुख है। किन्तु परमशिव से भिन्न तो कुछ है ही नहीं। अतः वह अपने से भिन्न भोग्य की अपेक्षा से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। स्वतंत्र का पूर्ण विमर्श ही उसका स्वातन्त्र्य है और इस स्वातंत्र्य को ही परमशिव का आनन्द या शक्ति कहा गया है[3]।

आनन्दशक्ति

चित्-अंश शिवभाव है और आनन्द-अंश शक्तिभाव है। चित्-अंश (प्रकाश) और आनन्द-अंश (विमर्श) का सामरस्य ही परमभाव है[4]। इस परमभाव को ही शैवागम में परासंवित् या परमशिव कहा गया है। चित्-आनन्द (प्रकाश-विमर्श) के इस सामरस्य में इच्छा, ज्ञान और क्रिया पूर्ण समरसीभूत होती हैं और इस शक्तिसामरस्य में पूर्ण निर्विभागता रहती है[5]। स्वात्मानन्द में विश्रान्त परमशिव का स्वातंत्र्य-स्वभाव (स्वरूप-परामर्शरूप चमत्कार) अपने आपको विश्वात्मभाव से उल्लसित करने के लिए अनुन्मुख होते हुए भी जब विश्व-रचना के प्रति उन्मुखवत् होता है तब उसकी वह अत्यन्त सूक्ष्म अभिलाषामात्र की उन्मुखता 'औन्मुख्य' कही जाती है[6]। इस 'औन्मुख्य' के अतीव सूक्ष्मस्वरूप को स्पष्ट करते हुए आत्मज्ञानी शैवों ने लिखा है कि

---

१. शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ ६।

२. ई० विमर्शिनी भाग १, पृष्ठ २०७।

३. स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः। —तन्त्रसार, पृष्ठ ६।

४. डा० गोपीनाथ कविराज, —कल्याण—शिवांक।

५. सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वर्तते।
चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा॥ —शिवदृष्टि १।४।

६. यदा तु तस्य चिद्धर्मविभवामोदजृम्भया।
विचित्ररचनानानाकार्यसृष्टिप्रवर्तने।
भवत्युन्मुखिता चित्ता सेच्छायाः प्रथमा त्रुटिः॥ —शिवदृष्टि १।७-८।

निस्तरंग शान्त जलके अतितरंगितरूपा अवस्था की ओर उन्मुख होने पर जैसे उसमें पहले एक अत्यन्त सूक्ष्म कम्प होता है, वैसे ही स्वात्म-विश्रान्त पूर्ण संवित् में विश्व-रचना के प्रति अत्यन्त सूक्ष्म अभिलाषामात्र जाग्रत होती है। इस सुसूक्ष्म अभिलाषा का हेतु चिदात्मा की आनन्द-उच्छलित स्वभावक्रीड़ा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उक्त सुसूक्ष्म अभिलाषा के आरम्भ को ही 'औन्मुख्य' संज्ञा दी गई है[1]। समझाने के लिये इस औन्मुख्य को ही इच्छा का प्रथम भाग कहा गया है[2]। वैसे तो परमार्थतः सब कुछ एक ही शक्ति का स्वरूप होने के कारण औन्मुख्य और आनन्दशक्ति में कोई अन्तर (भेद) नहीं है।

औनमुख्य

किन्तु उन्मेष-कथा में आनन्दशक्ति से औन्मुख्य का अतीव सूक्ष्म-सा अन्तर भी कल्पित किया गया है। 'औन्मुख्य' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ऊपर कहा गया है कि अपने स्वरूप में स्थित पूर्ण संवित् का विश्व-रचना के प्रति अभिलाषामात्र की रचना योग्यता का जो प्रथम विकास अर्थात् प्रवृति-आरम्भ है वही 'औन्मुख्य' कहा जाता है। अभिलाषा-मात्र की रचनायोग्यता का प्रवृत्तिआरम्भ एक प्रकार का कर्म है, जिससे यह औन्मुख्य अवच्छिन्न रहता है। किन्तु आनन्दशक्ति में उक्त प्रकार का प्रवृति-आरम्भ (कर्म) नहीं होता। अतः आनन्दशक्ति कर्म से अनवच्छिन्न रहती है। शैवाचार्य उत्पलदेव ने स्पष्टतया लिखा है—

आनन्दशक्ति तथा औन्मुख्य में अन्तर

> कर्मावच्छिन्ना निर्वृतिरौन्मुख्यम् , अनवच्छिन्ना
> निर्वृतिमात्रमानन्दशक्तिरिति यावत्[3]।

औन्मुख्य का उत्तरवर्ती भाग इच्छाशक्ति कहलाता है[4]। इस प्रकार

---

१. यथा जलस्य पूर्वं निस्तरंगस्यातितरंगितां गच्छतः सूक्ष्मः पूर्वः कम्प औन्मुख्यरूपः दृश्यते, तथा बोधस्य स्वस्वरूपस्थस्य पूर्णस्य विश्वरचनां प्रति अभिलाषमात्ररचनायोग्यताया यः प्रथमो विकासः प्रवृत्यारम्भ स्तदौन्मुख्यं प्रचक्षते।

—शिवदृष्टिवृत्ति पृष्ठ १६।

२. (क)—सा तुटिः (उन्मुखिता) इच्छाप्रथमभागः।
सा च (तुटिः) सूक्ष्मौन्मुख्यशक्तिरूपा ॥—शिवदृष्टिवृत्ति पृष्ठ १०—११।
(ख)—तस्यौन्मुख्यस्येच्छा कार्या। तस्य हि योऽसौ उत्तरो भागः सेच्छा व्यवस्थिता। वही, पृष्ठ १६।

३. शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ १७। ४. वही, पृष्ठ १६।

इच्छाशक्ति

परमेश्वर का विश्व-चिकीर्षारूप परामर्श (इच्छात्मक विमर्श) ही उसकी इच्छा-शक्ति है[1]। परमेश्वर के स्वभाव-स्वातन्त्र्यरूप आनन्द के परामर्श की ही संज्ञा 'चमत्कार' है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने परमेश्वर के स्वभाव-ऐश्वर्य (आनन्द) के चमत्कार को इच्छाशक्ति कहा है[2]। इस इच्छाशक्ति से ही चिद्रूप परमेश्वर विभिन्न ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय रूपों में आत्म-अवभासन की इच्छा करता है। वस्तुतः विश्वात्मकभाव से परमेश्वर की उल्लसित होने की अभिलाषरूपता (बहिरुल्लिलासयिषा) ही उसकी इच्छाशक्ति है।

ज्ञानशक्ति

यह इच्छाशक्ति विकसित होकर जब विश्वरूपी कार्य के प्रकाशन की शक्ति बनती है तब इसे ज्ञानशक्ति संज्ञा से अभिहित किया जाता है[3]। ज्ञान—प्रक्रिया के लिए दो पृथक्-पृथक् रूपों की आवश्यकता होती है—ज्ञातृरूप और ज्ञेयरूप। स्वतंत्र चिदात्मा अपने अन्तर्गत ही अपने प्रकाश-रूप (आधार) से अभिन्न दो ज्ञातृ-ज्ञेयरूपों को अवभासित करता है, जो प्रकाशरूप आधार से अभिन्न होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न-वत् प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार ज्ञातृ-ज्ञेयरूपों का अवभासन कर जो शक्ति ज्ञान कराती है, उसे ज्ञानशक्ति कहा जाता है[4]। तंत्रसारमें लिखा है कि चिदात्मा की इच्छाशक्ति (स्वातंत्र्यशक्ति) जब तनिक-सी वेद्योन्मुखी होती है तब वह ज्ञानशक्ति कहलाती है[5]। आचार्य उत्पलदेव के विचारों से भी यही ध्वनित होता है कि ज्ञानशक्ति में किंचित् वेद्योन्मुखता होती है, क्योंकि उन्होंने आभासक्रम में सदाशिवतत्त्व को ज्ञानशक्तिमय माना है[6] और ज्ञानशक्तिमय सदाशिवतत्त्व में

---

१. परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ १८१।

२. तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः। —तन्त्रसार, पृष्ठ ६।

३. परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञानं, तत्प्रकाशनशक्तिरूपता सा ज्ञानशक्तिः। —शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ १८।

४. एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते॥
—मालिनीविजयोत्तरतंत्र, अधि० ३। ६–७।

५. आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः (आमर्ष ईषत्तया वेद्योन्मुखता)।
—तंत्रसार, पृष्ठ ६।

६. ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः। —शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ ३७ व २४।

इदन्तारूप वेद्य की किंचित् (अस्फुट-सी) प्रतीति स्वीकार की है[1]।

परमेश्वर अपने स्वप्रकाशरूप स्वरूप में जिस शक्ति केद्वारा विश्वात्मकभाव से नाना पदार्थों का भेद-अवभासन करता है उस 'भासना' को ही शास्त्रों में क्रियाशक्ति कहा जाता है[2]। प्रार्थी की इच्छानुकूल आकांक्ष्य वस्तुओं को प्रस्तुत करने वाली चिन्तामणि की भाँति क्रियाशक्ति परमेश्वर की यथा-काम सृष्टि के लिए नाना रूप धारण कर असंख्य आभासरूपों को अपने अन्तर्गत प्रकाशित करती है[3]। अतएव यह समस्त विश्वस्फार क्रियाशक्ति का ही स्वरूप है[4]।

क्रियाशक्ति

इस प्रकार पाँच शक्तियों से शक्तिमान् होने पर भी विश्व-आभास में उसकी तीन ही शक्तियाँ प्रमुख हैं। वे तीनों शक्तियाँ इच्छा, ज्ञान, क्रिया हैं[5]। चित्शक्ति (प्रकाश) और आनन्दशक्ति (विमर्श) तो उसके पूर्ण स्वरूप की ही दो संज्ञायें हैं। विमर्श (स्वातन्त्र्य) का प्रकाश (स्वरूपपरामर्श) ही उसकी चिकीर्षारूप इच्छा है और यह इच्छाशक्ति ही विश्व-आभास में उत्तरोत्तर उच्छूनस्वभावता से ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति बनती है[6]। स्वच्छन्द तन्त्र की टीका में आचार्य क्षेमराज ने इस तथ्य को सरल शब्दों में समझाते हुए कहा है कि परमेश की एक स्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति ही जगदाभास-क्रम में तर-

इच्छाशक्ति का तर-तम विकास : ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति

---

१. तत्र सदाशिवतत्त्वे इदंभावस्य ध्यामलता (अस्फुटता)।
—भास्करी भाग २, पृष्ठ २२३

२. भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते।
यया विचित्रतत्त्वादिकलना प्रविभज्यते॥
—मालिनीविजयवार्त्तिक १। ९०।

३. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः। —तंत्रसार, पृष्ठ ६।

४. क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ ४२।

५. एवं मुख्याभिः शक्तिभिः युक्तोऽपि वस्तुत इच्छाज्ञानक्रियाशक्तियुक्तः अनवच्छिन्नः प्रकाशो निजानन्दविश्रान्तः शिवरूपः। —तंत्रसार, पृष्ठ ६।

६. इच्छाशक्तिश्च उत्तरोत्तरं उच्छूनस्वभावतया क्रियाशक्तिपर्यन्ती भवति।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ १७।

तम भाव से ज्ञान और क्रिया शक्तिरूपता से अभिहित होती है[1]। यह इच्छा-रूपा स्वातन्त्र्य-शक्ति ही शिव की शिवता है और जो शिवता (शक्ति) है वही शिव है। इस प्रकार एक परमशिव ही परमार्थसत्ता है क्योंकि जो जगत् है वह तो उसकी शक्ति ही है—

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः[2]।

और शक्ति तथा शक्तिमान् में भेदकल्पना अग्नि-उष्णतावत् असंभव है[3]। अतएव एक परमशिव ही अपनी अद्वयरूपता में सर्वत्र विलसित है।

परमशिव का स्वातंत्र्य-निरूपण

कश्मीर के अद्वैतनिष्ठ शैवों के अनुसार एक परमशिव ही नाना प्रकार की विचित्रताओं के साथ सर्वत्र स्फुरित हो रहा है और उससे भिन्न कुछ भी नहीं है[4]। उसके अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ के स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना तक नहीं की जा सकती[5]। परमशिव ही परमकारण है[6] और उसकी सत्ता स्वतः सिद्ध है, क्योंकि जब सब उसी का लीलाविलास है और वही सब का प्रकाशक है तब उसके अस्तित्व-प्रकाशक की कल्पना ही कैसे की जा सकती है[7]। शैवागम के अनुसार वह नित्य प्रकाश-विमर्शरूप है, यह पूर्व कहा जा चुका है। प्रकाश-स्वरूप के प्राधान्य में वह विश्वोत्तीर्ण है और विमर्शस्वरूप के प्राधान्य से वही विश्वमय है[8]। परमशिव की उक्त विमर्शरूपता ही

स्वातंत्र्यशक्ति : स्पन्द

उसकी स्वात्ममयी स्वातंत्र्यशक्ति है[9]। स्पन्दशास्त्र में परमशिव की इस स्वभावरूपा स्वातंत्र्यशक्ति की संज्ञा

---

१. एकस्या अपि इच्छायाः सूक्ष्मरूपज्ञानक्रियाशक्ति-संभेदेन त्रित्वात्।
—स्वच्छन्दतंत्र टीका, भाग ६, पृष्ठ ७।

२. तंत्रालोक भाग ३—आ० ५।४०।

३. तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव। —बोधपंचदशिका, श्लोक ३।

४. तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा॥—शिवदृष्टि आ० ४।५।

५. स एक विविधेन रूपेणावस्थितो न हि तत्प्रकाशातिरिक्ता कापि कस्यापि कदापि सत्ता अस्तीति। —स्वच्छन्दतंत्र टीका, भाग ६, पृष्ठ २९।

६. शिवः परमकारणम्। —तंत्रालोक आ० १। ८८।

७. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः॥—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा १।१।२।

८. परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः, विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहारेण च अकृत्रिमाहम् इति विस्फुरणम्।
—पराप्रावेशिका, पृष्ठ १-२।

९. एष एव च विमर्शः—चित्, चैतन्यं, स्वरसोदिता परावाक्, स्वातंत्र्यं,

स्पन्द है[1]। यह स्पन्द अचल एवं शान्त परमेश्वर के भीतर शाश्वत एवं अभिन्न समरस भाव से रहने वाली एक चंचलता जैसी कोई उमंग है, जिसे परमेश्वर के प्रकाशरूप की विमर्शरूपता कहा गया है[2]। 'चंचलता जैसी कोई उमंग' कहने का तात्पर्य यह है कि इसके तात्त्विक स्वरूप का बोध तो केवल आत्म-समाविष्ट शैवों की अन्तःस्वानुभूति का ही विषय है। भाषा उसके सही सही स्वरूप को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः असमर्थ है। शान्त समुद्र में पवन के आघात से उठने वाली तरंग की भाँति परमशिव के इस स्पन्द को क्षोभ नहीं समझना चाहिए, क्योंकि जहाँ सर्वत्र परमशिव ही परमशिव है और उससे भिन्न कुछ भी नहीं, वहाँ क्षोभक भी कौन हो सकता है और फिर क्षोभ का मूल कारण तो अपने से भिन्न विषयों की इच्छा होती है। किन्तु परमेश्वर तो सर्वथा परिपूर्ण है। उससे भिन्न कोई वस्तु ही नही तब परमेश्वर में भिन्न वस्तु के प्रति इच्छा ही कैसे हो सकती है[3]। परमेश्वर की स्पन्दरूपा जो उमंग है वह तो उसकी अपनी ही परमेश्वरता के विलास का प्रत्यवमर्श (बोध) है और अपने आप में परिपूर्णता का उसका यह प्रत्यवमर्श (अहन्ता-परामर्श) ही उसका पूर्ण आनन्द है[4]।

स्वात्मानन्द-स्पन्द से विश्व-उल्लासन

इस स्वात्म-आनन्द में सदा विभोर रहता हुआ परमशिव आनन्द के अतिशय से स्पन्दमान (छलकता-सा) रहता है और उसका यह आनन्द-स्पन्दन (छलकना) ही विश्व बन जाता है[5]। परमशिव के आनन्द-उच्छलन

कर्तृत्वं, स्फुरता, स्पन्दः इत्यादिशब्दैरागमेषूद्घोष्यते। —पराप्रावेशिका, पृष्ठ २।

१. श्रीभगवतः स्वातंत्र्यशक्तिः किंचिच्चलत्तात्मकधात्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता। —स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ३।

२. किञ्चिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत्।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना॥
—तंत्रालोक, भाग ३–४ आ० ।१८४।

३. किञ्चिच्चलनं हि नामैतदुच्यते—यद्बोधस्यानन्यापेक्षं स्फुरणं प्रकाशनं, परतोऽस्य न प्रकाशः अपितु स्वप्रकाश एवेत्यर्थः।
—तंत्रालोकविवेक भाग ३, पृ० २१४।

४. सा चैषा स्पन्दशक्तिर्गर्भीकृतानन्तसर्गसंहारैकघनाहन्ताचमत्कारानन्दरूपा।
—स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ३–४।

५. स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्, विश्वमामृशति रूपमामृशन्।
यत्स्वयंनिजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम्।
—शिवस्तोत्रावली, १३ स्तो० १५।

से अवभासित यह विश्व परमशिव में उसी प्रकार अभिन्न रूप से अवस्थित रहता है जिस प्रकार हमारी इच्छावस्था में इष्यमाण पदार्थ हमसे सर्वथा अभिन्न रहता है[1]।

इस प्रकार परमेश्वर अपनी स्पन्दरूपता से अपने परिपूर्ण 'अहम्' के भीतर ही अभिन्न रूप से 'इदम्' रूपात्मक विश्व का अवभासन (उल्लासन) करता है। एक प्रकाशरूप परमेश्वर ही अपने स्पन्द-स्वातन्त्र्य से विभिन्न विचित्र रूपों में प्रकाशित होता है और फिर भी वह वस्तुतः अविचित्र होकर अकेला ही प्रकाशमान है[2]। अपने पूर्ण 'अहम्' में अभिन्न रूप से 'इदम्'रूपात्मक विश्व का अवभासन उसकी अवरोहण-कल्पना की क्रीड़ा है। आरोहण-कल्पना की क्रीड़ा के द्वारा इस 'इदम्' (विश्व) को वह पुनः इस तरह अपनी 'अहन्ता' में लय कर लेता है कि 'इदन्ता' का नाम तक शेष नहीं रहता। 'इदन्ता' का 'अहन्ता' में यह सर्वथा लयीकरण इस दर्शन में परमशिव की प्रकाशरूपता का उन्मेष और विमर्शरूपता का निमेष कहा जाता है। इसी प्रकार स्वात्म-रूप में 'इदन्ता' का अवभासन उसकी प्रकाशरूपता का निमेष और विमर्शरूपता का उन्मेष कहलाता है[3]। विमर्श का उन्मेष सृष्टि का पर्याय है और विमर्श का निमेष प्रलय का[4]। ये सृष्टि और प्रलय प्रतिक्षण परमेश्वर के अन्तर्गत अभिन्न

---

१. यथा हि पुरुषस्य इच्छावस्थायां इष्यमाणः पदार्थः स्वरूपाव्यतिरेकेणैव अवतिष्ठते, तथा भगवतः शक्तौ अनन्तावभासविशेषचित्रं जगत् मनागपि अनुपजातविशेषात् स्वरूपात् अव्यतिरेकेणैव अवतिष्ठते।

—स्पन्दकारिकाविवृति (रामकण्ठकृत) पृष्ठ ५।

२. एकः प्रकाशः स्वातन्त्र्याच्चित्ररूपः प्रकाशते।
वस्तुतश्च न चित्रोऽसौ नाचित्रो भेददूषणात्॥

—मालिनीविजयवार्त्तिक, काण्ड १।७६।

३. श्रीमान्महेश्वरो हि स्वातन्त्र्यशक्त्या शिवमंत्रमहेश्वरमंत्रेश्वरमंत्रविज्ञानाकलप्रलयाकलसकलान्तां प्रमातृभूमिकां तद्वेद्यभूमिकां च गृह्णानः पूर्वपूर्वरूपतांभित्तिभूततया स्थितामप्यन्तःस्वरूपाच्छादनक्रीडया निमेषयन्नेवोन्मेषयति उत्तरोत्तररूपतामवरोहक्रमेण, आरोहक्रमेण तूत्तरोत्तररूपतां निमेषयन्नेव ज्ञानयोगिनामुन्मेषयति पूर्वपूर्वरूपतामतएवोत्तरमुत्तरं पूर्वत्र पूर्वत्र संकोचात्मतां जहद्विकसितत्वेनाभासयति। —स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ४।

४. यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ। —स्पन्दकारिका, का० १।

रूप से स्पन्दित होते रहते हैं[1]। यह स्पन्द ही परमेश्वर की इच्छा है[2], जो वेद्योन्मुखी न होकर स्वरूपोन्मुखी है, क्योंकि परिपूर्ण परमेश्वर से भिन्न किसी भी वेद्यभाव की सत्ता नहीं[3]। स्पन्दरूपात्मक अपनी इस स्वतंत्र इच्छामात्र से ही परमेश्वर अपने पूर्ण शिवभाव के भीतर ही अभिन्न रूप से असंख्य विश्वों का उल्लासन करता हुआ परिमित जीवभाव का अवभासन करता है। यह उसकी अवरोहण कल्पना की क्रीड़ा है और फिर ग्राहक-ग्राह्य (वेदक-वेद्य) आदि रूपों में अवभासित इदन्तात्मक जगत् को आत्मस्वरूप में पूर्णतः निमीलित करके परिमित जीवभाव की कल्पना को मिटा देता है। (जीवभाव का अवभासन परमशिव का स्वकल्पित स्वरूप-प्रच्छादन है और जीवभाव का विलापन उसका स्वरूप-प्रकाशन है।) यह उसकी आरोह-कल्पना की क्रीड़ा है, जिसमें जीवभाव की परिमितता का सर्वथा लोप और परमेश्वरता का प्रकाश होता है। स्वरूप-प्रच्छादन की कल्पना बन्धन की कल्पना है और स्वरूप-प्रकाशन की कल्पना मुक्ति की कल्पना है। बन्धन उसकी अवरोह लीला है और मोक्ष उसकी आरोह-लीला है। बन्धन और मोक्षरूप ये दोनों प्रकार की लीलायें उसकी स्वातन्त्र्य-कल्पनामात्र हैं[4], क्योंकि वस्तुतः जब एक परमशिव ही परमार्थ सत्ता है तब किसका बन्धन और किसकी मुक्ति ? यह सब उस स्वतन्त्र की कल्पना है—उसका ऐश्वर्यरूप स्वातन्त्र्य है। इस प्रकार अपनी इच्छामात्र ही से परमशिव अपने अनाच्छादित स्वरूप को आच्छादित करने में भी समर्थ है और आच्छादन को आत्मस्वरूप में विगलित कर पुनः

स्वात्मरूप में ही अवरोह-आरोहरूप कल्पना की क्रीड़ा

---

१. अतएव प्रतिक्षणं प्रमातृसंयोजनावियोजनावैचित्र्येण परमेश्वरो विश्वं सृष्टिसंहारादिना प्रपंचयति। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग १, पृष्ठ १९५।

२. लेलिहाना सदा देवी सदा पूर्णा च भासते।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेः शक्तिरिच्छात्मिका प्रभोः ॥
—स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ४।

३. अन्यवेद्यमणुमात्रमस्ति न, स्वप्रकाशमखिलं विजृम्भते।
—शिवस्तोत्रावली (उत्पलकृत) स्तो० १३।९।

४. चितिशक्तिरेव भगवती स्वातन्त्र्यात् गृहीतसंकोचा चित्तभूमिं संसारात्मरूपां बहुशाखामाभास्य, पुनः स्वेच्छयैव कचित् संकोचं प्रशमय्य, पूर्णतया स्फुरति इत्येव तत्परं पदम्। —स्तवचिन्तामणिविवृति, पृष्ठ १२७।

५. ग्रश्चायं मोहस्तदपसारणं च यत्, तदुभयमपि भगवत एव विजृम्भामात्रं, न तु अधिकं किंचित। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग १, पृष्ठ ३८।

परिशुद्ध स्वरूप के प्रकाशन में भी सशक्त है। अधिक स्पष्ट शब्दों में कहना चाहें तो कल्पित प्रमातृ-भाव में अपने आपको बाँधने में भी वह समर्थ है और उस बन्धन को हटाकर अपने कल्पित बद्ध-स्वरूप को मुक्त करने में भी समर्थ है[1]।

बन्धन व मोक्ष : स्वातंत्र्य-विलास

विश्व की सृष्टि और प्रलय, बन्धन और मुक्ति की कल्पना उसका स्वातंत्र्य-स्वभाव है[2]। इस स्वातंत्र्य-स्वभाव के ही कारण कश्मीर के शैव दार्शनिकों ने उसे पूर्ण स्वतन्त्र आनन्दघन परम ईश्वर कहा है[3]। अपने उक्त स्वातंत्र्य से वह कहीं क्रम से, कहीं अक्रम से और कहीं विक्रम से अभेद, भेदाभेद और भेदरूप तीनों दशाओं में अवरोहण और आरोहण की क्रीड़ा का अभिनय करता रहता है[4]। विभिन्न भूमिकाओं में स्वेच्छावश लीला-अभिनय करने के कारण ही

आत्मा नर्तक

शिवसूत्रों में उसे नर्तक कहा गया है[5]। अपने अप्रतिहत स्वातंत्र्य के ही कारण परमशिव अपने स्वरूप को प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि नाना रूपों में कल्पित कर अनतिरिक्त को भी स्वात्म-भित्ति पर अतिरिक्तवत् आभासित करता है[6]। जगत् का अपने अन्दर यह आभासन

---

१. स स्वयं कल्पिताकारविकल्पात्मककर्मभिः।
बध्नात्यात्मानमेवेह स्वातन्त्र्यादिति वर्णितम्॥
स्वातन्त्र्यमहिमैवायं देवस्य यदसौ पुनः।
स्वं रूपं परिशुद्धं सत्स्पृशत्यप्यणुतामयः॥
—तंत्रालोक, भाग ८, आ० १३।१०४–१०५।

२. तदेव अस्य पारमैश्वर्यं मुख्यमानन्दमयं रूपम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग १, पृष्ठ ३१।

३. स भगवान् अनवच्छिन्नप्रकाशानन्दस्वातन्त्र्यपरमार्थो महेश्वरः।
—वही, पृष्ठ १४।

४. स्वस्वातन्त्र्येण चैतन्यरूपोऽपि स्वयं जडाजडात्मतामाभास्य नटवत् नाना-प्रमातृतया स्थितः। —परमार्थसार (अभिनवगुप्तकृत) टीका, पृष्ठ ३-४।

५. नर्तक आत्मा। —शि० सू० ३।९।

६. स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मनं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः।
प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत्॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग १—१।५।१६।

और फिर उस आभासित जगत् का अपने अन्दर विलापन ही उसका स्वातंत्र्यरूप कर्तृत्व है[१]। इसी कर्तृत्व-स्वभाव से वह सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रहरूपात्मक पंचविधकृत्यों में निरन्तर संलग्न रहता है[२]। आत्म-विलास के हेतु ऐसा करते हुए भी वह अपने परिपूर्ण स्वातंत्र्य (परिशुद्ध-स्वभाव) से तनिक भी च्युत नहीं होता और नित्य पूर्ण अहन्ता के परामर्श में ही विश्रान्त रहता है[३]। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह उसका पंचरूपात्मक स्वातंत्र्य है और यही उसका ऐश्वर्य है। इस ऐश्वर्य की क्रीड़ा में वह अपनी स्पन्दशक्ति से पूर्ण समर्थ है। स्पन्दवान् परमशिव के स्पन्द का उल्लासरूप यह समस्त विश्व उसकी परमेश्वरता का ही एक अंग है। इस प्रकार सभी परमेश्वर में हैं और सभी में परमेश्वर है। सब कुछ परमेश्वर है और परमेश्वर ही सब कुछ है[४]। वह विश्वात्मक भी है और विश्वोत्तीर्ण भी। यही उसका स्वातंत्र्य है और यह स्वातंत्र्य ही उसका स्वभाव है। यह स्वभावस्थानीय

पंचविधकृत्य : स्वभाव-स्वातंत्र्य

---

१. कर्तृत्वं चैतदेतस्य तथामात्रावभासानम्।

—तंत्रालोक भाग ६—आ० ९।२२।

२. (क) एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान्सृष्टिसंहारान्विधत्ते युगपद्विभुः॥

—बोधपंचदशिका, श्लो० ४।

(ख) शिवादिक्षितिपर्यन्तं विश्वं वपुरुदंचयन्।
पंचकृत्यमहानाट्यरसिकः क्रीडति प्रभुः॥

—अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका, श्लोक २।

३. निग्रहीतानुग्रहीततत्तत्प्रमातृंस्तत्तत्प्रमेयजातं च स्वभित्तौ दर्पणनगरवत् स एवोट्टंकयन् पंचकृत्यकारितां निर्भासयन्नपि न मनागपि अतिरिच्यते।

—स्वच्छन्दतंत्र टीका, भाग ३, पृष्ठ ९६।

४. स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग १—आ० ५।१३।

५. निराशंसात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यद्
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभक्तुं निजकलाम्।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुष
स्तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्म-निखिलम्॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग १, श्लोक १।

स्वातंत्र्य ही परमशिव की सत्ता का प्रमाण है[1]। यदि परमेश्वर सृष्टि आदि पंचविधकृत्यात्मक क्रीड़ा नहीं करता और आकाशवत् सदैव एकरूप ही अवस्थित रहता तो वही एक होता और कोई जीव नहीं होता। फिर तो उसकी परमेश्वरता ही कहाँ होती ? फिर तो वह भी होता या नहीं होता, इस बात का निर्णय भी कौन करता ? वस्तुतः स्वभाव के अभाव में स्वभावी की सत्ता भी तो सर्वथा अचिन्त्य है[2]। अतएव स्वातंत्र्य ही शिव है और शिव ही स्वातंत्र्य है।

विश्वाभास

विश्व के आविर्भाव (सृष्टि) और तिरोभाव (प्रलय) के गूढ़ प्रश्न को सुलझाने के लिए भारतीय दर्शन के प्रवर्त्तकों और उनके अनुयायियों ने अपने ढंग से विभिन्न प्रयत्न किये हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शन परमाणु को जगत् का उपादान कारण बताते हुए मिट्टी से घड़े की भाँति परमाणु के 'द्व्यणुक' आदि संयोग-क्रम से जगत् की उत्पत्ति (नवीन कार्य) मानते हैं। उनके अनुसार परमाणुरूप कारण से जगद्रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। परमाणुओं के संयोग से जगद्रूपी सर्वथा नवीन कार्य की उत्पत्ति (आरम्भ) मानने से उनकी जगत् विषयक दार्शनिक दृष्टि आरम्भवाद कही जाती है[3]। सांख्यदर्शन आरम्भवाद के सिद्धान्त को असंगत बताते हुए सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के आधार पर जगत् को प्रकृति का परिणाम मानता है। इस दर्शन के अनुसार कार्य कारण में ही अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। अतएव जगत् की नवीन उत्पत्ति अथवा आरम्भ मानना अनुचित है क्योंकि जो पहले से ही 'सत्' रूप है उसका आरम्भ कैसा ? सांख्य दर्शन के अनुसार 'सत्' प्रकृति का परिणाम जगत् भी 'सत्' रूप ही है। अतः परिणामवाद ही युक्तियुक्त है[4]। किन्तु सांख्य दर्शन द्वैतवादी होने के कारण आध्यात्मिक चिन्तन का उत्कृष्ट फल नहीं कहा जा सकता। फिर, इस दर्शन के अनुसार उस

षडदर्शन और विश्व-उन्मेष

आरम्भवाद

परिणामवाद

---

१. तथाहि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ॥
—ई० प्रत्यभिज्ञा आ० १।४

२. अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद् घटादिवत् ॥
—तंत्रालोक, भाग २, आ० ३।१००-१०१।

३. भारतीय दर्शन, पृष्ठ २६९। ४. वही, पृष्ठ ४४७।

प्रकृति को जड़ माना गया है जिसका परिणाम जगत् है और पुरुष चेतन होते हुए भी प्रकृति से निर्लिप्त और असंग बताया गया है। अतएव चेतन के अभाव में जड़ प्रकृति का जगत् रूप में परिणमित होना सर्वथा अतर्क्य एवं असम्भव प्रतीत होता है। मीमांसा दर्शन जगत् को सत्य मानता है और वेद के द्वारा प्रतिपादित स्वर्ग, नरक आदि अनेक अतीन्द्रिय विषयों की भी सत्ता मानता है। अतः वह वस्तुवादी ही नहीं, प्रत्युत अनेक वस्तुवादी (प्लुरलिस्टिक) दर्शन है[1]। वेदान्त दर्शन उक्त दर्शनों के आरम्भवाद, परिणामवाद तथा अनेकवस्तुवाद को भ्रान्ति पर प्रतिष्ठित मानता है[2]। उसके अनुसार केवल एक ब्रह्म ही सत्य है और उस एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त सभी स्वप्नोपम हैं[3]। वेदान्त दर्शन (शांकर अद्वैत) के मत में यह समस्त नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म का विवर्त है[4] और इसकी प्रतीति रज्जुसर्पवत् है। रज्जु में सर्प की प्रतीति जिस प्रकार अविद्याजन्य होने के कारण सत् नहीं कही जा सकती उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् की प्रतीति भी मायाजन्य होने के कारण सत् नहीं कही जा सकती। इस प्रकार असत्यरूप जगत् का निर्भासन ही विवर्तवाद का प्रतिपाद्य है[5]। किन्तु विचार करने पर अद्वैत वेदान्त दर्शन का यह विवर्तवाद भी सर्वथा असंगत ही प्रतीत होता है क्योंकि असत्य-रूप का सत्ता के अभाव में प्रकाशन नहीं होता। असत् सद्‌रूप में कैसे प्रकाशित हो सकता है ? जगत् यदि असत् होता तो प्रमाता को उसका प्रकाश कथमपि संभव न था। परन्तु प्रमाता को जगत् का निर्भासन (प्रकाशन) होता है। अतः जगत् को किसी भी प्रकार असत्य (असत्) नहीं कहा जा सकता[6]।

अनेकवस्तुवाद

विवर्तवाद

विवर्तवाद की इस महती असंगति की ओर अंगुलि-निर्देश करते हुए कश्मीर के शैव आचार्यों ने प्रमाण, आगम और तुरीय अवस्था की स्वानुभूति के बल पर परमेश्वर के जिस पूर्ण एवं सत्य स्वरूप की व्याख्या की है वह

१. भारतीय दर्शन पृष्ठ ४१३। २. वही, पृष्ठ ४६९।

३. धर्मा ये इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः।
जन्म मायोपमं तेषां, सा च माया न विद्यते ॥
—गौडपादकारिका, ४।५८।

४. भारतीय दर्शन पृष्ठ ४७०।

५. विवर्तो हि असत्यरूपनिर्भासात्मा इत्युक्तम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ ९।

६. निर्भासते च असत्यं च इति कथमपि न चिन्ततम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग १ पृष्ठ ९।

विश्वोत्तीर्ण होते हुए भी विश्वात्मक है और परमशिव अपने परमस्वरूप में अवस्थित रहते हुए ही नानारूपों में आत्म-अवभासन करता है[1]। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि परमशिव विश्वोत्तीर्ण होकर भी विश्वात्मकभाव से नाना रूपों में कैसे स्फुरित होता है? और इस प्रकार स्फुरित होने की स्थिति में उसकी अद्वयता कैसे खण्डित नहीं होती?

विश्वोन्मेष में शैवदृष्टि

उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए शैवशास्त्रों में कहा गया है कि जिस प्रकार शान्त निस्तरंग महासमुद्र अपने स्वरूपभूत जल को अपने अन्तर्गत ही असंख्य वीचिमालाओं के रूप में आभासित करता है उसी प्रकार परमशिव अपनी अखण्ड प्रकाशरूपता के अन्तर्गत अपनी स्पन्दरूपा इच्छाशक्ति को उल्लसित करके अपने स्वरूप को ही विश्वभाव से आभासित करता है[2]। वीचिमालाओं के रूप में उल्लसित जल अपने आधार रूप जलसंघात से पूर्णतः अभिन्न होते हुए भी तरंग रूपों में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। वैसे ही विश्वरूप में भासमान प्रकाश अपने स्वरूप अर्थात् आधारभूत महाप्रकाश से सर्वथा

परमशिव और विश्व में पूर्ण अभेद

अभिन्न होते हुए भी प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूपों में परस्पर भिन्नवत् आभासित होता है। वीचित्वविशिष्ट जल और निश्चलत्वविशिष्ट जल में व्यवहार के लिए भेद मानने पर भी वस्तुतः जैसे जलत्व की दृष्टि से कोई भेद नहीं उसी प्रकार विश्वमय चैतन्य और विश्वोत्तीर्ण चैतन्य में भी भेद नहीं[3]। एक परमशिव ही शिवतत्त्व से लेकर क्षितिपर्यन्त सर्वत्र अपने

---

१. नानाभावैः स्वमात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः।
चिद्व्यक्तिरूपकं नानाभेदभिन्नमनन्तकम्॥
—शिवदृष्टि, आ० ५। १०९।

२. तेन बोधमहासिन्धोरुल्लासिन्यः स्वशक्तयः।
आश्रयन्त्यूर्मय इव स्वात्मसंघट्टचित्रताम्॥
—तन्त्रालोक भाग २, आ० ३।१०२–१०३।

३. (क) अथवाम्बुधिवीचिवत्।
तत्र वीचित्वमापन्नं न जलं जलमुच्यते।
न च तत्राम्बुरूपस्य वीचिकाले विनाशिता॥
—शिवदृष्टि, आ० ३।३७–३८।

(ख) यथाम्बुधेस्तरंगाणां चैक्येऽपि व्यवहारभेदस्तथा शिवस्य विश्वस्य च। —शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ ११३।

स्वरूप का ही आभासन करते हुए स्वातंत्र्य-लीला में मग्न है[1]। विश्वात्मक भाव से अपने विमर्श का प्रकाशन (आभासन) ही परमशिव का स्वातंत्र्य है[2]। शिवाद्वैत दर्शन के इसी स्वातंत्र्य सिद्धान्त को, जगत् की आभाससारता के विचार से, कुछ अर्वाचीन विद्वानों ने आभासवाद कहा है[3]। परमशिव में जगत् की अभिन्न स्थिति को समझाते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि जिस प्रकार दर्पण में परस्पर पृथक् पृथक् रूप से प्रतिबिम्बित ग्राम, नगर, नदी, वृक्ष आदि दर्पण से अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् अवभासित होते हैं, उसी प्रकार परमशिव अपने स्वातंत्र्य-माहात्म्य से अपने अन्तर्गत अभिन्न भाव से अवस्थित विश्व वैचित्र्य को भिन्नवत् आभासित करता है[4]। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि दर्पण स्वतः प्रकाशमान नहीं होता। अतः अपने अन्तर्गत किसी वस्तु को प्रतिबिम्बित करने के लिए उसे प्रकाश के साथ बाह्य बिम्ब की भी अपेक्षा होती है क्योंकि लोक में प्रतिबिम्ब की सत्ता बाह्य बिम्ब पर अवलम्बित रहती है। किन्तु परमशिव में प्रकाशरूपता के साथ विमर्शरूपता भी है। अतः वह सर्वथा स्वतंत्र है, अन्यनिरपेक्ष है। अपने अन्दर प्रकाश-ऐकात्म्य से स्थित समस्त विश्व को अपने ही अन्तर्गत प्रतिबिम्बित करने के लिए उसे अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि अपेक्षा अपूर्ण में होती है। वह तो सर्वथा परिपूर्ण है। पर-अनपेक्षा ही उसका स्वातंत्र्य है, जिससे वह अपने आपको विभक्त किये बिना ही समस्त विश्व-वैचित्र्य को आत्मभित्ति पर आभासित

---

१. परमेश्वरः वस्तुतः क्रमराहित्येऽपि विश्वसृष्टौ आभासनमात्रसारेण पारमार्थिककार्यकारणभावेन क्रममपि उद्भावयन्, अनाख्यत्वेऽपि स्वेच्छयैव स्वात्मभित्तौ तत्तच्छिवादितत्त्वाभिख्याम् अवभासयति।

—षट्त्रिंशत्तत्वसंदोह, पृष्ठ १।

२. इदमेव हि परं स्वातंत्र्यं—यत् स्वं स्वरूपं वेदकमेव सत् वेद्यत्वेन अवभासयति।

—तंत्रालोकटीका, भाग १, पृ० २०९।

३. (क) अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासोफिकल स्टेडी, पृष्ठ १९६।

(ख) काश्मीर शैविज्म, पृष्ठ ६०।

४. निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादयः।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥

—तंत्रालोक भाग २, आ० ३।४।

करता है[1]। शैवदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में कहना चाहें तो इसे यों कह सकते हैं कि परमशिव अपनी 'अहन्ता' के अन्तर्गत ही 'इदन्ता' का उल्लासन करता है। दर्पणनगरन्याय से परमशिव से भिन्न न होते हुए भी भिन्नवत् आभासित होने वाले विश्व के समस्त पदार्थ आभासरूप कहे गये हैं, क्योंकि ये परमशिव के द्वारा आभासित किये जाते हैं[2]। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीकार ने भी लिखा है कि चिदात्मा ही समस्त पदार्थों को अपने प्रकाशरूप दर्पण में प्रतिबिम्बवत् आभासित करता है[3]। स्पन्दसंदोह के रचयिता आचार्य क्षेमराज के अनुसार प्रकाशात्मा परमशिव के विश्वोत्तीर्ण स्वरूप की संसृति या संहृति नहीं होती, अपितु परमेश्वर में 'इदम्' रूपात्मक जो आभास्य है उसी का उन्मेष और निमेष होता है[4]। शैवशास्त्र में उक्त उन्मेष और निमेष ही क्रमशः सर्जन (सृष्टि) और संहार (प्रलय) कहे जाते हैं[5]। अतएव सृष्टि, संहार आदि को आभास्यनिष्ठ होने के कारण आभास का सार बताया गया है। विश्वात्मकरूप में अपनी परमेश्वरता (शक्ति) का यह आभास ही परमेश्वर का स्वात्म-विनोदन है और उसकी यह आभास-लीला (विश्वलीला) ही जीवों के लिये परमशिव की सत्ता की द्योतक है[6]।

विश्व के पदार्थों की आभासरूपता

आभास्य का ही उन्मेष-निमेष

इस प्रकार जगत् परमशिव का परिणाम या विवर्त न होकर स्वातन्त्र्य है, जिसे पदार्थों की आभाससारता के विचार से आभास संज्ञा दी गई है। जगत् परमेश्वर का आभास है किन्तु शैवशब्दावली में परिगृहीत 'आभास' है। अद्वैत वेदान्त की भाँति मिथ्या-

शैवों का आभासवाद और वाद संज्ञा का तात्पर्य

---

१. स्वतंत्रः कर्ता स्वशक्त्यैव स्वभित्तौ सर्वमाभासयतीत्यर्थः।
—स्वच्छन्दतंत्रटीका, भाग ६, पृष्ठ ४।

२. तेन भगवता यथा दर्पणादौ आभासमात्रसारा एव भावा अवभास्यन्ते तथा संवित्तावपीति। अतः सर्वमेवैतदाभासमात्रसारमेवेति।
—तंत्रालोकटीका, भाग २, पृष्ठ २९-३०।

३. चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवदाभासयति—इति सिद्धान्तः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भा० २, पृष्ठ १५३।

४. प्रलयादिकं च आभास्यनिष्ठं आभाससारमेव, न तु प्रकाशात्मनोऽस्य परमेश्वरस्य तत् किंचित्। —स्पन्दसंदोह, पृष्ठ ११।

५. यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां, जगतः प्रलयोदयौ। —स्पन्दकारिका १।१।

६. सदा सृष्टिविनोदाय सदास्थितिसुखासिने।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय भवते नमः॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ १९५।

प्रतीति के आभासमात्र (प्रतीतिमात्र) के अर्थ में शैवों के 'आभास' को ग्रहण करना अनुचित होगा। यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक होगा कि काश्मीर शैवदर्शन का उक्त आभासवाद न्यायदर्शन की भाँति, 'वाद' नहीं है, जिसमें किसी 'अभ्युपगम' (किसी कल्पित सत्ता की स्वीकृति) का आश्रय लेना पड़ता है। न्यायदर्शन के अनुसार अभ्युपगम के आधार पर ठहराये गये सिद्धान्त को 'वाद' कहते हैं[1]। किन्तु काश्मीर शैवदर्शन में किसी अभ्युपगम का आश्रय नहीं लेना पड़ता। इस दर्शन के अनुसार तो जिज्ञासु उस वस्तु से गवेषणा प्रारम्भ करता है जो स्वतः सिद्ध है। यह तो वस्तुस्थिति के अभिनन्दन का ही दृष्टिकोण है[2]। अतः कश्मीर के शैव आचार्यों ने इसे 'वाद' न कहकर 'आभास सिद्धान्त' नाम दिया है[3]।

आभास का हेतु

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि परमशिव यदि सर्वथा परिपूर्ण है और उसमें किसी भी प्रकार की अभिलाषा नहीं तो फिर उसके जगदाभास करने का हेतु क्या है? उक्त प्रश्न की संभावना का उत्तर-सा देते हुए शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने लिखा है कि विश्वरूप से आत्म-स्वरूप का आभास करना ही परमशिव की शिवता है और यह शिवता या परमशिवता ही उसका नित्यस्वभाव है[4]। अपने इस प्रकार के स्वभाव के कारण ही वह विश्व का आभास करने में पूर्णतः परनिरपेक्ष है[5]। परमशिव के ऐसे स्वभाव के सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि वह ऐसा क्यों है? उक्त प्रकार का प्रश्न वैसे ही मूर्खतापूर्ण होगा जैसे अग्नि के सम्बन्ध में यह प्रश्न करना कि यह क्यों जलती है? जलना आग का स्वभाव

---

१. प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहो वादः। (परिग्रहोऽत्राभ्युपगमः) न्यायसूत्र १।२।१।

२. अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने॥
—शिवदृष्टि आ० १।१।

३. देखिए, पृष्ठ ६१ की पादटिप्पणी २।

४. महाप्रकाशरूपा हि येयं संविद्विजृम्भते।
स शिवः शिवतैवास्य वैश्वरूप्यावभासिता॥
—तंत्रालोक, भाग ९, आ० १५।२६५–२६६।

५. एवंस्वभावत्वादेव च अस्य न अत्र परापेक्षा इति।
—तन्त्रालोक टीका, भाग ९, पृष्ठ १३१।

है और उसके इस ज्वलनशील स्वभाव में परिवर्तन नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी पदार्थ के स्वभाव में परिवर्तन का तात्पर्य होगा उसके अस्तित्व की समाप्ति[1]। अतएव निष्कर्ष यह है कि जैसे अग्नित्व अग्नि का स्वभाव है उसी प्रकार विश्व का आभास करना (विमर्श का प्रकाश करना) परमशिव का स्वभाव है[2]। परमशिव का यह स्वतंत्र स्वभाव ही उसकी पंचकृत्यात्मक क्रीड़ा है, जिसका उद्देश्य उसके स्वात्म-उल्लास के अतिरिक्त और कुछ नहीं। निराकांक्ष परिपूर्ण परमशिव की स्वातन्त्र्य-क्रीड़ा के उद्देश्य को समझाते हुए आचार्य सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' में लिखा है कि जैसे अपरिमित ऐश्वर्य के चमत्कार (बोध) से परितृप्त कोई सार्वभौम राजा सब प्रकार के वाहन आदि साधनों के स्वाधीन होने पर भी अपने निरर्गल एवं पूर्ण तृप्त स्वभाव की स्वतन्त्र लीलावश पैदल चलता है—पैदल चलने की क्रीड़ा करता है। (उसके पैदल चलने का उद्देश्य स्वात्म-विनोदन के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?) उसी प्रकार परमेश्वर स्वात्मपूर्णता के स्वातन्त्र्य के कारण अपने आपके आनन्द में ही स्पन्दित-सा रहता है और अपने अन्तर्गत अपनी निरर्गल इच्छामात्र से ही उन्मीलित शिवतत्त्व से लेकर धरणिपर्यन्त अपने स्वरूपभूत प्रमातृ-प्रमेय आदि विभिन्न रूपों से क्रीड़ा करता है[3]। विश्वाभास की सृष्टि-संहारात्मक यह क्रीड़ा ही उसका

आभासवाद की शैवसंज्ञा : स्वातन्त्र्यवाद

---

१. (क) देव एव तथासौ चेत् स्वरूपं चास्य तादृशम्।
तादृक्प्रथास्वभावस्य स्वभावे कानुयोज्यता ॥
—तंत्रालोक, भाग ८, आ० १३।१०७।

(ख) अतत्स्वभाववपुषः स स्वभावो न युज्यते।
—वही, भाग ६, आ० ९।१४।

२. तथाभासनयोगोऽतः स्वरसेनास्य विजृम्भते।
—वही, भाग ९, आ० १५।२६६।

३. यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः।
क्रीडन्करोति पादातधर्मांस्तद्धर्मधर्मतः।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ॥
—शिवदृष्टि, आ० १।३७-३८।

स्वातंत्र्य है[1] और उसका यह स्वातन्त्र्य ही आभास का एकमात्र हेतु है। परमशिव के इसी स्वातन्त्र्य को लक्ष्य करके काश्मीर शैवदर्शन के आचार्यों ने इसे आभासवाद नाम न देकर स्पष्टतया 'स्वातन्त्र्यवाद' संज्ञा से अभिहित किया है[2]।



१. एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान्सृष्टिसंहारान्विधत्ते युगपद् विभुः॥
—बोधपंचदशिका, श्लो० ६।

२. प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यात् एव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयतया च अनतिरिक्तयापि अतिरिक्तेव स्वरूपानाच्छादिकया संवित्स्वरूपनान्तरीयकस्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ ९।

अध्याय ३

जगदाभास के तत्त्वों का निरूपण

परमशिव प्रकाशरूप है और विमर्श उसका स्वतन्त्र स्वभाव है[1]। विमर्श नामक अपने इस अनन्योन्मुख स्वातंत्र्य-स्वभाव से वह अपनी पूर्ण अहन्ता के आनन्द में अहर्निश स्पन्दमान रहता है[2]। परिपूर्ण अहन्ता की अपनी इस स्थिति से तनिक भी च्युत न होते हुए ही वह अपने आनन्द-स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए आत्म-स्वरूप को ही प्रमातृ-प्रमेय के विभिन्न रूपों में अवभासित करता है[3]। उसके आनन्द-स्वभाव की यह अभिव्यक्ति ही उसकी शक्ति का स्फार है[4]।

परमशिव के आनन्द स्वभाव की अभिव्यक्ति

इस स्वभाव-अभिव्यक्ति की लीला में वह 'अहम्' रूप में अर्थात् प्रमाता के रूप में अनन्त प्रकारों से अवस्थित रहता है[5]। प्रमातृ-रूप में परमेश्वर के स्वभाव-विकास के उन अनन्त प्रकारों को सात वर्गों में विभाजित किया गया है और वे सात वर्ग ही शिव से लेकर 'सकल' तक सात प्रमाता हैं[6]। परमेश्वर के स्वभाव के उक्त अवभासन में प्रमातृरूपों की भाँति प्रमेय-रूप भी अनन्त प्रकारों से अवस्थित रहते हैं। प्रमेयरूप या प्रमेयवस्तु के उन अनन्त प्रकारों को आगमों ने छत्तीस वर्गों में विभक्त किया है। प्रमेय-रूपों के उन ३६ वर्गों को ही पारि-

---

१. परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः।
—पराप्रावेशिका, पृष्ठ १।

२. परमेश्वरः पूर्णत्वात् स्वत आनन्दघूर्णितैस्तैस्तैर्भूतभेदात्मभिः प्रकारैरेवमेतत्सदृशं क्रीडति। हर्षानुसारी स्पन्दः क्रीडा। —शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ २९।

३. तस्मात् प्रकाश एवासौ गीतो यः परमः शिवः।
स एवाचिन्त्यमहिमा स्वातन्त्र्योद्दाम-घूर्णितः॥
—मालिनीविजयवार्त्तिक १।६९-७०।

४. सर्व एवायं विश्वप्रपंच आनन्दशक्तिस्फारः।
—तंत्रालोक भाग २, पृष्ठ २०१।

५. स्वस्वातन्त्र्येण चैतन्यरूपोऽपि स्वयं जडाजडात्मतामाभास्य नटवत् नानाप्रमातृतया स्थितः। —परमार्थसार टीका, पृष्ठ ३-४।

६. आशिवात्सकलान्तं ये मातारः (प्रमातारः) सप्त।
—तंत्रालोक आ० १०।१८।

भाषिक शब्दावली में ३६ तत्त्व कहते हैं[1]। तत्त्व की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि स्वकीय कार्य में, धर्मसमुदाय में अथवा स्वसदृश गुणवाली वस्तु में सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को तत्त्व

तत्त्व

कहते हैं[2]। जैसे पृथ्वीतत्त्व गिरि, वृक्ष, ग्राम, पुर प्रभृति में सर्वत्र पृथिवीरूपता से अनुस्यूत है और नदी, सर, सागर आदि पदार्थों में जो अप्रूपता की व्याप्ति है वही अप्तत्त्व है[3]। अवरोहक्रम से परमेश्वर स्वेच्छा से अपने अन्तर्गत विश्ववैचित्र्य के जिन ३६ तत्त्वों का आभासन करता है वे तत्त्व ये हैं—(१) शिवतत्त्व, (२) शक्तितत्त्व, (३) सदाशिवतत्त्व, (४) ईश्वरतत्त्व, (५) शुद्धविद्यातत्त्व, (६) माया, (७) कला, (८) विद्या, (९) राग, (१०) काल, (११) नियति, (१२) पुरुष, (१३) प्रकृति, (१४) बुद्धि, (१५) अहंकार, (१६) मन, (१७) श्रोत्र, (१८) त्वक् (१९) चक्षु, (२०) जिह्वा, (२१) घ्राण, (२२) वाक्, (२३) पाणि, (२४) पाद, (२५) पायु, (२६) उपस्थ, (२७) शब्द, (२८) स्पर्श, (२९) रूप, (३०) रस, (३१) गन्ध, (३२) आकाश, (३३) वायु, (३४) वह्नि, (३५) सलिल, (३६) पृथिवी।

जगत् के आभास का उपर्युक्त तत्त्व-विभाजन मायाप्रमाता के प्रत्यक्ष अनुभव या अनुमान पर आधारित न होकर शैवागम-सिद्ध है[4]। आगमसिद्ध कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि यह तत्त्व-ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण अथवा अनुमानप्रमाण द्वारा प्राप्य नहीं है। तुरीयदशा को प्राप्त शिवस्वरूप योगिजनों का स्वसंवेदन ही इस सम्बन्ध में एकमात्र प्रमाण

तत्त्व-विभाजन का आधार

है। विश्व की आभास-रूपता में तत्त्वों का जो ऊपर क्रम रखा गया है वह वस्तुतः अक्रम में ही क्रम का आभास है[5]। मालिनीविजयोत्तरतंत्र में तत्त्वों के उपर्युक्त क्रम-विधान

---

१. भिन्नानां वर्गाणां वर्गीकरण-निमित्तं यदेकमविभक्तं भाति तत्तत्त्वम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १९२।

२. स्वस्मिन्कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद्व्याप्तृभावतः॥
तत्तत्त्वं। ……………………… तंत्रालोक भाग ६—९।४-५।

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १९२।

४. अनुमानमप्येवम् आगमस्त्वपरिच्छिन्नप्रकाशात्मकमाहेश्वरविमर्शपरमार्थः किं न पश्येत्। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ १८६।

५. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, पृष्ठ १।

का आधार पूर्व-पूर्व तत्त्वों की उत्तर-उत्तर तत्त्वों से गुणोत्कृष्टता बताई गई है[1] क्योंकि विज्ञानभैरव के अनुसार आभासक्रम में पूर्व-पूर्व तत्त्व उत्तर-उत्तर तत्त्वों में सर्वत्र व्यापकभाव से अवस्थित रहते हैं, जैसे घट इत्यादि में मिट्टी रहती है[2]। ऊपर परमेश्वर के जिस स्वभाव का उल्लेख किया गया है अपने उस स्वतंत्र स्पन्द-स्वभाव से वह अवरोह की ओर उन्मुख होते हुए पहले अभेद से भेदाभेद भूमिका पर और फिर वहाँ से भेद-भूमिका पर अपने स्वातंत्र्य के स्फाररूप विश्व को अवभासित करता है[3]। उक्त तीनों भूमिकाओं में अवरोह-क्रम से अवभासित तत्त्वों का स्वरूप-निरूपण आगे किया जायगा।

अभेद भूमिका

परमशिव शुद्ध अद्वैत की तत्त्वातीत स्थिति है। जिसे न शिव कहा जा सकता है और न शक्ति। न उसके लिए विश्वोत्तीर्ण संज्ञा का प्रयोग किया जा सकता है और न विश्वमय संज्ञा का[4]। उस तत्त्वातीत की भावना और उपदेश तक करना संभव नहीं[5]। वह सामरस्य की एक ऐसी परमस्थिति है जिसमें शक्ति और शक्तिमान् जैसे दो शब्दों की कल्पना तक नहीं की जा सकती। इसी कारण उस तत्त्वातीत वस्तुस्थिति को शैवागम-ग्रन्थों में सर्वथा अकथ्या कहकर 'अन्तःस्वानन्दगोचरा' मात्र बताया गया है। जिस प्रकार अनन्त पत्रों, पुष्पों, शाखाओं वाला विशाल वटवृक्ष अपनी बीज-अवस्था में

---

१. यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्व उच्यते।
—मालिनीविजयोत्तरतंत्र, अधि० २।६०।

२. क्रमेऽपि च पूर्वं पूर्वं उत्तरत्र व्यापकतया स्थितं मृदिव घटादौ।
—विज्ञानभैरव विवृति, पृष्ठ ४७।

३. स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ १४।

४. तत्त्वतो न नवात्मासौ शब्दराशिर्न भैरवः।
न चासौ त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः॥
दिक्कालकलनोन्मुक्ता देशोद्देशा विशेषिणी।
व्यपदेष्टुमशक्यासा-वकथ्या परमार्थतः॥
अन्तः स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा।
यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः॥
—विज्ञानभैरव, का० ११-१५।

५. नात्र योगस्य सद्भावो भावनादेरभावतः।
अप्रमेयेऽपरिच्छिन्ने स्वतन्त्रे भाव्यता कुतः॥
—तन्त्रालोक भाग ७–१० आ० २७९।

पूर्ण सामरस्य भाव से वट-बीज में अवस्थित रहता है, उसी प्रकार ३६ तत्त्व समरसरूपता से परमशिव में अन्तर्निहित रहते हैं[1]।

अनन्योन्मुख स्वात्म-आनन्द के अतिशय में घूर्णमान परमशिव के आनन्द-उच्छलन से सामरस्य की स्थिति में ही जब उसका स्वरूप प्रकाशरूपता या विमर्शरूपता के प्राधान्य से प्रकाशित होता है तभी अपने परम-

शिव स्वरूप में स्थित परमशिव के लिए 'शक्तिमत्' और 'शक्ति' अथवा विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय, इन दो स्वरूप-व्यंजक शब्दों का प्रयोग संभव हो सकता है। प्रकाश विमर्श से अनुप्राणित है और विमर्श प्रकाश से।[2] विमर्श के द्वारा समस्त तत्त्वों में होने वाले अनन्त सृष्टि-संहारों को दर्पण-नगरवत् आत्मस्वरूप में ही अभिन्न भाव से प्रतिबिम्बित करने में सशक्त शिव का जो प्रकाश-विमर्शरूप है वह वस्तुतः अनाभासरूप ही है, किन्तु उपदेश और भावना आदि में प्रकाश-विमर्श के स्वातंत्र्य-रूप से भासमान होने के कारण शिवतत्त्व कहा जाता है[4], अर्थात् शिव का प्रकाश-विमर्श-रूप वस्तुतः भासना से अतीत है, किन्तु परतत्त्व के उपदेश या भावना में प्रकाश-विमर्श रूप से जो भासमान हो जाता है या जिसकी भासना हो जाती है उसी को शिवतत्त्व कहते हैं। षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह में कहा गया है कि स्वतन्त्र चिद्घन संवित्स्वभाव परमेश्वर अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से जब अक्रम में ही आभासरूप से अर्थात् पारमार्थिक कारणकार्यभाव से अपने स्वरूप को ही अपने अन्तर्गत अखिल विश्वरूप में अव-भासित करने की इच्छा करता है तब उसकी विश्वोन्मीलन की उस आद्या इच्छा-अवस्था को ही शिवतत्त्व कहते हैं। विश्वोन्मीलन की ओर उन्मुख परमेश्वर की उक्त आद्या इच्छावस्था की ही पारिभाषिक संज्ञा प्रथम स्पन्द है[5] विश्वोन्मीलन के

---

१. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ॥
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥

—परात्रिंशिका, का० २४-२५।

२. चिन्मात्रस्वभावः पर एव शिवः पूर्णत्वात् निराशंसोऽपि स्वस्वातंत्र्यमाहात्म्याद् बहिरुल्लिलसिषया परानन्दचमत्कारतारतम्येन प्रथमम् 'अहम्' इति परामर्शतया शक्तिदशामधिशयानः प्रस्फुरेत्। —तंत्रालोकटीका भाग ६, पृष्ठ ५०।

३. विज्ञानभैरवविवृति, पृष्ठ ११२।

४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १९०।

५. यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥

—षट्त्रिंशत्तत्वसंदोह का० १।

प्रति परमशिव की इच्छा की उन्मुखता से ही उसके दो स्वरूपों अर्थात् विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता का आभास होने लगता है। विश्वोत्तीर्णता उसकी प्रकाशरूपता है और विश्वमयता विमर्शरूपता। प्रकाश का विमर्श (बोध) उसके शिवरूप की अभिव्यक्ति है और विमर्श का प्रकाश (अभिव्यक्ति) उसके शक्ति स्वरूप की[१]। एक संविद्रूप परमेश्वर में शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व का यह आभास पूर्णतः अभेद-भूमिका का आभास है[२]। इसी अभेद स्थिति को लक्ष्य करके ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में शिवतत्त्व को सत्य-प्रकाश का आभास कहा गया है[३]। शिवतत्त्व में प्रमेय का अभाव होता है क्योंकि जब सब कुछ शिव में ही विद्यमान है तब उससे भिन्न प्रमेयता का अस्तित्व भी कैसे हो सकता है? प्रकाशरूप शिव की केवल अपनी आत्मा में ही स्फुरत्ता होने से इस तत्त्व के 'परप्रमाता' शिव का जो अनन्योन्मुख स्वात्म-प्रकाशपूर्ण प्रत्यय (पूर्ण बोध) होता होता है उसे शुद्ध 'अहम्' द्वारा व्यक्त किया जा सकता है[४]। यही शिवतत्त्व के परप्रमाता (शिव) का शुद्ध आद्यविमर्श है। इस 'अहम्' प्रत्यय के साथ 'अस्मि' तक लगाना समीचीन नहीं क्योंकि 'अस्मि' लगाने से किसी प्रकार के सम्बन्ध की संभावना हो सकती है[५]। अतः शिवतत्त्व के परप्रमाता का प्रत्यय एकमात्र 'अहं' द्वारा प्रकट किया जाता है। तंत्रसार के अनुसार पंचशक्तिस्वभाव परमशिव में चित्शक्ति का प्राधान्य होने पर वह शिवतत्त्व कहलाता है[६]।

---

१. (क) अकृत्रिमाहमामर्शप्रकाशैकघनः शिवः।
शक्त्या विमर्शवपुषा स्वात्मनोऽनन्यरूपया॥
—अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका का० १।

(ख) स एव सर्वभूतानां स्वभावः परमेश्वरः।
भावजातं हि तस्यैव शक्तिरीश्वरतामयी॥
—बोधपंचदशिका, श्लोक २।

२. शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद्व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव॥ —वही, श्लोक ३।

३. सत्यप्रकाशाभासश्च शिवतत्त्वम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ ११६।

४. प्रकाशस्य यदात्ममात्रविश्रमणमनन्योन्मुखस्वात्मप्रकाशताविश्रान्ति-लक्षणो विमर्शः सोऽ'हम्' इति उच्यते।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १९६।

५. काश्मीर शैविज्म, पृष्ठ ६३।

६. चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम्। —तंत्रसार, पृष्ठ ७४।

यह परमेश्वर की आभासरूपता में दूसरा तत्त्व है, जो शिव का अभिन्न स्वरूप है। परमशिव में शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व का एक साथ स्फुरण होता है और इन दोनों में अभिन्न और अविनाभाव सम्बन्ध है[१]। उन्मेष की शक्ति और उन्मुख परमेश्वर की सतत-समवायिनी स्वतन्त्र इच्छा ही, उद्भूत होनेवाले अखिल विश्व को अपने अन्दर ऐक्यभाव से निलीन किये रहने के कारण शक्तितत्त्व कहलाती है[२]। अखिल चराचर विश्व इस शक्तितत्त्व में उसी प्रकार समरस भाव से निलीन रहता है जिस प्रकार एक बीज में विशाल वृक्ष अपनी बीजावस्था में विद्यमान रहता है[३]। तन्त्रालोक के टीकाकार का कथन है कि बहीरूपता के प्रति परमेश्वर की उन्मुखतारूप क्रिया ही शक्तितत्त्व है[४]। महार्थमञ्जरीकार का मत है कि परमेश्वर जब अपने हृदयवर्ती प्रकाशरूप अर्थतत्त्व को बाहर प्रकाशित करने के लिए उन्मुख होता है तब वह शक्ति संज्ञा से व्यवहृत होता है[५]। यहाँ यह स्मरणीय है कि बाहर और भीतर ये दो शब्द केवल कल्पना के ही आधार पर प्रयुक्त हुए हैं। परमेश्वर सर्वत्र है और सभी में है और सब कुछ उसी में है तब बाहर की कल्पना भी केवल व्यवहार के लिए ही की गई कल्पना मात्र है[६] चिद्रूपता का उन्मेष अन्तारूपता है और उसका निमेष ही बहीरूपता कही जाती है[७]।

आचार्य क्षेमराज ने विश्व-सिसृक्षा को प्राप्त परमेश्वर के प्रथम स्पन्द को

---

१. शिवदृष्टि ३। २–३।

२. तस्य स्वाभिन्ना स्वतन्त्रेच्छा शक्तिरेव उद्भविष्यतो विश्वस्य स्वान्तर्निलीनत्वात् बीजभूता शक्तितत्त्वतां याति। —षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह टीका, पृष्ठ ३।

३. परात्रिंशिका का० २४।

४. तस्य (परमशिवस्य) बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वम्।

—तंत्रालोक भाग ६, पृष्ठ ५०–५१।

५. यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपमर्थतत्त्वं बहिःकर्तुमुन्मुखो भवति, तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते। —महार्थमंजरी टीका, पृष्ठ ४०।

६. स्वातंत्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः।
प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत्॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग १–५।१६।

७. आन्तरत्वमिदं प्राहुः संविन्नैकट्यशालिताम्।
तां च चिद्रूपतोन्मेषं बाह्यत्वं तन्निमेषताम्॥

—तंत्रालोक भाग ७-आ० १०।२१८-२१९।

शक्तितत्त्व कहा है[1]। इसके विपरीत षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह में परमेश्वर के प्रथम स्पन्द को शिवतत्त्व कहा है जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है। इस प्रकार यहाँ उक्त दोनों मतों में विरोध दिखाई पड़ता है, किन्तु विचार करने पर यह विरोध वास्तविक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि तंत्रालोक में आचार्य अभिनवगुप्त ने शिव-समावेश के प्रसंग में 'तुटिद्वय' की चर्चा करते हुए शक्तिमत् और शक्ति रूप से उसे विभक्त किया है। परमेश्वर की 'प्रथमतुटि' शिवतत्त्व और 'द्वितीय-तुटि' शक्ति कही गई है[2]। सम्भवतः इसी कारण षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहकार ने परमेश्वर की प्रथमतुटि अर्थात् प्रथम स्पन्द को ही शिवतत्त्व कह दिया है किन्तु क्षेमराज ने इस शिवतत्त्व को विश्वसिसृक्षा-उन्मुख परमेश्वर का प्रथमस्पन्द कहना उचित नहीं समझा क्योंकि शिवतत्त्व तो परमेश्वर का परिपूर्ण शुद्ध विश्वोत्तीर्णस्वरूप है। अतः उसे विश्वोन्मीलन का प्रथमतत्त्व कहना युक्तिसंगत नहीं। शक्तितत्त्व परमेश्वर का विश्वमय रूप है। यह शक्ति ही उन्मीलित होने वाले विश्व को अपने अन्दर निलीन किये रहती है। अतः शक्तितत्त्व को ही विश्वोन्मीलन के प्रति उन्मुख परमेश्वर की इच्छा का प्रथमस्पन्द कहना उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार उक्त दोनों मतों में विरोध न होते हुए भी आचार्य क्षेमराज का मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

शक्तिमत् और शक्ति के सामरस्य में शिव और शक्ति का पृथक् परामर्श नहीं होता, अतः इस सामरस्य-अवस्था के परामर्श का स्वरूप केवल 'अहम्' होता है[3] किन्तु शक्ति के प्राधान्य से शक्तितत्त्व के 'परप्रमाता' के विमर्श का स्वरूप 'अहं' के साथ 'अस्मि' लगाने से प्रकट होता है अर्थात् परप्रमाता का

---

१. अस्य जगत् स्रष्टुमिच्छां परिगृहीतवतः परमेश्वरस्य प्रथमस्पन्द एवेच्छा-शक्तितत्त्वम्। —पराप्रावेशिका, पृष्ठ ६–७।

२. (क) अत एव शिवावेशे द्वितुटिः परिगीयते।
एका तु सा तुटिस्तत्र पूर्णा शुद्धैव केवलम्॥
द्वितीया शक्तिरूपैव सर्वज्ञानक्रियात्मिका।
—तंत्रालोक भाग ७, १०।२०६–७।

(ख) तुटिद्वयमेव शक्तिमच्छक्तिरूपतया विभजति।
—वही, टीका पृष्ठ १४१।

३. अनुत्तरविसर्गात्म-शिवशक्त्यद्वयात्मनि।
परामर्शो निर्भरत्वादहमित्युच्यते विभोः॥
—तंत्रालोक, भाग २, आ० ३।२०३-२०४।

'अहमस्मि' अर्थात् 'मैं हूँ' यह प्रत्यय (बोध) इस शक्तितत्त्व का द्योतक है[१] 'अहमस्मि' का यह विमर्श ही आनन्द की स्फुटता है। इसी कारण तंत्रसार में परमेश्वर की आनन्दशक्ति का प्राधान्य होने पर वह शक्तितत्त्व कहा गया है[२] ।।

इस प्रकार परमेश्वर की अभेददशा में एक साथ दो तत्त्वों का अवभासन होता है। अपरिमित 'अहं' प्रकाशरूप (विश्वोत्तीर्ण) तथा अन्तर्मुख होता हुआ शिवतत्त्व कहलाता है और इसके विपरीत यही अपरिमित 'अहं' विमर्शरूप (विश्वमय) तथा बहिर्मुख होता हुआ शक्तितत्त्व कहलाता है[३]। वस्तुतः उक्त दोनों तत्त्व एक ही हैं, न शिव शक्तिरहित है और न शक्ति शिवरहित है[४]। केवल व्यवहार के लिए ही प्राधान्य के प्रयोजन से पृथक्-पृथक् व्यपदेश होता है कि यह शक्तिमान् है और यह शक्ति है[५]।

भेदाभेद-भूमिका

आभासक्रम में तीसरा तत्त्व सदाशिव कहलाता है जिसकी अभिव्यक्ति शिव की इच्छाशक्ति से होती है। शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्द ज्ञानशक्ति है और बहिर्मुख स्पन्द क्रियाशक्ति है। अन्तर्मुख स्पन्द में ज्ञान का प्राधान्य और क्रिया की अस्फुटता रहती है। उक्त अन्तर्मुख स्पन्द अथवा आन्तरीज्ञानदशा का उल्लासन ही सदाशिव तत्त्व कहलाता है[६]। इस सदाशिव-दशा के प्रमाता की पारिभाषिक संज्ञा

सदाशिव तत्त्व

१. अभिनवगुप्त (ले० डॉ० पाण्डेय), पृष्ठ २४१।

२. तंत्रसार, पृष्ठ ७४।

३. शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वरः ।।
—नेत्रतंत्र टीका भाग १, पृष्ठ ९।

४. (क) शिवाख्यं षट्त्रिंशं, तच्च सशक्तित्वेऽपि प्राधान्यादेकं,
शक्तिर्हि न शक्तिमतो भिन्ना भवितुमर्हति ।।
—तंत्रालोक टीका, भाग ७, आ० ११, पृष्ठ ४३।

(ख) शिवशक्तिद्वैधं प्रकाशविमर्शस्वरूपं परमार्थत एकमेव तत्त्वं प्रकटीभवेत्। —विज्ञानभैरववृति, पृष्ठ २२।

५. वस्तुतो हि शक्तितद्वतोः परस्परमवियोग एव, किन्तु प्राधान्यमेव प्रयोजकीकृत्य तथाव्यपदेशो यदयं शक्तिमान् इयं शक्तिरिति।
—तंत्रालोक भाग ७, पृष्ठ १०।

६. (क)—किन्त्वान्तरदशोद्रेकात्सादाख्यं तत्त्वमादितः ।।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, ३।१।२।

'मंत्रमहेश्वर' है। यद्यपि यह होता शिव ही है किन्तु भेदाभेद दृष्टि के कारण मंत्र-महेश्वर कहा जाता है। मंत्रमहेश्वर के विमर्श का स्वरूप 'अहम् इदम्' के द्वारा प्रकट किया जाता है[1]। 'अहम्' शिव का और 'इदम्' विश्व का परिचायक है। इस तत्त्वदशा के परामर्श में प्रमाता की 'अहन्ता' का प्राधान्य रहता है और 'अहन्ता' के प्रकाश के प्राधान्य से आच्छादित होने के कारण यहाँ विश्व की प्रतीति उसी प्रकार अस्पष्ट रहती है जिस प्रकार बीज का अंकुरायमाण स्वरूप उसकी बीज-रूपता के प्रकाश में अस्फुट रहता है[2]। सदाशिवतत्त्व में विश्व की सत्ता तो होती है परन्तु अहन्ता के परामर्श से आच्छादित होने के कारण उसका विमर्श अस्फुटप्राय होता है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में कहा गया है कि विश्व-सृष्टि की आद्या दशा में मंत्रमहेश्वर नामक चैतन्यवर्ग (प्रमाता) का प्रमेयरूप भावचक्र अहन्ता के प्रकाश में उसी प्रकार अस्फुट रहता है जिस प्रकार कुछ रेखा-बिन्दुओं से उन्मीलितमात्र चित्र चित्रफलक के प्रकाश के प्राधान्य में अस्पष्ट-सा रहता है। उक्त प्रकार की अस्फुटभावराशि में चैतन्यवर्ग अर्थात् मंत्रमहेश्वर प्रमाता का जो अस्फुट वेद्य-सा ज्ञानरूप चित्-विशेषत्व है उसकी संज्ञा सदाशिवतत्त्व है[3]। सृष्टि के विकास में यह सदाशिव पहला तत्त्व है जिससे सत् का ज्ञान होता है[4] क्योंकि शिवशक्ति की सामरस्य अवस्था में तो सत्-असत् जैसे विकल्प का

(ख) ततश्चान्तरी ज्ञानरूपा या दशा तस्या उद्रेकाभासने सादाख्यं सदाख्यायां भवम्,…सदाख्यायाश्च सदाशिवशब्दरूपाया इदं वाच्यं तत्त्वम्।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १९१।

१. तत्र यदा 'अहम्' इत्यस्य यदधिकरणं चिन्मात्ररूपं तत्रैवेदमंशमुल्लासयति तदा तस्यास्फुटत्वात् सदाशिवता 'अहमिदम्' इति।

—वही भाग २, पृष्ठ १९७।

२. सदेवांकुरायमाणमिदं जगत् स्वात्मनाहन्तयाच्छाद्य स्थितं रूपं सदाशिव-तत्त्वम्। —पराप्रावेशिका, पृष्ठ ७।

३. ततश्च शुद्धचैतन्यवर्गो यो मंत्रमहेश्वराख्यः, तस्य प्रथमसृष्टावस्माकमन्तः-करणैकवेद्यमिव ध्यामलप्रायमुन्मीलितमात्रचित्रकल्पं यद्भावचक्रं, संहारे च ध्वंसोन्मुखतया तथाभूतमेव चकास्ति प्रतिबिम्बप्रायतया, तस्य चैतन्यवर्गस्य तादृशि भावराशौ तथाप्रथनं नाम यच्चिद्विशेषत्वं तत्सदाशिवतत्त्वम्।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १९२–१९३।

४. सृष्टिक्रमोपदेशादौ प्रथममुचितं तत्सादाख्यं तत्त्वम्।

—वही, पृष्ठ १९१।

उदय तक नहीं होता। इसी कारण इसे सादाख्यतत्त्व कहा गया है[1]। सदाशिव तत्त्व की शैवागमों में अपर संज्ञा निमेष है[2]। सदाशिव तत्त्व में विश्व का अवभास 'अहम् इदम्' इस रूप में होता है। यहाँ 'अहं' रूप प्रमाता की प्रधानता रहती है और 'इदम्' रूप प्रमेय अर्थात् विश्व की अप्रधानता रहती है। इसी प्रकार यहाँ विश्व का अवभास अस्फुट रहता है। विश्व-परामर्श प्रमातृ-परामर्श में छिपा रहने के कारण यह तत्त्व विश्व के प्रलय का द्योतक है[3] और इस प्रकार विश्व की 'अहं' में प्रलीनता के विचार से ही इस तत्त्व की निमेष संज्ञा है।

यह चौथा तत्त्व है। जैसे शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्द सदाशिव कहलाता है वैसे ही उसके बहिर्मुख स्पन्द की संज्ञा ईश्वरतत्त्व है। इसकी अभिव्यक्ति शिवेच्छा में क्रियाशक्ति के उद्रेक से होती है[4]।

ईश्वरतत्त्व

सदाशिव तत्त्व में जो विश्व अंकुरायमाण अवस्था में था और 'अहन्ता' के परामर्श के प्राधान्य के कारण अस्फुट-रूप में प्रतीति का विषय बन रहा था, वही अब ईश्वरतत्त्व-दशा में अंकुरित होकर स्फुटभाव से परामृष्ट होने लगता है[5]। ईश्वर-तत्त्व के प्रमाता की संज्ञा मंत्रेश्वर है और उसके ईश्वरतत्त्व (प्रमेय) के विमर्श को 'इदम्-अहम्' अर्थात् 'यह मैं हूँ' इस शुद्ध प्रत्यय द्वारा व्यक्त किया जाता है[6]। प्रमाता के उक्त विमर्श में 'इदम्' विश्व का और 'अहम्' प्रमाता का द्योतक है। यहाँ 'इदम्' अर्थात् विश्व का स्फुट अवभास होने के कारण 'अहं' का परामर्श अस्फुट हो जाता है अर्थात् स्फुटतया अवभासित 'इदम्' अंश के अधिकरण में जब 'अहं' का विमर्श अस्फुट हो जाता है तब 'इदम्' अर्थात् विश्व का स्फुटतया होने वाला वेद्य-परामर्श ही ईश्वरतत्त्व कहलाता है[7]। स्पन्द-

---

१. यतः प्रभृति सदिति प्रख्या, सदाख्यायाश्च सदाशिवशब्दरूपाया इदं वाच्यं तत्त्वम्।.....तत्सादाख्यं तत्त्वम्। —वही।

२. निमेषोऽन्तः सदाशिवः। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २।३।१।३।

३. सदाशिवतत्त्वं यतो जगतः प्रलयः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ १९५।

४. बहिर्भावस्य क्रियाशक्तिमयस्य परत्वे उद्रेकाभासे सति पारमेश्वरं परमेश्वरशब्दवाच्यमीश्वरतत्त्वं नाम। —वही, पृष्ठ १९१–१९२।

५. पराप्रावेशिका, पृष्ठ ७।

६. 'इदमहम्' इति तु इदमित्यंशे स्फुटीभूतेऽधिकरणे यदाहमंशविमर्शं निषिंचति तदेश्वरता। —वही, पृष्ठ १९७।

७. भावराशौ पुनः स्फुटीभूते तदधिकरणे एवेदमंशे यदाहमंशं निषिंचति तदा ज्ञानशक्तिप्रधानमीश्वरतत्त्वम्—इदमहमिति।
—तंत्रालोक टीका, भाग ६, पृष्ठ ५०।

विवृतिकार रामकण्ठ के अनुसार क्रिया के प्राधान्य से बाहर उन्मिषित शक्ति की परम अहंभाव में जो विश्रान्ति है वही ईश्वर दशा कहलाती है[1]। यहाँ बाहर का तात्पर्य परमेश्वर से बाहर नहीं है क्योंकि परमेश्वर तो सर्वत्र है और सभी कुछ उसी में है। अतः उससे बाहर की तो कल्पना तक असंभव है। आन्तर उन्मेष या बहिरुन्मेष अथवा भीतर या बाहर का प्रयोग केवल व्यवहार के लिए है जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है। ईश्वरतत्त्व की एक अन्य संज्ञा उन्मेष भी है[2]। विश्व की स्फुट प्रतीति ही बाह्यता या उन्मेष कहलाती है। ईश्वरतत्त्व के उन्मेष से ही विश्व का उदय होता है[3]। जैसे सदाशिव तत्त्व विश्व के प्रलय अथवा निमेष का परिचायक है वैसे ही आभासक्रम में अर्थात् विश्व के विकास की दृष्टि से यह तत्त्व विश्व के उदय या उन्मेष का परिचायक है। सदाशिवतत्त्व और ईश्वरतत्त्व में 'अहं' के विमर्श की दृष्टि से पूर्ण अभेद है किन्तु 'इदम्' के विमर्श के विचार से दोनों में यह अन्तर है कि सदाशिव तत्त्व में 'इदम्' का विमर्श अस्फुट रहता है और ईश्वरतत्त्व में स्फुट। इस प्रकार 'अहं' के विमर्श के विचार से दोनों में पूर्ण अभेद होते हुए भी 'इदं' की अस्फुटता और स्फुटता के विमर्श के कारण दोनों में भेद है[4]। इदन्ता के इसी अस्फुट या स्फुट विमर्श के विचार से सदाशिवतत्त्व के विमर्श में 'इदम्' को 'अहम्' के पश्चात् रखा गया है—जैसे 'अहमिदम्'। इसके विपरीत ईश्वरतत्त्व में 'इदम्' की स्फुटता को लक्ष्य करके उसे 'अहम्' से पहले स्थान दिया गया है, जैसे—'इदमहम्'[5]। डा० पाण्डेय 'अहम्' 'इदम्' अथवा 'इदम्' 'अहम्' में प्रथम पद को प्राधान्य-सूचक मानते हैं[6]।

पाँचवाँ तत्त्व सद्विद्या या शुद्धविद्या कहलाता है। शिव का 'अहं' रूप

---

१. यत्र पुनः शक्तेः क्रियाप्राधान्येन बहिर्गृहीतोन्मेषायाः पराहंभावविश्रान्तिः सा ईश्वरदशा। —स्पन्दविवृति, पृष्ठ १३०।

२. ईश्वरो बहिरुन्मेषो········। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २—३।१।३।

३. यस्योन्मेषादुदयो जगतः—इत्यत्र ईश्वरतत्त्वमेवोन्मेषशब्देनोक्तम्। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १९४।

४. अत एव चाहंविमर्शस्याविशेषेऽपि अत्रेदमंशस्य ध्यामलत्वाध्यामलत्वाभ्यामयं विशेषः। —तंत्रालोकविवेकटीका भाग ६, पृष्ठ ५०।

५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १९७।

६. अभिनवगुप्त, पृष्ठ २४२।

आद्य विमर्श पूर्ण अभेदबोध का सूचक है किन्तु सद्विद्या दशा में विमर्श का रूप 'अहम् इदम्' इस प्रत्यय द्वारा प्रकट किया जाता है[१]। इस परामर्श में 'अहम्' और 'इदम्' की समान स्फुटता से प्रतीति होती है। किन्तु मायाप्रमाता के विमर्श की भाँति यहाँ 'अहम्' और 'इदम्' का बोध पृथक् अधिकरण में स्थित प्रमाता और प्रमेय भाव से नहीं होता। यहाँ एक ही अभिन्न चिन्मात्र-अधिकरण में तुला के समान वजन के दो पलड़ों की तरह 'अहम्' और 'इदम्' रूप दोनों प्रकाश-अंशों की अभेद प्रतिपत्ति होती है[२]। शुद्धविद्या की परिभाषा देते हुए यों कहा जा सकता है कि जिस अभेद ज्ञानदशा में समान स्फुटता से 'अहम्' और 'इदम्' रूप प्रकाश-अंशों का जो प्रत्यवमर्श होता है उस प्रत्यवमर्श की संज्ञा सद्विद्या या शुद्धविद्या है[३]। यहाँ अहम् और इदम् इन दो अंशों का ज्ञान होने पर भी 'अहम्' रूप प्रमाता का वेद्य-विषयक दृष्टिकोण यथावस्तुरूप ही है अर्थात् वेद्यदशा को प्राप्त होने के कारण इदम् रूप प्रत्यय (बोध) से परामृष्ट किये जाने वाले भावों को भी यहाँ प्रमाता प्रकाशात्मक रूप में ही देखता है, जड़ रूप में नहीं[४]। इस प्रकार 'इदम्' प्रत्यय से परामृष्ट किये जाने वाले भावों का जो पारमार्थिक रूप अर्थात् प्रकाशमात्र रूप है उसी रूप में उनको परामृष्ट करने के कारण 'अहं' अर्थात् प्रमाता का 'अहमिदम्' अर्थात् 'मैं यह (विश्व) हूँ' ऐसे रूप वाला जो यह शुद्ध परामर्श है, वही भेदाभेदमय दृष्टि शुद्धविद्या कहलाती है[५]। इसे भेदा-भेदमय दृष्टि कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ प्रमाता को 'अहन्ता' और 'इदन्ता'

सद्विद्या

---

१. तंत्रालोक टीका भाग ६, पृष्ठ ५०।

२. (क) ये एते अहम् इति इदम् इति धियौ तयोर्मायाप्रमातरि पृथगधिकरणत्वम् अहम् इति ग्राहके इदम् इति च ग्राह्ये, तन्निरासेनैकस्मिन्नेवाधिकरणे यत्संगमनं सम्बन्धस्वरूपप्रथनं तत् सती शुद्धा विद्या।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १९६–१९७।

(ख) यः समधृततुलापुटन्यायेन अहमिदमिति परामर्शः तत्क्रियाशक्तिप्रधानं विद्यातत्त्वम्। —तंत्रालोकटीका भाग ६, पृष्ठ ५०।

३. सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः।

—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह श्लोक ४।

४. इदंभावोपपन्नानां वेद्यभूमिमुपेयुषाम्।
भावानां बोधसारत्वाद्यथावस्त्ववलोकनात्॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, ३।१।४।

५. तदेषां यदेव पारमार्थिक रूपं तत्रैव प्ररूढत्वात् अहमित्यस्य शुद्धवेदनरूपत्वम्। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १९८।

जैसे दो रूपों का विमर्श होता है। अतः उसका विमर्श भेदमय है। किन्तु 'अहन्ता' और 'इदन्ता' रूप प्रत्यवमर्श होने पर भी वह प्रमाता 'अहन्ता' की चिद्रूपता की भाँति 'इदन्ता' को भी चिद्रूप ही समझता है। अतः 'अहं' और 'इदं' दोनों में एक ही चिद्रूपता का परामर्श होने के कारण उसकी दृष्टि अभेदमयी भी है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति में आचार्य उत्पलदेव ने कहा है कि शक्ति का उन्मेष और निमेष अथवा बाह्य और आभ्यन्तर स्थिति ही क्रमशः ईश्वर और सदाशिव हैं। बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् वेद्य और वेदक की एक-चिन्मात्र रूप में विश्रान्ति होने के कारण वेद्य और वेदक में यहाँ अभेद सम्बन्ध रहता है। इसी कारण सामानाधिकरण्य-भाव से विश्वात्मा अर्थात् समष्टिप्रमाता का 'अहम् इदम् अस्मि' अर्थात् 'मैं यह (विश्व) हूँ' ऐसा विमर्श शुद्धविद्या कहलाता है[1]। शैवागमों में यह शुद्धविद्या परापरा दशा कहलाती है क्योंकि सदाशिवतत्त्व में भावों की परता होती है अर्थात् स्फुट रूप से उनका (भावों का) अनन्योन्मुख 'अहम्' रूप में परामर्श होता है और पूर्ण 'अहं' रूप में परामृष्ट होना ही उनका परत्व है। ईश्वर तत्त्व में उन भावों की 'इदन्ता' का विमर्श स्फुट होता है, वे उद्देशस्थानीय 'अहम्' के विधेय बन जाते हैं। उनका विमर्श अहन्ता-सापेक्ष हो जाता है। यह अन्यापेक्षा ही अपूर्णत्व है जो अपरत्व कहलाता है। इस प्रकार परता और अपरता दोनों विमर्श रूपों का इसमें स्पर्श होने के कारण प्रमातृवर्ग की यह संवेदनदशा 'परापरा' दशा कही जाती है[2]। सद्विद्या के सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि यह तत्त्व सदाशिव तत्त्व और ईश्वरतत्त्व के दोनों अधिष्ठातृ-देवताओं का करणस्थानीय तत्त्व है[3]। जैसे परमशिव का बहिः-औन्मुख्य शक्तितत्त्व कहलाता है वैसे ही सदाशिव और ईश्वर का बाह्य औन्मुख्य शुद्धविद्या तत्त्व कहा जाता है[4]।

---

१. उन्मेषनिमेषौ बहिरन्तःस्थिती एवेश्वरसदाशिवौ बाह्याभ्यन्तरयोर्वेद्यवेदकयोरेकचिन्मात्रविश्रान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मतिः शुद्धविद्या। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति, पृष्ठ ६०।

२. अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्।
परताहन्तयाच्छादात्परापरदशा हि सा ॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, ३।१।५।

३. तदधिष्ठातृदेवताद्वयगतं 'करणं' विद्यातत्त्वम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १९६।

४. यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वं तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्यातत्त्वम्।
—तंत्रालोकटीका भाग ६, पृष्ठ ५०–५१।

उपर्युक्त पाँचों तत्त्वों का यह विकास शुद्धअध्वा कहलाता है[1] क्योंकि साक्षात् शिव अपनी इच्छामात्र से ही अभिन्न रूप में इस तत्त्वपंचक को आभासित करता है और अपने पूर्ण स्वातंत्र्य के माहात्म्य से वही उक्त पाँचों तत्त्वों के प्रमातृरूपों में प्रकाशित होता है, जिन्हें आभासन के क्रम से शांभव, शक्तिज, मंत्रमहेश, मंत्रनायक तथा मंत्र कहा गया है—

शाम्भवाः शक्तिजा मन्त्रमहेशा मन्त्रनायकाः ।
मंत्रा इति विशुद्धाः स्युरमी पंच गणाः क्रमात्[2] ॥

हिन्दी के एक शोधकर्ता विद्वान् के द्वारा शांभव, शक्तिज, मंत्रमहेश आदि प्रमाता उपर्युक्त शिव, शक्ति, सदाशिव आदि तत्त्वों के नामान्तर बताये गये हैं —"उक्त पाँचों तत्त्वों को तंत्रालोक में क्रमशः शांभव, शक्तिज, मंत्र-महेश, मन्त्रनायक तथा मन्त्र भी कहा गया है और ये विशुद्ध तत्त्व बतलाये गये हैं[3] ।" किन्तु यह मत पूर्णतः असत्य है। इसका कारण यह है कि शिवशक्ति आदि तत्त्व प्रमेय हैं, जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा जा चुका है और शाम्भव शक्तिज आदि उन शिव शक्ति आदि प्रमेयों (तत्त्वों) के प्रमाता हैं। अतः शांभव, शक्तिज आदि प्रमाताओं को प्रमेयों (तत्त्वों) के नामान्तर बताना सर्वथा अनुचित है। उक्त शोधकर्ता की इस भ्रान्ति का कारण सम्भवतः तंत्रालोक को सही-सही न समझ सकने का परिणाम प्रतीत होता है क्योंकि तंत्रलोक में आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्टतया इन्हें प्रमाता माना है जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है। यही नहीं तंत्रालोक के विद्वान् टीकाकार जयरथ ने और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—

एष्विति—शिवादिपंचसु तत्त्वेषु, कश्चैनां स्वो गणः ? इत्याशंक्योक्तं शाम्भवाद्या अमी पंचगणा इति, क्रमादिति—यथासंख्येन, तेन शिवतत्त्वे शांभवा यावद्विद्यातत्त्वे मन्त्रा इति[4] ।

जगदाभास के शेष ३१ तत्त्वों की सृष्टि माया की सहकारिता से अघोर या अनन्त के द्वारा होती है। यह माया-सृष्टि कर्म से नियन्त्रित रहती है। आणव आदि मलों के कारण इस मायीय सृष्टि में प्रमाता और प्रमेयों का

---

१. तदेवं पंचकमिदं शुद्धोऽध्वा परिभाष्यते ।
तत्र साक्षाच्छिवेच्छैव कर्त्र्याभासितभेदिका ।
—तंत्रालोक, भाग ६ आ० ९।६०।

२. तंत्रालोक, भाग ६, आ० ९।५३-५४ ।

३. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृष्ठ ४२१ ।

४. तंत्रालोक टीका, भाग ६, पृ० ५२ ।

स्वरूप-विपर्यास हो जाता है और इस प्रकार मायीय प्रमाता का शरीरादि में होने वाला 'अहं' रूप विकल्प अशुद्ध प्रत्यवमर्श कहलाता है। मितप्रमाताओं के उक्त अशुद्ध प्रत्यवमर्श के कारण ही मायीय सृष्टि को अशुद्ध अध्वा कहते हैं।

भेदभूमिका

भेदपूर्ण सृष्टि का सूचक यह छठा तत्त्व है। परापरा दशा से नीचे की ओर स्पन्दन करता हुआ परमेश्वर अपने प्रकाश स्वरूप के प्रच्छादन की क्रीड़ा से भेद दशा पर उतर कर सर्वप्रथम माया का अवभासन करता है[1]। यह माया परमेश्वर की स्वातंत्र्यशक्ति है, जो भेद दशा का अवभासन करने के कारण मायाशक्ति कहलाती है[2]। प्रमाता का स्वरूप-संकोच कर उसमें भेद-दृष्टि उत्पन्न करने के कारण ही तंत्रालोक में इसकी उक्त प्रकार से व्यवस्था की गई है। इसे परमेश्वर की स्वरूपगोपनात्मिका इच्छाशक्ति भी कहा गया है[3] जो अघोरभट्टारकरूप ग्रहण करने वाले शिव से अभिन्न रहकर भेद-जगत् का अवभासन करती है। शुद्धविद्या दशा में 'विश्व-प्रमाता' स्वयं को शुद्धप्रकाशरूप में अनुभव करते हुए 'इदं' रूप में भासित वेद्यरूपों को भी अपने से अभिन्न प्रकाशरूप ही समझता है। किन्तु अशुद्ध अध्वा में मायाशक्ति उसके स्वयंप्रकाश-स्वभाव का तिरोधान कर देती है और शून्य, बुद्धि, शरीर आदि अचिद्रूपों में उसके प्रमातृभाव को दृढ़ कर देती है[5]

माया

---

१. देवः स्वतंत्रचिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूपप्रच्छादनक्रीडायोगादणुरनेककः॥

—तंत्रालोक भाग ८–१३।१०३।

२. परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाऽव्यतिरेकिणी अपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति मायाशक्तिः उच्यते।

—तन्त्रालोकटीका भाग ६, पृष्ठ ११६।

३. मायास्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः।

—तन्त्रालोकटीका भाग ३, पृष्ठ २८३।

४. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह विवरण, पृ० ५।

५. (क) मायाशक्तिः पुनरचिद्रूपे शून्यादौ प्रमातृताभिमानं प्ररूढं दधती भावानपि चिन्मयान् भेदेनाभिमानयन्ती सर्वथैव स्वरूपं तिरोधत्ते।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृ० २०३।

(ख) भेदे त्वेकरसे भातेऽहंतयानात्मनीक्षिते।
शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, ३।१।८।

अर्थात् मायाशक्ति के द्वारा 'विश्वात्म-प्रमाता' के पूर्णप्रकाशरूप का तिरोधान हो जाने पर वह परिमित प्रमाता शरीर आदि जड़ पदार्थों को अपनी आत्मा और चेतना को उसका एक गुण समझने लग जाता है। अनात्मरूपों में आत्मभाव का यह परामर्श ही उसका स्वरूपविपर्यास है। इस स्वरूपविपर्यास के दृढ़ हो जाने से वह चिन्मय भावों को भी अपने से सर्वथा भिन्न जड़ रूप में देखने लग जाता है[1]। इस प्रकार चित्प्रमाता के प्रकाशस्वभाव और यथावस्तुरूप परामर्श को आच्छादित कर देने के कारण माया को विमोहिनी शक्ति कहा गया है[2]। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि माया शक्ति का उपर्युक्त तिरोधान उस विलय का पर्याय नहीं है, जिसकी गणना परमेश्वर के कृत्यपंचकों में की जाती है[3]। उक्त शक्ति-रूप के अतिरिक्त माया अपने जिस रूप से समस्त 'जडाभास' का मूल कारण है उसे मायातत्त्व कहा गया है[4]। जिसमें मायातत्त्व की अभिव्यक्ति होती है और जो अविभक्त भेदावभास की आद्या दशा है उसे 'परानिशा' संज्ञा दी गई है[5]। यही भेदावभास का मूल कारण है[6]। भेदरूप सृष्टि करने के कारण माया को जड़ कहा गया है क्योंकि माया में भेदरूप से अर्थात् परिच्छिन्न रूप से पदार्थों का प्रकाशन होता है[7] और शैवों के अनुसार प्रकाश की परिच्छिन्नता ही जड़ता का लक्षण है—

---

१. ग्राहकग्राह्यविपर्यासद्वयप्ररूढौ तु मायाशक्तिः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २०२।

२. माया विमोहिनी नाम। —विज्ञानभैरव का० ९५।

३. तिरोधानमत्र न विलयरूपं मन्तव्यं, यत् कृत्यपंचकमध्ये आगमेषु गण्यते।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २०३–२०४।

४. (क) व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात्।
शिव-शक्त्यविनाभावान्नित्यैका मूलकारणम्॥
—तंत्रालोक भाग ६, ९।१५२।

(ख) मायातत्त्वं विभु किल गहनरूपं समस्तविलयपदम्।
—तंत्रालोक भाग ५, ८।३२२।

५. आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान्।
गर्भीकृतानन्तभाविविभासा सा परा निशा॥
—तंत्रालोक भाग ६, ९।१५०–१५१।

६. अभिनवगुप्त, पृष्ठ २४५।

७. सा जडा भेदरूपत्वात्। —तंत्रालोक भाग ६, ९।१५१।

प्रकाशपरिच्छिन्नत्वं जडस्य किल लक्षणम्[1]।

समस्त विश्व का उपादान कारण होने के कारण वह व्यापिनी भी कही जाती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने—

ततो माया त्रिपुटिका मुख्यतः[2]

कहकर उसके उक्त दो (मायाशक्ति और मायातत्त्व) रूपों के अतिरिक्त तीसरे रूप की ओर भी संकेत किया है। इस तीसरे रूप को आचार्य क्षेमराज और तंत्रालोक के प्रसिद्ध टीकाकार जयरथ ने माया का ग्रन्थ्यात्मक स्वरूप बताया है जो तीन प्रकार का होता है[3]। यह त्रिविधग्रन्थिरूपा माया ही प्रमाता में संकुचित जीव-स्वरूप को उत्पन्न करती है[4]। माया की ये तीन ग्रंथियाँ उससे आविर्भूत होने वाले तीन पाश हैं जिनकी संज्ञा आणव, मायीय और कार्म है। इन आणवादि पाश-त्रय को उत्पन्न करने के कारण ही उसे "पाशाना-मुत्पत्तिभूः" कहा गया है[5]। इस प्रकार निश्चय ही काश्मीर शैवदर्शन में माया शिव की एक व्यापिका और अभिन्ना शक्ति है, जिससे शिव भेद-भूमिका पर उतरकर भेदावभास की क्रीड़ा करता रहता है।

माया का स्वरूप तिरोधानकारी है। वह अपने दुर्घटसंपादन-सामर्थ्य से शुद्धप्रमाता के प्रकाशस्वरूप का तिरोधान कर देती है जिससे वह अनवच्छिन्न-प्रकाशरूप से परिच्छिन्नप्रकाशरूप हो जाता है[6]। इस प्रकार जो अपनी पूर्णता में शिव था वही संकोच-ग्रहण के कारण जीव बन जाता है। अपनी स्वातन्त्र्यक्रीड़ा से स्वपरिगृहीत संकोच से शिव के संकुचित जीव रूप में प्रकट होने पर उसकी शक्तियाँ अर्थात् सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, नित्यता, पूर्णता, और स्वातन्त्र्य (व्यापकता) भी संकुचित होकर जीव के जिन आवरण रूपों में

---

१. तंत्रालोकटीका भाग ६, पृ० २२७। २. तंत्रालोक भाग ६, ९।१५२।

३. (क) एवं मायायास्तत्त्वग्रन्थिशक्त्यात्मकं त्रिविधं रूपमुक्तम्।
तत्र तत्त्वात्मकमशेषविश्वव्यापकाण्डरूपसन्निभं, ग्रन्थ्यात्मकं त्रिविधं, शाक्तं तु स्वातंत्र्यशक्तिसारमेव ॥
—स्वच्छन्दतंत्रटीका भाग ५ ब, पृष्ठ ४८१।

(ख) तंत्रालोकटीका भाग ५, पृष्ठ २०५।

४. स्वच्छन्दतंत्रटीका भाग ६, पटल १२, पृष्ठ ६२।

५. स्वच्छन्दतंत्रटीका भाग ५ ब, पृष्ठ ४७५।

६. तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, ३।१।७।

प्रकट होती हैं उनकी संज्ञा यथाक्रम से कला, विद्या काल, राग और नियति है[1]। मायाजनित ये शक्ति-संकोच जीव के पूर्ण स्वरूप को आवृत किये रहने के कारण आवरण कहलाते हैं। यह आवरण कंचुक की ही अपर संज्ञा है। कंचुक नामा

कंचुक

इन संकुचित शक्तियों से अपूर्णता में आबद्ध होने के कारण इन कंचुकों को जीव का बन्धन या पाश भी कहा जाता है। किन्तु ये पाश जीव के बाह्य बन्धन न होकर उसके अन्तरंग स्वभाव-संकोच के धर्म हैं[3]। भेदधी रूप माया के कारण ही इनका आविर्भाव होता है। अतः एक प्रकार से ये माया के ही विशेष स्पन्दन हैं। ये पाँचों विशेष रूप और इनका 'सामान्य व्यापक कारण माया' मिलकर जीव के षट्कंचुक कहलाते हैं[4]। शैवागमों में इनका विकासक्रम अलग-अलग प्रकार से नियत किया गया है, किन्तु आचार्य क्षेमराज के अनुसार कंचुकों का विभिन्न पौर्वापर्यक्रम किसी सिद्धान्त-भेद का सूचक न होकर आचार्यों के बोध-वैशिष्ट्य का ही द्योतक है। अतः भिन्न-भिन्न क्रम देखकर किसी भेदशंका के भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है[5]। परमेश्वर स्वयं पूर्ण और सर्वव्यापक है। अतः उसमें संकोच का अभाव है और संकोच के अभाव के कारण उसमें क्रम के लिए कोई अवकाश नहीं। जब परमेश्वर अपने अभिन्न स्वरूप में ही भेद का अवभासन

काल

करता है तब शून्यादि में 'अहन्ता' का अनुभव करने वाले प्रमाता का स्वरूप परिमित हो जाता है और प्रमाता के इस मितस्वरूप के अनुरूप उसके प्रमेयों में भी स्वरूप-संकोच हो जाता है। वेद्यरूप वस्तुओं में स्वरूप-संकोच आने से कोई वस्तु पहले और कोई पीछे और कोई

---

१. संपूर्णकर्तृताद्या बह्वयः सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य।
संकोचात्संकुचिताः कलादिरूपेण रूढयन्त्येवम्॥
—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, श्लोक ७।

२. कलाविद्यारागकालनियतिर्बन्ध उच्यते।
—अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका, श्लोक १६।

३. मायासहितं कंचुकषट्कमणोरन्तरंगमिदमुक्तम्।
—तंत्रालोकटीका भाग ६, पृष्ठ १६४।

४. तंत्रालोक भाग ६–६।२०४।

५. श्रीत्रिकसारनिरूपितनीत्या कश्चिद्रज्यन्वेत्ति कश्चिच्च विदन्रज्यतीत्यादिः पुंसां विचित्रप्रतीतिक्रमानुसारी कंचुकक्रमः अन्यथा अन्यथा च संभाव्यते प्रतिपुं-कलादितत्त्वक्रमस्योक्तत्वादिति तत्तच्छास्त्रावतारकैस्तथा तथा क्रमभेदमात्र-प्रतिपादनमेतत्। —स्वच्छन्दतन्त्रटीका भाग ६, पृष्ठ ४६–४७।

उसके अनन्तर अवभासित होने लगती है[1] । इस तरह जो यह पौर्वापर्य का क्रम है वही 'काल' है[2] । इस क्रमरूपता का अवभासन करने वाली पारमेश्वरी शक्ति की संज्ञा कालशक्ति है[3] । माया के प्रभाव से जब काल शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तब मितप्रमाता पहले अपनी देहरूप आत्मा में इस प्रकार क्रमरूपता का अनुभव करने लगता है कि 'मैं कृश था' 'मैं स्थूल हूँ' 'मैं स्थूलतर होऊँगा' । फिर अपने में क्रमरूपता का परामर्श करता हुआ वह अपनी प्रमेयवस्तुओं पर भी अपनी क्रमरूपता का आरोप करने लग जाता है कि 'अमुक वस्तुएँ थीं' 'अमुक वस्तु है' 'अमुक वस्तु होगी'[4] । इसके अनन्तर वह देखता है कि सूर्योदय, सूर्यास्त, सूर्य का विभिन्न राशियों में संचरण आदि का अवभास नियत-क्रमरूपता से होता है और शेष सब वस्तुओं का अवभास अनियत क्रमरूपता से होता है । अतः वह नियतक्रमवाली वस्तुओं के क्रम से निमेष. क्षण, घड़ी, प्रहर, दिन, मास, वर्ष आदि की कल्पना करने लगता है[5] ।

विद्या माया के द्वारा स्वरूप-संकोच हो जाने पर उस प्रमाता की सर्वज्ञता अर्थात् ज्ञानशक्ति भी संकुचित हो जाती है । इस संकुचित ज्ञानशक्ति का नाम ही 'विद्या' है[6] । जीव कुछ ही जान सकता है । अतः प्रमेयों को अपने से सर्वथा भिन्न समझता है । उसकी इस संकुचितज्ञान-रूपा विद्या को 'अशुद्ध विद्या' कहा जाता है । जीव में कुछ ही वेद्यों का ज्ञान उत्पन्न करने के कारण इसे 'किंचिज्ज्ञत्वोन्मीलनरूपा' कहा गया है[7] । यह बुद्धि-रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित नील-पीत आदि बाह्य और सुखदुःख आदि आभ्यन्तर वेद्य भावों का विवेचन करके जीवात्मा को उनसे होने वाले सुख-दुःखादि प्रत्ययों से अवगत कराती है[8] क्योंकि बुद्धि सत्वरूपा होते हुए भी गुणों का कार्य होने

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २०८ ।

२. क्रम एव च कालो । —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ ९ ।

३. सेयम् इत्थंभूताभासवैचित्र्यप्रथनशक्तिः भगवतः कालशक्तिः इत्युच्यते ।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १३ ।

४. तंत्रालोकटोका, भाग ६, पृष्ठ १६३ ।

५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २—२।१।३।

६. सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा ।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः ॥
—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, श्लोक ९ ।

७. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २०८ ।

८. वही ।

के कारण जड़ है। अतः जड़रूपा बुद्धि अपने में प्रतिबिम्बित भावों को पृथक्-पृथक् कर उनसे उत्पन्न सुख-दुःख आदि प्रत्ययों का ज्ञान मितात्मा को नहीं करा सकती[1]।

जिस समय माया से मितात्मा का पूर्णप्रकाशस्वरूप तिरोहित हो जाता है उस समय उसकी ज्ञानशक्ति के साथ क्रियाशक्ति भी संकुचित हो जाती है और उसे अपने में कुछ ही कर सकने के 'परिमितकर्तृत्व' का अनुभव

कला होता है[2]। अतः प्रमाता में कुछ ही कर सकने का भाव दृढ़ करने के कारण कला को 'किंचित्कर्तृत्वोपोद्बलनमयी' कहा गया है[3]। जैसे सर्वज्ञता के संकुचित होने पर वह अनुभव करने लगता है कि 'मैं किंचित् जानता हूँ' वैसे ही सर्वकर्तृता के संकुचित होने पर उसमें 'मैं किंचित् करता हूँ' ऐसे किंचित्कर्तृत्वलक्षण सामर्थ्य का उन्मीलन होने लगता है[4]। माया से आभासित इन तत्त्वपंचकों के कार्यकारण-भाव में मालिनीविजयोत्तरतंत्र के मत का अनुसरण करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कला की उत्पत्ति मायातत्त्व से बताते हुए इसे माया की प्रथम सृष्टि कहा है[5] किन्तु अन्यत्र उन्होंने काल को ही प्रथम कंचुक माना है[6]। माया से स्वरूप-संकोच हो जाने के कारण मितात्मा

राग समस्त विश्व को आत्मभाव से न देखकर शरीर जैसी वस्तु को 'अहम्' और किसी वस्तु को 'मम' समझने लगता है। जिसे 'अहम्' (मैं) अथवा 'मम' (मेरा) समझता है उसे अत्यन्त गुणशालिनी मानने लगता है। मितात्मा के देह आदि प्रमातृभाव और प्रमेय में इस तरह के गुणारोपणमय

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहविवरण, पृष्ठ ७।

२. तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।
किंचित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ॥
—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, श्लोक ८।

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २०८।

४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २०९।

५. तंत्रालोक भाग ६—९।१६६–१६७।

६. माया परिग्रहवशाद्,
बोधो मलिनः पुमान् स पशुर्भवति।
काल–कला–नियतिवशाद्
रागाविद्यावशेन संबद्धः ॥
—परमार्थसार, श्लोक १६।

अभिष्वंग (आसक्ति) को 'राग' कहते हैं[1]। इस रागतत्त्व नामक कंचुक को वैराग्य का अभावरूप राग नहीं समझना चाहिए क्योंकि वह तो बुद्धि का एक धर्मविशेष है, पुरुष का कंचुक नहीं। यह रागतत्त्व बुद्धि की भूमिका से ऊपर का तत्त्व है और बुद्धि के धर्म 'स्थूल राग' से सूक्ष्मतर है[2]। यह रागतत्त्व मितात्मा को भेदगत भोगों में अनुरंजित करता है[3]।

नियति विद्या और कला के द्वारा जीवात्मा कुछ वस्तुओं को जानने और करने में समर्थ होता है किन्तु किंचित्-रूप समझे जाने वाले वेद्य अंशों के समान होने पर भी वह 'कुछ' के प्रति ही क्यों उन्मुख होता है और 'अन्य कुछ' के प्रति उन्मुख क्यों नहीं होता? विद्या और कला का नियमन राग करता है और राग का यह नियमन नियति करती है[4]। तुल्य किंचित् अंशों में भी किसके प्रति मितात्मा को उन्मुख करे और किसके प्रति न करे, इस प्रकार सबकी नियामिका मूलतः नियति ही है। नियति के नियमों के अनुसार ही जीव में वस्तुविशेष के प्रति राग उदय होता है[5]। इसी हेतु मालिनीविजयोत्तर-तंत्र में इसे जीव को विशेष-विशेष कर्मों में प्रवृत्त करने वाली होने के कारण नियामिका कहा गया है—

नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम्[6]।

कौन-सी वस्तु जीवात्मा का प्रेय बने और कौन-सी न बने, इस नियम की नियामिका होने के कारण ही यह नियति कहलाती है। इस प्रकार नियति ही जीवों के सुख-दुःख आदि के भोगों में उनका नियंत्रण करती है[7]। आचार्य अभिनवगुप्तकृत 'परमार्थसार' के टीकाकार के अनुसार जिस नियम से नियमित होकर जीवात्मा

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २०९।

२. वही।

३. रागोऽपि रंजयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि।
—मालिनीविजयोत्तरतंत्र १।२८।

४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २०९।

५. नियतिः ममेदं कर्तव्यं नेदं कर्तव्यम् इति नियमनहेतुः।
—पराप्रावेशिका, पृष्ठ ९।

६. मालिनीविजयोत्तरतंत्र १।२९।

७. नियच्छति भोगेषु अणूनिति नियतिः।
—तंत्रालोकटीका भाग ६, पृष्ठ ४६।

अग्नि से धुएँ की और अश्वमेध यज्ञ आदि कर्मों से स्वर्ग आदि फलों की चाहना करता है और जिस नियम से अपने संकल्पकृत कर्म से उत्पन्न पुण्य-अपुण्य से उसका नियमन होता है उसे जीवात्मा का नियतितत्त्व कहा जाता है[1]। किस विशिष्ट कारण से किस विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति हो, इसका नियमन नियति ही करती है[2]।

पुरुष

माया से लेकर नियतिपर्यन्त इन छह कंचुकों से स्वरूप-संकोच हो जाने पर चिदात्मा परिमित हो जाता है। इस परिमित आत्मा को ही अणु, जीव, पुमान्, मितात्मा, पुद्गल आदि विविध नामों से अभिहित किया जाता है[3]। कश्मीर के स्वातंत्र्यसिद्धान्त के अनुसार शिव अपने स्वातंत्र्य से अपने परिपूर्ण स्वभाव को छिपाकर सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता को भूल जाने की कल्पना कर डालता है और ऐसा हो जाने पर अपने आपको अगणित अल्पज्ञ और अल्पकर्ता जीवों के रूप में प्रकट कर देता है[4]। शिव का अपने स्वातंत्र्यस्वभाव से यह परिगृहीत अणुभाव या परिमितभाव ही पुरुषतत्त्व कहलाता है[5]। कंचुकरूपी पाशों से आबद्ध होने के कारण जीव को पशु भी कहा गया है[6]। पुरुष तत्त्वतः शिव ही है किन्तु माया के तिरोधानकारी प्रभाव से विपर्यस्त-स्वरूप होकर वह परिमित जीव बन जाता है। इस प्रकार अज्ञानवश देह के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने पर इस पुरुष की संज्ञा देहप्रमाता हो जाती है।[7] जब तक उक्त जीवात्मा को अपने शिवभाव के स्वातंत्र्य का बोध नहीं होता तब तक वह अनेकानेक जीवयोनियों में संचरण करता हुआ अपने कर्मों के अनुसार

---

१. परमार्थसारटीका, पृष्ठ ४८।

२. नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले।

—तंत्रालोकटीका भाग ६, ९।२०२।

३. इदमेव च पंचविंशं पुंस्तत्त्वमित्युच्यते, यत् श्रीपूर्वशास्त्रेषु पुमानिति, अणुरिति, पुद्गलमिति चोक्तम्। —तंत्रालोकटीका, भाग ६, पृष्ठ १६५।

४. पर एव प्रकाशः स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं रूपं गोपयित्वा यदा संकुचितात्मतामवभासयति तदा सकल एवायं भेदव्यवहारः समुल्लसेत्।

—तंत्रालोकटीका भाग ६, पृष्ठ १५६।

५. मायागृहीतसंकोचः शिवः पुंतत्त्वमुच्यते।

—अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका, श्लोक २२।

६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २२०।

७. अभिनवगुप्त, पृष्ठ २५०।

सुख-दुःख आदि को भोगता रहता है[1]। किन्तु शास्त्रों के अभ्यास के साथ रहस्यात्मक साधनों से अथवा गुरु के अनुग्रह से जब उसे अपने पूर्ण स्वतन्त्र स्वभाव (शिवत्व) की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है तब वह सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर आत्मस्वरूप में विश्रान्त हो जाता है। आत्म-स्वभाव की पूर्णता की यह अभिव्यक्ति ही उसकी मुक्ति है[2]। जीवात्मा के इस स्वातंत्र्य-रूप शिवभाव की अभिव्यक्ति में परमेश्वर का अनुग्रह ही मूल कारण है। इस शिवानुग्रह की पारिभाषिक संज्ञा 'शक्तिपात' है, जिसका विस्तृत विवेचन आगे तत्सम्बन्धी अध्याय में किया जायगा। सांख्यदर्शन की भाँति काश्मीर शैवदर्शन भी पुरुष को असंख्यक मानता है किन्तु यह अद्वैतवादी दर्शन उसे सांख्यदर्शन की तरह प्रकृति से निर्लिप्त स्वतंत्र सत्ता न मानकर परमशिव या संवित् का ही स्फुरणमात्र स्वीकार करता है[3]। पुरुष की मुक्ति के सम्बन्ध में भी उक्त दोनों दर्शनों में पर्याप्त अन्तर है। सांख्यदर्शन की कैवल्यमुक्ति शैवों के अनुसार अपूर्ण मुक्ति है क्योंकि 'केवल भाव' को प्राप्त सांख्य के पुरुष में आत्म-विमर्श का पूर्ण अभाव रहता है। सांख्यदर्शन में स्वीकृत पुरुष की यह मुक्ति 'अपवेद्य सुषुप्ति' की सी दशा है।

प्रकृति माया के कारण काल आदि तत्त्वपंचकों से संकोच को प्राप्त जीवरूपी शिव के भेदमय दृष्टिकोण से अवभासित होता हुआ उसका जो वेद्यरूप विश्व का अविभक्तसामान्य आकार है उसे 'प्रकृतितत्त्व' कहते हैं। शून्य आदि प्रमाता के अपने आप से व्यतिरिक्त वेद्यमात्र रूपवाले प्रकृतितत्त्व से कार्य और करण (इन्द्रिय)—भाव से २३ प्रकार के प्रमेयों का विकास होता है[4]। आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि कला किञ्चित्कर्तृत्व-लक्षणा है। वह शून्यादि प्रमाता में 'किंचित्करोमि' ऐसा परामर्श उत्पन्न

---

१. परिमितात्मा स स्वात्मैश्वर्यमपि प्रत्यभिज्ञातुमपटुः संचरति विचित्रयोनिषु। —षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहविवरण, पृष्ठ ५।

२. मोक्षस्य नैव किंचिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः॥
—परमार्थसार का० ६०।

३. स्वप्रकाशा संविदेव एका तत्तदात्मना स्फुरति।
—तंत्रालोकटीका भाग १, पृष्ठ १७३।

४. त्रयोविंशतिधा मेयं यत्कार्यकरणात्मकम्।
तस्याविभागरूप्येकं प्रधानं मूलकारणम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, ३।१।१०।

करती है। इस परामर्श में 'करोमि' विशेष्य अंशरूप होता हुआ 'कर्तृत्व' का व्यञ्जक है और कर्तृत्वधर्मा होने के कारण वह अपनी क्रिया के फल का भोक्ता भी है। फिर 'किंचित्करोमि' में 'किंचित्' 'करोमि' का विशेषण होता हुआ कर्तृत्व का वेद्यरूप है और वेद्यरूप होने के कारण वह उसका भोग्य है। इस प्रकार अवच्छिन्नकर्तृत्वविशिष्ट शून्यादि प्रमाता के भाविवेद्यविशेष की अपेक्षा जो वेद्यसामान्यात्मक भोग्यरूप है उसी की संज्ञा प्रधान या 'प्रकृति तत्त्व' है[1]। केवल समझाने के लिए ही शास्त्रकारों के द्वारा पुरुष के अनन्तर प्रकृति तत्त्व का क्रम बताया जाता है अन्यथा भोक्तृ और भोग्य में परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण पुरुष और प्रकृति की एक साथ ही अभिव्यक्ति होती है[2]। जैसे पुरुष जगद्-उन्मेष-रूपी क्रीड़ा करने वाले परमेश्वर की आत्म-कल्पना है वैसे ही प्रकृति उसकी वेद्यकल्पना है[3]। सांख्य दर्शन में जैसे सत्व, रजस् और तमस् नामक गुणत्रय की साम्यावस्था को प्रकृति कहा है वैसे ही कश्मीर का शिवाद्वयदर्शन भी प्रकृति को उक्त गुणत्रय की अक्षुब्ध दशा या साम्यावस्था मानता है[4]। ऐसा होते हुए भी प्रकृति के सम्बन्ध में दोनों दर्शनों में अन्तर है। सांख्यदर्शन में प्रकृति को जड़ कहा गया है और पुरुष कर्तृत्वहीन एवं प्रकृति से निर्लिप्त बताया गया है। किन्तु काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार स्वतंत्रेश या अनन्त जीवात्माओं के कर्मों के अनुसार उन्हें सुख-दुःख आदि भोगों का अनुभव कराने के लिए प्रकृति को क्षुब्ध करता है[5] और उक्त तीनों गुण क्षुभित होकर जगत्कार्य का विस्तार

---

१. एवं कलाख्यतत्त्वस्य किंचित्कर्तृत्वलक्षणे।
विशेषभागे कर्तृत्वं चर्चितं भोक्तृपूर्वकम्॥
विशेषणतया योऽत्र किंचिद्भागस्तदोत्थितम्।
वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला॥
—तंत्रालोक भाग ६. ९।२१३-२१४।

२. सममेव हि भोग्यं च भोक्तारं च प्रसूयते।
—तन्त्रालोक भाग ६, ९।२१५।

३. इदमेव हि परं स्वातंत्र्यं-यत् स्वं स्वरूपं वेदकमेव सत् वेद्यत्वेन अवभासयति।
—तंत्रालोकविवेक भाग १, पृष्ठ २०९।

४. तन्त्रालोकविवेक भाग ६, पृष्ठ १७८।

५. ईश्वरेच्छावशक्षुब्धलोलिकं पुरुषं प्रति।
भोक्तृत्वाय स्वतंत्रेशः प्रकृतिं क्षोभयेद् भृशम्॥
—तंत्रालोक भाग ६, ९।२२५।

करते हैं[1]। यहाँ सांख्यदर्शन की भाँति एक प्रकृति न मानकर प्रत्येक पुरुष की अलग-अलग प्रकृति होने से उसे असंख्यक स्वीकार किया गया है[2]। क्षुभित प्रकृति अर्थात् गुणों से करण (इन्द्रियाँ) और कार्य-रूप से विकसित होने वाले जिन २३ प्रकार के प्रमेय तत्त्वों की ऊपर चर्चा की गई है वे इस प्रकार हैं—

बुद्धि से पृथिवी तक २३ तत्त्व

गुणों (प्रकृति) से बुद्धितत्त्व, बुद्धितत्त्व से अहंकार, अहंकार से मन, यह तीन प्रकार का अन्तःकरण माना गया है। मितप्रमाता की विकल्प-प्रतिबिम्ब-धारिणी बुद्धि में उपयोगी श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और प्रमाता के कर्म में उपयोगिनी होने वाली जो पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं उनके नाम हैं–वाणी, हस्त, चरण, पायु और उपस्थ। ये तेरह तत्त्व प्रकृति का कार्य होते हुए भी उसके अन्य कार्यों से असाधारण होने से प्रमाता के 'करण' कहे जाते हैं[3]। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ हैं, जिनका स्थूल कार्य क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी नाम के पंचभूत हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शन के उपर्युक्त २३ तत्त्वों का विवेचन सांख्यदर्शन के समान ही है। अतः यहाँ इनका सविस्तार विवेचन अनावश्यक समझ कर संक्षेप में ही उनका उल्लेख मात्र कर दिया है।

---

१. वही ९।२२३।
२. तंत्रालोकटीका भाग ६, पृष्ठ १७२।
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २१३।

अध्याय ४

प्रमातृ-भेद-निरूपण

परमशिव को अनन्त रूपों में अवस्थिति का हेतु : मल-कल्पना

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार अप्रतिहतशक्ति एक परमेश्वर ही सर्वत्र अवस्थित है और वही अपने स्वातंत्र्य-स्वभाव के कारण प्रमातृ-प्रमेयादि अनन्त-रूपों में आत्म-अवभासन की इच्छा से नाना रूप धारण करता है। किन्तु जगल्लीला में नाना रूप धारण करके भी वह अपने विश्वोत्तीर्णस्वरूप से उसी प्रकार च्युत नहीं होता, जिस प्रकार अनन्त वीचिमालाओं के रूप में विलसित होकर भी सागर अपने वीचिरूपोत्तीर्ण सागरत्व से च्युत नहीं होता। अतएव जो कुछ है वह सब परमेश्वर का ही स्वातंत्र्य-विलास है और परमार्थतः परमेश्वर से दूसरा तो कोई है ही नहीं[1]। उक्त अनन्तरूपों का अवभास परमेश्वर मलों की कल्पना द्वारा करता है। मल-कल्पना उसकी स्व-रूप-गोपन की क्रीड़ा है[2]। अपने स्वातंत्र्य-स्वभाव के कारण परिगृहीत जीवभाव शिव अपने पारमेश्वर स्वभाव की स्वात्म-प्रच्छादनरूप क्रीड़ा वाली उक्त कल्पना को जब केवल कल्पना न समझकर यथार्थ समझने लगता है तब यथार्थ समझी जाने वाली वह कल्पना ही उसका बन्धन बन जाती है[3]। वस्तुतः जीवभावगृहीत शिव का अपने स्वातंत्र्यस्वभाव को

१. इह हि सर्वत्राप्रतिहतशक्तिः परमेश्वर एव यथाबुभूषुस्तथा भवति, न त्वन्यः कश्चित् परमार्थतोऽस्ति,—इत्यसकृदुक्तम्।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २२३।

२. (क)—परिपूर्णदृक्क्रियास्वभावस्य एकस्यैव आत्मनो गोपनेन संकुचितदृक्क्रियात्माणुरनेककः परिगृहीतकृत्रिमानेकरूपः संवृत्तो येनायमियतः ससारस्य समुल्लासः। —तंत्रालोकटीका, भाग ८, पृष्ठ ६९–७०।

(ख)—स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः।

—मालिनीविजयवार्त्तिक काण्ड २।१८६।

३. इत्थं च मायाशक्त्या पुर्यष्टकादौ गृहीताभिमानोऽयं विश्वभित्तिभूतपरिपूर्णबोधरूपतया स्फुरन्नपि असौ संकोचावभासात्मना तावता श्रंशेन स्वयमेव बध्यते। यथोक्तं प्राक्—

आत्मना बध्यते ह्यात्मा ······।

—स्वच्छन्दतंत्रटीका भाग ६, १२ पटल, पृष्ठ ५२।

यथार्थतः न जानना ही उसका अज्ञान है और अज्ञान की ही पारिभाषिक संज्ञा मल है[1]। मल के तारतम्य के विचार से शैवशास्त्रकारों ने प्रमाताओं का मुख्यतः सात श्रेणियों में वर्गीकरण किया है[2]। मल मूलतः तो एक ही है किन्तु शास्त्रकारों ने समझाने के लिए उसे तीन रूपों में विभक्त किया है, जिनकी शास्त्रीय संज्ञाएँ आणव, मायीय और कार्म हैं। शिवस्वरूप के संकोचमात्र को आणव कहते हैं[3]। अणुता को प्राप्त प्रमाता की भेद-दृष्टि को मायीय मल कहा जाता है[4]। इस भेद-दृष्टि रूपी मायीय मल के प्रभाव से प्रमाता जगत् को अपने से भिन्न समझने लगता है। कार्ममल को जीव की जन्ममरण रूप संसृति का मुख्य कारण माना गया है[5]। उक्त मलत्रय से संबद्ध जीवात्मा अपने शिवस्वभाव के अज्ञान के कारण आत्मसत्तास्वरूप अद्वयस्वभाव चैतन्य को भी प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयरूप नानारचना-प्रपंचभाव से देखने लगता है।

मलत्रय

परमशिव शुद्धप्रकाशरूप है और अग्नि-दाहकतावत् विमर्शरूपिणी आत्म-शक्ति से अभिन्न है। अतः वह प्रकाशरूप (बोधरूप) भी है और विमर्शरूप (कर्तृतारूप) भी है। परमेश्वर की यह कर्तृता शुद्धकर्तृतामात्र है अर्थात् स्वरूप-विमर्श की कर्तृता है। अपने से भिन्न किसी विषय के प्रति रहने वाली कर्तृता नहीं, क्योंकि परमेश्वर से भिन्न किसी विषय की सत्ता तो सर्वथा अचिन्त्य ही है। परमेश्वर आणवमल (स्वरूपतिरोधित्सा) की कल्पना से स्वरूप-

---

१. अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्।
—तंत्रसार, आ० १, पृष्ठ ५।

२. (क)—संविद्रूपे न भेदोऽस्ति वास्तवो यद्यपि ध्रुवे।
तथाप्यावृतिनिर्ह्रासतारतम्यात्स लक्ष्यते॥
(आवृतेः—आणवस्य मलस्य।)
—तंत्रालोक भाग १, आ०१।१३८।

(ख) शिवादिसकलान्तश्च शक्तिमन्तः सप्त।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २२९।

३. संकोच एव पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम्।
—स्वच्छन्दतंत्रटीका, भाग ५ ब, पृष्ठ ५१९।

४. भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, ३।२।५।

५. तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, ३।२।१०।

संकोच करता है[1]। यह स्वरूप-संकोच दो प्रकार का होता है–शुद्धबोधरूप की स्वातंत्र्यहानि से और शुद्ध स्वातन्त्र्य की अबोधता एवं प्राण, बुद्धि, शून्यादि अबोधरूपों में अहन्ताभिमानरूप संकुचित कर्तृत्व से[2]। स्वरूप-संकोच के उक्त प्रकारद्वय की व्याख्या यथाप्रसंग आगे की जायगी। अतः यहाँ इनके सम्बन्ध में अधिक लिखना अनावश्यक है।

जिन प्रमाताओं में शुद्धबोधरूपता होने पर भी उत्तम स्वातन्त्र्य-रूप कर्तृता का अभाव (स्वातन्त्र्य-हानि) होता है, वे परमेश्वर से व्यतिरिक्त होते हैं,[3] क्योंकि परमेश्वर में शुद्धबोध-रूपता के साथ शुद्धकर्तृता भी विद्यमान होती है[4]। स्वातन्त्र्य से विरहित ये बोधरूप प्रमाता शरीर से लेकर शून्य तक के प्रमातृपदों से उत्तीर्ण होते हैं। इन सब में बोधत्व-नित्यत्व-विभुत्व आदि धर्मों का ऐक्य (समानता) होने पर भी "मैं भेद से निर्भासित होऊँ" इस प्रकार की परमेश्वर की इच्छाविशेष से ये एक दूसरे से भेदयुक्त होते हैं। इस प्रकार बोध-रूप होते हुए भी ये प्रमाता परमेश्वर से और एक दूसरे

विज्ञानाकल

से भिन्न होते हैं। ऐसे प्रमाताओं को शैवशास्त्र में 'विज्ञान-केवल' या 'विज्ञानाकल' कहा गया है। ये केवल एक आणवमल वाले प्रमाता हैं[5]। कर्तृत्व-शून्य केवल शुद्धबोध-रूप (प्रकाशरूप) को ही 'विज्ञानं ब्रह्म' कहने वाले वेदान्तियों की यही ब्रह्म-दशा है, जो अद्वैतनिष्ठ

---

१. इह ईश्वरस्य स्वरूपतिरोधित्सैव तावदाणवस्य मलस्य कारणम्।
—तन्त्रालोकटीका, भाग ८, पृष्ठ ७४।

२. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, ३।२।४।

३. शुद्धबोधात्मकत्वेऽपि येषां नोत्तमकर्तृता।
निर्मिताः स्वात्मनो भिन्ना भर्त्रा ते कर्तृतात्ययात्॥
—वही, ३।२।६।

४. परमेश्वरस्य तूत्तमस्वातंत्र्यावियुक्तबोधरूपत्वम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २२३।

५. व्यापकनित्यबोधस्वभावोऽपि 'अहं भेदेन निर्भासे' इत्येवंभूतेनेश्वरेच्छाविशेषेण तेषां शरीरादिशून्यान्तप्रमातृपदोत्तीर्णानां बोधत्वनित्यत्वविभुत्वादिधर्मजातस्यैक्येऽप्यन्योन्यं भेदः, ते च शास्त्रे 'विज्ञानकेवला' उक्ताः। तत्र विज्ञानकेवलो मलैकयुक्तः। —वही, पृष्ठ २२४।

शैवों के अनुसार प्रथम प्रकार के मल (स्वातन्त्र्यहानि) से युक्त है और स्वातन्त्र्यात्मकस्पन्दशक्ति के बिना स्फटिक आदि की भाँति 'जडोपम' है[1]।

प्रलयाकल

अबोधरूप शून्य, बुद्धि आदि में ही 'अहं' भाव से कर्तृत्व के अभिमानी प्रमाता प्रलयाकल कहलाते हैं। अपने शुद्धस्वातन्त्र्य को भूल कर प्राण, बुद्धि अथवा शून्य जैसे अबोधरूप में 'अहंभाव' का अनुभव करने के कारण इनका कर्तृत्व संकुचित हो जाता है। इनमें आणव-मल के प्रकारद्वय अर्थात् स्वातन्त्र्य की अबोधता और बोधरूपता के स्थान पर अबोधरूपता में अहन्ता-अभिमान के साथ कार्ममल भी विद्यमान रहता है, जिसे धर्माधर्मरूप कहकर पुनर्जन्म का कारण बताया गया है[2]। प्रलयकाल तक ये अबोधरूप कर्ता मुक्त-से रहते हैं परन्तु प्रलय के अनन्तर नये कल्प में पुनः जन्ममरणरूप संसृति के पात्र बन जाते हैं[3]।

प्रलयाकलों की दो अवस्थाएँ

प्रलयाकलों की दो अवस्थाएँ मानी गई हैं—सवेद्यसुषुप्ति अवस्था और अपवेद्यसुषुप्ति अवस्था। सवेद्यसौषुप्तपद में लीन प्रलयाकलों में भिन्नवेद्यप्रथारूप मायीय मल का अंश भी विद्यमान रहता है। अतः इनमें तीनों मल होते हैं। परन्तु अपवेद्य-सुषुप्ति अवस्था में अवस्थित प्रलयाकलों में दो ही मल होते हैं[4]। स्थूल देह और स्थूल इन्द्रियरूप कार्य एवं करणों का अभाव सभी प्रलयाकलों में समानभाव से रहता है[5]। सृष्टि दशा में स्फुट मलत्रय से आविष्ट साधारण प्राणी की संज्ञा

---

१. ऐश्वर्यात्मकविमर्शशून्यप्रकाशमात्रतत्त्वो ब्रह्मरूपोऽपि यत्र नास्ति यच्छ्रुत्य-न्तविदः प्रतिपन्नाः 'विज्ञानं ब्रह्म' इति, तस्यापि स्वातंत्र्यात्मक स्पन्दशक्तिं विना जडत्वात्। —स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ १७–१८।

२. शून्याद्यबोधरूपास्तुकर्तारः प्रलयाकलाः।
तेषां कार्मो मलोऽप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पितः॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, ३।२।८।

३. प्रलयावधि हि ते तथाभूता उत्तरकालं तु कार्यकरणसंबद्धा एव भवन्ति।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, पृष्ठ २२५।

४. सवेद्यरूपे सुषुप्तपदे (अस्ति मायीयो मलः) अपवेद्ये तु न भवति।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २२५।

५. स्थूलदेहेन्द्रियात्मककार्यकरणवियोगरूपत्वं तु प्रलयाकललक्षणं सर्वेषां तुल्यम्। —वही।

'सकल' प्रमाता है[1]। मलत्रय से पूर्णतः संबद्ध सभी सकल प्रमाता जन्म, मरण, जरा, व्याधि, क्षुधा, तृष्णा आदि शरीर-धर्मों से अनुदिन दुखित होते रहते हैं[2]। सकल प्रमाताओं के चौदह वर्ग हैं—देवताओं के आठ वर्ग, तिर्यक् आदि के पाँच वर्ग और मनुष्यों का एक वर्ग[3]। कार्ममल की स्थिति से ये सभी प्रमाता संसृति के दुःखों से परितप्त रहते हैं।

सकल

कुछ ऐसे भी प्रमाता होते हैं जो अपने आपको बोधरूप तथा कर्तृत्वयुक्त समझते हैं किन्तु सर्वज्ञ और सर्वकर्तृत्वयुक्त होकर भी वे वेद्य जगत् को 'कुविन्दपट-दृष्टि' से अपने से भिन्न ही समझते हैं[4]। स्पष्ट शब्दों में कहना चाहें तो जैसे जुलाहे (कुविन्द) को स्वनिर्मित पट भी कार्यरूप से अपने से पृथक् प्रतीत होता है। उसी प्रकार ये विद्येश्वर-संज्ञक प्रमाता शुद्ध चिन्मात्र में अहन्ता-अभिमानी होकर भी स्वनिर्मित वेद्य जगत् को अपने से पृथक् ही समझते हैं—

विद्येश्वर

ते (विद्येश्वराः) हि शुद्धचिन्मात्रगृहीताहंभावाः स्वतस्तु
भिन्नं वेद्यं पश्यन्ति यथा द्वैतवादिनामीश्वरः ॥[5]

आचार्य अभिनवगुप्त ने विद्येश्वर प्रमाताओं की अवस्थिति विद्यापद में बतलाई है—

विद्यापदे च विद्येश्वरादीनाम् अवस्थितिः[6]।

विद्येश्वरों की ही अन्य संज्ञा 'मंत्र-प्रमाता' है।

---

१. मलत्रयोपरक्ताः सकला मायातत्त्वान्तरालवर्तिनः।
—महार्थमंजरीटीका, पृष्ठ ३२।

२. कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहः पैशुन्यमेव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिक्षुत्तृट्तृष्णास्तथैव च ॥
—तंत्रालोक टीका, भाग ५, पृष्ठ १९९।

३. अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योश्च पंचधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥
—सांख्यकारिका ५३।

४. ये चिन्मात्रमेवात्मतया पश्यन्ति 'अहम्' इति च चमत्कारोल्लासात् कर्तारस्तत एव सर्वज्ञाः सर्वकर्तारश्च ते विद्येश्वराः। किन्तु तनुकरणभुवनादि यदेषां वेद्यतया कार्यतया च भाति, तत् कुविन्दपटदृष्ट्या भिन्नमेव सत्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २२६।

५. वही, पृष्ठ २०१।

६. परात्रिंशिका विवरण, पृष्ठ ११८।

विद्येश्वर प्रमाताओं से उत्कृष्ट प्रमाता वे हैं जो शुद्धविद्यातत्त्व के भागी हैं। शुद्ध 'अहम्' के चिन्मात्ररूप अधिकरण में जब 'इदम्' अंश का उन्मेष होता है तब जिन प्रमाताओं में इदन्ता का आन्तर अवभास अस्फुट रूप से होता है सदाशिवतत्त्व में अवस्थित वे प्रमाता 'मंत्र-महेश्वर' कहलाते हैं। जिनमें वह 'इदन्ता' का अवभास स्फुटरूप से होता है, उन्हें मंत्रेश्वर प्रमाता कहते हैं जो ईश्वरतत्त्व में अवस्थित रहते हैं। मंत्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर प्रमाताओं में अन्तर यहहै कि

मंत्रेश्वर और मंत्रमहेश्वर

मंत्रेश्वरों के शुद्ध विमर्श में 'इदम्' भाव की अध्यामलता (स्फुटता) रहती है और मंत्रमहेश्वरों के शुद्ध विमर्श में उसकी ध्यामलता (अस्फुटता) रहती है, यह पूर्व कहा जा चुका है। अतएव मंत्रमहेश्वर मंत्रेश्वरों से उत्कृष्ट प्रमाता हैं। मंत्रमहेश्वर प्रमाताओं से उत्कृष्ट प्रमाता स्वयं भगवान् शिव ही हैं, जहाँ प्रमेय-कल्पना का संस्पर्श तक नहीं होता और सर्वत्र केवल एक शुद्ध 'अहन्ता' का ही विमर्श होता है। शिव प्रमाता सर्वथा शुद्ध प्रमाता है क्योंकि शिव ही तो वस्तुतः परमशिव है। मंत्रों (विद्येश्वरों) मंत्रेश्वरों और मंत्रमहेश्वरों में स्वरूप-संकोच की अतिसूक्ष्म कल्पना होती है।

शिव

विज्ञानाकल प्रमातृदशा से ऊपर शिवभाव के समावेश के आरोह-क्रम में उक्त स्वरूप-संकोच की अतिसूक्ष्म कल्पना को तंत्रालोक में क्षीयमान आणव मल की चार अवस्थाएँ मानकर स्पष्ट किया गया है[1]। क्षीयमान आणवमल की वे चार अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—(१) किंचिद्ध्वस्यमान, (२) ध्वस्यमान, (३) किंचिद्ध्वस्त और (४) ध्वस्त। इन चार दशाओं के भागी प्रमाताओं की संज्ञाएँ क्रमशः मंत्र, मंत्रेश्वर, मंत्रमहेश्वर और शिव हैं। अतः स्पष्ट है कि मंत्र प्रमातृदशा से स्वरूप-संकोच क्षीण होता हुआ शिव-प्रमातृदशा में पूर्णतः ध्वस्त हो जाता है अर्थात् शिव पूर्णतः मलोत्तीर्ण है। इसलिए शिव सर्वथा शुद्ध प्रमाता है। इस प्रकार मुख्यतः सात

क्षीयमान आणवमल की चार दशाएँ

---

१. दिध्वंसिषुध्वंसमानध्वस्ताख्यासु तिसृष्वथ।
दशास्वन्तः कृतावस्थान्तरासु स्वक्रमस्थितेः॥
विज्ञानाकलमंत्रेशतदीशादित्वकल्पना॥
—तंत्रालोक, आ० ९।९५–९६।
अवस्थान्तराणीति–किंचिद्ध्वंसमानत्वकिंचिद्ध्वस्तत्वादिरूपाणि।
—तंत्रालोकटीका, भाग ६, पृष्ठ ८१।

प्रमातृ-कोटियाँ मानी गई हैं। त्रिक प्रक्रिया (प्रक्टिकल योग) के ग्रन्थों में कहीं-कहीं मंत्रमहेश्वरों और शिव प्रमातृदशा के मध्य में भी एक प्रमातृ-दशा मानी गई है, जिसके प्रमाताओं की संज्ञा शक्तिज (अनाश्रित) है[1]। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अभ्यास की प्रक्रिया विशेष के प्रसंग में उक्त प्रकार से आठ प्रमाताओं का उल्लेख करके भी आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्त-निरूपण के प्रसंग में तो मुख्यतः सात ही प्रमाता माने हैं—

मुख्यत्वेन तु सप्तैव मातृभेदाः प्रकीर्तिताः[2]।

मुख्य-गौणभाव के भेद से इन सात प्रमाताओं के भी अनन्त प्रमातृ-वर्ग हो सकते हैं—

तथा च शास्त्रे

शिवादिसकलान्ताश्च शक्तिमन्तः सप्त।

इत्युक्तम्। तत्राप्यवान्तरभेदेन गुणमुख्यताभेदेन विकल्पसमुंचयतादिभेदेन चानन्तप्रकारत्वमिति[3]।

अतएव यह कहा जा सकता है कि डा० पाण्डेयजी ने जिन आठ प्रमाताओं का उल्लेख किया है[4] वे अभ्यास की प्रक्रिया-विशेष के ही द्योतक हैं, सिद्धान्त के नहीं।

---

१. शांभवाः शक्तिजा मन्त्रमहेशा मंत्रनायकाः।
मंत्रा इति विशुद्धाः स्युरमी पंच गणाः क्रमात्॥
—तंत्रालोक भाग ६, आ० ९।५३-५४।

शक्तिजा इति—अनाश्रिताद्याः।
—तंत्रालोकटीका, भाग ६, पृष्ठ ५२।

२. मालिनीविजयवार्त्तिक १।९६०।

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २२९।

४. अभिनवगुप्त, पृष्ठ १८४।

अध्याय ५

बन्धन और मोक्ष

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार बन्धन का कारण अज्ञान है[1]। अज्ञान का तात्पर्य यहाँ ज्ञान के अभाव से न होकर उस परिमित ज्ञान से है जो सांसारिक जीवों में होता है। सांसारिक जीवों के ऐसे ही परिमित विषय-ज्ञान को शिवसूत्रों में बन्धन रूप कहा गया है[2]। शैवशास्त्रों में इस अज्ञान की परिभाषिक संज्ञा मल है। इस मल का कारण परमशिव का स्वातंत्र्य है, जिससे वह अपने आप में अवरोहण और आरोहण की कल्पना करता है। अवरोहण की कल्पना उसकी स्वात्म-प्रच्छादन की इच्छारूप क्रीड़ा है। परमेश्वर की इस स्वात्म-प्रच्छादन या स्वरूपगोपन की इच्छारूप क्रीड़ा को ही काश्मीर शैवदर्शन में आणव मल का कारण बताया गया है[3]। यह आणवमल वस्तुसत्य न होकर अवरोहण-लीला के लिये परमेश्वर के द्वारा अपने स्वातंत्र्य से की गई मल की कल्पना मात्र है[4]। किन्तु अपने स्वातंत्र्य-स्वभाव की लीलावश जीवभाव-परिगृहीत शिव जब स्वरूप-गोपन की अपनी स्वतंत्र इच्छा से स्वपरिगृहीत पारिमित्य को यथार्थतः अपना पारिमित्य समझ लेता है तब पारिमित्य की वह यथार्थ प्रतीति ही उसका बन्धन बन जाती है[5] और वह अपने

बन्धन का कारण : अज्ञान

१. अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्।

—तंत्रसार, पृष्ठ ५।

२. ज्ञानं बन्धः।

—शिवसूत्र १।२।

३. इह ईश्वरस्य स्वरूपतिरोधित्सैव तावदाणवस्य मलस्य कारणम्।

—तंत्रालोक टीका, भाग ८, पृष्ठ ७४।

४. देवः स्वतंत्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूपप्रच्छादनक्रीडायोगादणुरनेककः॥

—तंत्रालोक, भाग ८ आ० १३।१०३।

५. केवलं एताः बन्धमोक्षादिकल्पना मायाशक्तिवशात्।
अपरामृष्टस्वरूपस्यैव न तु चिदद्वैतपरामर्शशीलस्य॥

—विज्ञानभैरव विवृति, पृष्ठ १२०।

संवित्स्वरूप के अज्ञानवश संकुचित ज्ञातृ-कर्तृरूप अणु बन जाता है[1]।

इस प्रकार उसके सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व स्वरूप के संकुचित हो जाने पर प्राण, बुद्धि आदि वेद्यरूपों में अहन्ता-अभिमान दृढ़ करके वह अपने आपको संकुचित प्रमाता समझते हुए परमार्थतः चिन्मय वेद्यों को भी अपने से सर्वथा भिन्न अचिन्मय समझने लगता है। पुरुष (अणुरूप आत्मा) की यह भिन्नवेद्य-प्रथा या भेदधी ही पारिभाषिक शब्दावली में मायीय मल कहलाती है[2]। इस भिन्नवेद्य-प्रथा के परिणाम-स्वरूप वह पुरुष संज्ञक मितात्मा किन्हीं वेद्यों में शुभता और किन्हीं में अशुभता का आरोप करने लगता है और शुभ या अशुभ के विकल्पों से परिबद्ध होकर कर्म करता है। यही शास्त्रीय भाषा में शुभाशुभविकल्परूप कार्म मल है, जिसे जीवों की जन्म-मरणरूप संसृति का कारण बताया गया है[3]। इस प्रकार अणुत्वचेतना में अहन्ताभिमानरूप आणवमल, भिन्नवेद्यप्रथारूप मायीय और शुभाशुभवासनारूप कार्म मल से परिबद्ध होकर जीव पुनः पुनः जन्म-मरण का भोक्ता बनता है।

बन्धन का स्वरूप

अतः स्पष्ट है कि अपने चित्स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है। यह अज्ञानरूप मल एक ही है किन्तु तर-तमभाव से उसकी आणव, मायीय और कार्म इन त्रिरूपों में कल्पना करके शैव आचार्यों ने बन्धन (मल) के तारतम्य के विचार से अनेक प्रमातृ-श्रेणियाँ मानी हैं। अवरोहण के क्रम से अर्थात् बन्धन के उत्तरोत्तर विकास के दृष्टिकोण से वे मुख्य प्रमातृ-श्रेणियाँ ये हैं—शिव, मंत्रमहेश, मंत्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। गौणमुख्यभाव से इनके भी अनन्त प्रकार हो सकते हैं यह गत अध्याय में सविस्तार बताया जा चुका है।

परमशिव अपने अनुत्तर स्वातंत्र्य से बन्धन की कल्पना द्वारा स्वरूपगोपन

---

१. संकोच एव हि पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम्।
—स्वच्छन्दतंत्र टीका, भाग ५ब, पृष्ठ ५१९।

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २–३।२।५।

३. शुभाशुभवासनात्मना विविधजन्मायुर्भोगदेन
कार्मेण मलेन वलितः।
— स्वच्छन्दतंत्र टीका, भाग ३, पटल ५, पृष्ठ ७६।

की क्रीड़ा करते हुए अनन्त जीवरूपों में आत्मावभासन करता है[1]। माया के तिरोधानकारी प्रभाव से स्वरूपविपर्यास हो जाने पर जीव अपने शिवभाव के अपरिज्ञान से परमेश्वर की मल-कल्पना अर्थात् बन्धन की कल्पना को यथार्थ समझ लेता है और कल्पित बन्धन को यथार्थ बन्धन समझकर वह संकुचित प्रमाता सुखदुःखादि भोगों में संसरित होने लगता है[2]। सद्गुरु के अनुग्रह आदि के अभ्यास से जब उसे अपने परिपूर्ण स्वातंत्र्य-स्वभाव का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है तब वह कल्पित बद्धता के अभिमान से छूटकर अपने जिस पूर्णाहन्ता के चमत्कार (संवेदन) में प्ररूढ़ होता है वही पूर्व अवस्था के विचार से मोक्ष कहा जाता है। इस प्रकार अपने स्वतंत्र पूर्ण स्वरूप की यथार्थ प्रतीति ही मुक्ति है[3]। इस स्वरूप-प्रथा की अवस्था में प्रमाता अपने को शरीर, बुद्धि, प्राण, शून्य इन सबसे उत्तीर्ण शुद्ध प्रकाश-विमर्श रूप संवित् अर्थात् शुद्ध 'अहम्' समझता है और समस्त विश्व को चिद्रूपता से 'अहं' रूप में अनुभव करता है। इस 'अहन्ता' के विमर्श में 'इदम्' का लेशमात्र भी अवभास नहीं होता। यही शिवभाव की सत्यमुक्ति है[4]। यह मुक्ति मितात्मा की कोई ऐसी नूतन उपलब्धि नहीं है, जो पहले उससे व्यतिरिक्त हो और अब उसे उपलब्ध हुई हो। यह तो वस्तुतः उसका आत्म-स्वभाव ही है जो अब तक मल-कल्पना से आवृत होने के कारण अनभिव्यक्त था। देहादि में आरोपित कल्पित अहन्ताभिमान के विलापन से चिदात्मस्वरूप की यह पुनः अभिव्यक्ति या आत्म-प्रत्यभिज्ञा ही शास्त्रों में मुक्तिनाम से अभिहित है[5]।

मोक्ष का स्वरूप

मुक्ति : आत्म-स्वभाव का प्रकाश

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २५३।

२. माययान्धो विमोहितः अतएव कर्माणि स्वात्मनो बन्धकान्यभिमन्यमान एष इति कालादिवेष्टितः शून्यादिप्रमाता संसरति इत्यतः संसारी।
— ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २१९।

३. (क) सम्यग्ज्ञानस्वभावा हि विद्या साक्षाद्विमोचिका।
—तंत्रालोक भाग ९–१५।९।

(ख) मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः।
—वही भाग १, १।१५६।

४. सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याद् भवेच्छिवः ॥–विज्ञानभैरव श्लोक १०९।

५. मोक्षस्य नैव किंचिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः ॥
—परमार्थसार कारिका ६०।

अद्वैत शैवशास्त्रों के अध्ययन, उपदेश-श्रवण या सद्गुरु के अनुग्रह से कभी-कभी स्थूल शरीर के रहते हुए ही देहादि में स्थित अहन्तारूप विकल्पज्ञान क्षीण होकर प्रमाता में अपने शिवस्वभाव का दृढ़ विश्वास उदित होता है[1] और अपने परिपूर्ण स्वरूप के पुनः पुनः परिशीलन-रूप अभ्यास से प्रमाताका अपनी शिवता का वह परामर्श इतना दृढ़ हो जाता है कि संसार का व्यवहार चलाते हुए भी उसे प्रायः यही प्रतीत होता है कि मैं शरीर, बुद्धि, प्राण और शून्य से उत्तीर्ण पूर्णप्रकाशरूप शिव हूँ और ग्राह्य-ग्राहक-रूप यह समस्त विश्व चिद्रूपता से मेरा ही अभिन्न शरीर है[2]। इस प्रकार 'अहम्' रूप प्रमाता और 'इदम्'-रूप प्रमेय में यह तात्त्विक अद्वय परिज्ञान ही संकोचरूपबन्धन से मुक्ति है जिसका अनुभव प्रमाता को अपने सांसारिक जीवनकाल में ही होने के कारण इसे 'जीवन्मुक्ति' संज्ञा दी गई है[3]। अपने शुद्धस्वरूप के इस प्रत्यभिज्ञान से प्रमाता जन्म-मरण के संकट से मुक्त हो जाता है और देहपात के अनन्तर तो वह साक्षात् शक्तिघनरूप शिव ही हो जाता है[4]। यही परिपूर्ण या सत्यमुक्ति नाम से व्यपदिष्ट है, जिसे विदेह-मुक्ति कहा गया है। यह सत्यमुक्ति परिपूर्ण 'शुद्ध अहन्ता' का विमर्श है, जिसमें विश्वोत्तीर्ण आत्म-विमर्श और विश्वमय आत्मविमर्श युगपत् अविनाभाव सम्बन्ध से प्रकाशमान रहते हैं[5]। शिवता और शक्तिघनता (विश्वोत्तीर्णता-

मुक्ति के प्रकार

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति

---

१. एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः ।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना ॥
—शिवदृष्टि ७।५–६।

२. जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभंग्यः प्रभा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभंग्यो विभेदिताः ॥
—विज्ञानभैरव श्लोक ११०।

यन्मुक्तस्य स्वांगरूपतया भावा अवभासन्ते ।
—तंत्रालोक भाग ३, पृष्ठ २४०।

३. यदा तु शुद्धविद्याशक्त्या संकोचविभासोऽस्य विलाप्यते, तदा मुच्यतेऽसौ वै. न च देहपाते अस्य मुक्तिरपितु जीवतोऽपि अस्येत्याह ।
—स्वच्छन्दतंत्र टीका भाग ६, पटल १२, पृष्ठ ५२।

४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २१९।

५. विश्वात्म विश्वोत्तीर्णं च स्वतंत्रं दिव्यमक्षरम् ।
अहमित्युत्तमं तत्त्वं समाविश्य बिभेति कः ॥
—विज्ञानभैरव विवृति, पृष्ठ ९०।

विश्वमयता) का यह विमर्श, जिसे निविड़ सामरस्य की स्थिति कहा है, पूर्ण संविद्रूपता की मुक्ति है, जो विकल्पमुक्त स्वानुभवैकगम्या है । इस प्रकार अपने चिदात्मक स्वरूप की पूर्ण प्रतीति ही मुक्ति है ।

चिदात्मकस्वरूप की यह यथार्थ प्रतीति उपासना आदि किसी भी उपाय से संभव नहीं है क्योंकि ध्यान, धारणा जप, तप, पूजा आदि जितने आन्तर और बाह्य उपाय हैं, वे सभी माया के भीतर ही व्यवहार के लिए परमेश्वर के द्वारा आभासित होते हैं । अतः ये सभी मायीय उपाय हैं और शिव मायोत्तीर्ण शुद्ध प्रकाश-रूप है । ऐसी स्थिति में इन मायीय उपायों से प्राणी के अमायीय और शुद्ध स्वातन्त्र्य स्वभावभूत परमशिव का प्रकाशित होना कैसे संभव है ? घट को प्रकाशित करने वाला सूर्य क्या घट के द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है ? निश्चय ही नहीं । इस प्रकार काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार किसी उपाय के द्वारा प्राणी की 'शिवता' का प्रकाशन संभव नहीं है क्योंकि उसी स्वयंप्रकाशमान से तो सब मायीय व्यवहार प्रकाशित होते हैं[3] । फिर वे उसे कैसे प्रकाशित कर सकते हैं ?

मुक्ति के उपाय : मायावर्ती

उपायों से शिवत्व-प्रकाश संभव नहीं

प्रमाता के स्वभाव–प्रकाश (शिवत्व) के अनुभव में बाधक बने हुए अपूर्णंमन्यतारूप जो मल हैं उन्हें हटा देना ही उपायों का कार्य है और मलों के हट जाने पर प्राणी का स्वाभाविक शिवभाव मेघावरणरहित सूर्य की भाँति स्वयमेव उसके परामर्श में चमकने लगता है । अतः उपासनाक्रम में मलों के प्रक्षालन के उपाय ही व्यवहार में मुक्ति के उपाय कहे जाते हैं । इन उपायों को शैव-

मल-प्रक्षालन के उपाय व्यवहार में मुक्ति के उपाय

---

१. अन्तः स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
—विज्ञानभैरव श्लोक १५ ।

२. उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्
घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः ।
—तंत्रसार, पृ० ९ ।

३. उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः ।
—तंत्रालोक टीका भाग १, आ० २, पृष्ठ ३ ।

शास्त्र में तीन वर्गों में विभक्त किया गया है जो वस्तुतः अस्वतन्त्र जीवात्मा के 'पररूपता' में समावेश की ज्ञानदशा के ही तीन सोपान हैं[1]। अनुपाय तो शांभव उपाय की ही पराकाष्ठा है[2]। वह वस्तुतः उपाय न होकर शांभव उपाय का उपेय है, यद्यपि उसका निरूपण उपायों के बीच ही किया गया है। मुक्ति की ओर आरुरुक्षु साधक की उपासना में इन उपायों का क्रम 'आभास–प्रक्रिया' से विपरीत होता है जैसे आणवोपाय, शाक्तोपाय और शांभवोपाय। आणवोपाय में साधक प्राणव्यापार–रूप उच्चार आदि बाह्य (अवच्छिन्न) वस्तु को आलम्बन मानकर विकल्पबुद्धि द्वारा उस पर अपने आपकी भावना करता है[3] और इस भावना के उत्तरोत्तर विकास से उसे यह प्रतीति होने लगती है कि शिव की शक्ति ही सर्वत्र परिव्याप्त है और जड़-चेतन सभी उसी का स्फार है[4]। इस प्रकार सर्वत्र शक्तिभाव के 'प्रत्यय' के उदित होते ही उसकी जड़रूपता का अर्थात् प्रकाशपरिच्छिन्नता का तिरोभाव हो जाता है और वह अपने विशुद्ध चैतन्य स्वभाव को पहचानकर शिवरूप हो जाता है[5]। ये उच्चार आदि उपाय बुद्धि की कल्पनारूपक्रिया से तथा ध्यानादि मानस-क्रिया से साध्य हैं। अतः इसे क्रियोपाय भी कहा गया है[6]। क्रियोपाय से ऊँचा ज्ञानोपाय अर्थात् शाक्तोपाय माना

अनुपाय

आणवोपाय

---

१. वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना। —तंत्रालोक टीका, भाग १, आ० २, पृष्ठ २४८।

२. साक्षादुपायेन इति शांभवेन। तदेव हि अव्यवहितं परज्ञानावाप्तौ निमित्तं स एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते।

—वही, पृष्ठ १८२।

३. वर्णविशेषावमर्शप्रधानः आणवः।

—विज्ञानभैरवविवृति, पृष्ठ १९।

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥

—मालिनीविजयोत्तर तन्त्र २।२१।

४. जीवः शक्तिः शिवस्यैव सर्वत्रैव स्थितापि सा।

—तंत्रालोक भाग ३–५.९।

५. तंत्रालोक टीका भाग ३, पृष्ठ ३१९.

६. यत्तु तत्कल्पनाक्लृप्तबहिर्भूतार्थसाधनम्।
क्रियोपायं तदाम्नातं भेदो नात्रापवर्गगः ॥

—तंत्रालोक आ० १।१४९.

गया है क्योंकि यहाँ विकल्प होते हुए भी आणवोपाय की भाँति बाह्य उच्चारादि का पूर्ण अभाव होता है[1] और साधक देह आदि से उत्तीर्ण अपने आप में ही शुद्ध विकल्प द्वारा "सब कुछ मैं हूँ" ऐसे परिपूर्ण शिवभाव की भावना करता है[2]। 'भावना' ही विकल्प-ज्ञान है। साधक जब ध्यान, पूजा, अर्चनारूप विकल्पज्ञान के दर्पण में अपने विकल्पयिता रूप को पुनः-पुनः भैरवभाव से देखते हुए शिवरूपता से उसकी अभेद-प्रतीति में दृढ हो जाता है तो उसका वह तदैकात्म्यभाव ही शाक्तसमावेश की मुक्ति कहलाती है[3]। विकल्परूप ज्ञानप्राधान्य के कारण इसे ज्ञानोपाय कहा गया है[4]। ज्ञानोपाय से ऊर्ध्ववर्ती इच्छोपाय अर्थात् शांभवोपाय है। इसमें विकल्प की अनुपयोगिता कही गई है[5]। निर्विकल्पक साधक की तीव्र इच्छामात्र से ही उसकी स्पन्दरूपा इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है और इस समावेश में अनेकशः अभ्यास से शिवभाव का संस्कार दृढ़ हो जाने पर निर्मलसंवित्-साधक किसी सिद्धयोगी गुरु के दर्शनमात्र या कथनमात्र के अनुग्रह से ही बिना किसी साधना के स्वयमेव परिपूर्ण शिवभाव का साक्षात्कार कर लेता है, जैसे एक दीपक की ज्योति स्पर्श-मात्र से ही दूसरे दीपक में संक्रान्त हो जाती है[6]। ऐसा हो जाने पर वह साधक सिद्ध बन जाता है और उसमें यह विमर्श दृढमूल

ज्ञानोपाय (शाक्तोपाय)

इच्छोपाय (शांभवोपाय)

---

१. तन्त्रालोक टीका, भाग १, पृष्ठ २४२.

२, सर्वाहंभावभावनात्मकशुद्धविकल्पनावमर्शरूपः शाक्तः ।

—विज्ञानभैरव विवृति, पृष्ठ १९ ।

३. तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि ।
आत्मानं भैरवं पश्यन्नचिरात्तन्मयीभवेत् ।

—तन्त्रालोक आ० ४।२०८ ।

तन्मयीभवनं नाम प्राप्तिः सानुत्तरात्मनि ।

—वही ४।२०९ ।

४. तन्त्रालोक आ० १।१४८.

५. तंत्रालोक आ० १।१७८.

६. अविकल्पस्वरूपपरिशीलनात्मा शाम्भवावेशः ।

—विज्ञानभैरवविवृति पृष्ठ १९.

तंत्रालोक टीका भाग १, आ० २, पृष्ठ ३४.

हो जाता है कि यह समस्त भासमान विश्व मुझ से ही उदित हुआ है, मुझमें ही दर्पणनगरन्याय से प्रतिबिम्बित है और मुझ से सर्वथा अभिन्न है[1]। मुक्ति के साक्षात् उपाय शांभव और उसके सभी अन्य उपायों का मूल आधार भक्ति है, जिसके बिना उपायों के प्रति प्राणियों की न रुचि ही होती है और न प्रवृत्ति ही[2]। अतएव भक्ति ही परम उपाय है और वही भक्ति पराकाष्ठा को प्राप्त होने पर मोक्ष कही जाती है—

उपायों का मूल आधार : भक्ति

भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते[3]।

और भक्ति का उदय परमेश्वर के अनुग्रह (शक्तिपात) पर ही निर्भर है। अतएव वस्तुतः परप्रकाशात्मा शिव ही सर्वत्र उपाय, उपेय आदि भाव से अपनी स्वातंत्र्यलीला में रत है।



---

१. मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शांभवः ॥

—तंत्रालोक आ० ३।२८०।

२. न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नमो भक्तिशालिनम् ॥

—शिवस्तोत्रावली स्तो० १।१.

३. तन्त्रालोक टीका, भाग १३, पृष्ठ १३७।

द्वितीय-खण्ड

कामायनी : काश्मीर शैवदर्शन के परिवेश में

अध्याय ६

अशुद्ध अध्वा और 'सकल' प्रमाता मनु

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम खण्ड में काश्मीर शैवदर्शन के सिद्धान्तों को सविस्तार स्पष्ट करने के उपरान्त अब हम इस खण्ड में कामायनी में उनका अन्वेषण करते हुए यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि प्रसाद जी ने उक्त दर्शन के इन सिद्धान्तों को आत्मसात कर कामायनी में प्रारम्भ से ही उन्हें किस प्रकार उत्तरोत्तर रूप से प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है।

कामायनी की कथा का आरम्भ प्रलयोत्तर सृष्टि से होता है। मनु के स्मृति-चित्रों के माध्यम से वर्णित 'पंचभूत के ताण्डवमय नृत्य' के परिणामस्वरूप अखिल धरा को डुबो कर चतुर्दिक् प्रसृत प्रलय-जलधि का जलसंघात उतर चलता है और पृथ्वी निकलने लगती है :

> उतर चला था वह जल-प्लावन,
> और निकलने लगी मही।[1]

फिर नये सिरे से भौतिक सृष्टि का विकास आरम्भ होता है और अरुणोदय के नव आलोक में वनस्पतियों के अंकुरण एवं पल्लवन से प्रकृति पूर्ववत् ही हरी भरी हो जाती है। यह प्राकृतिक या पाञ्चभौतिक सृष्टि निस्सन्देह रूप से काश्मीर शैवदर्शन-प्रतिपादित मायीय सृष्टि है क्योंकि उक्त दर्शन में मायातत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व तक की संपूर्ण सृष्टि मायीय सृष्टि कही गई है और कामायनी के 'आशा' सर्ग में वर्णित सृष्टि-विकास निर्विवाद रूप से मायीय सर्ग (सृष्टि) के पंचभूतों के ही विकास का परिणाम है। कामायनी की कथा और उसमें वर्णित शैवदर्शन के जगदाभास के तत्त्वों से भी हमारे उक्त मत की पुष्टि हो जाती है। मनु कामायनी का नायक है और उसकी कैलास-स्थित मानसरोवर की यात्रा कामायनी की मुख्य कथा है। कामायनी के प्रारम्भ में हिमगिरि के उत्तुंग शिखर से साश्रुनेत्रों से प्रलय-प्रवाह देखने वाला चिन्तातुर मनु कैलास-स्थित मानसरोवर के तट पर पहुँच कर आत्मस्थ आनन्द से पुलकित-सस्मित दिखाई पड़ता है, वहाँ पहुँच कर वह समस्त दुःखों से मुक्त होकर आनन्दभरित हो जाता है। इसका दार्शनिक अर्थ यह है कि कामायनी के पूर्वार्द्ध में मनु मायीय जगत् का जीव है और कामायनी की कथा मायीयसर्ग

---

१. कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृष्ठ ४।

से आदि सर्ग की ओर बढ़ने की जीवात्मा मनु की आनन्द-साधना की कथा है। जगदाभास के तत्त्वों के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो 'आशा' सर्ग में वर्णित सृष्टि-विकास तो पंचभूतों के विकास का परिणाम है ही, 'चिन्ता' सर्ग से लेकर 'रहस्य' सर्ग के कतिपय प्रारम्भिक पदों तक भी मायीयसर्ग की व्याप्ति है, जहाँ मनु 'नियति', 'काल' आदि कञ्चुकों से मुक्त होकर अपने शुद्ध रूप की ओर बढ़ता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि यदि 'रहस्य' सर्ग तक मायीय सर्ग (जगत्) की व्याप्ति है तो क्या श्रद्धा भी 'रहस्य' सर्ग तक मायीय जगत् का जीव नहीं है? और यदि है, तो 'श्रद्धा' सर्ग से ही उसके द्वारा मनु को काश्मीर शैवदर्शन का तत्त्वोपदेश देना और 'दर्शन' सर्ग में उसे 'परतत्त्व' का साक्षात्कार करा देना कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि जगदाभास के तत्त्व प्रमेय हैं और प्रमेय की सत्ता प्रमाता पर निर्भर है[१]। अज्ञान के तारतम्य से प्रमाताओं की अनेक श्रेणियाँ होती हैं। विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत उक्त प्रमाताओं में से कुछ प्रमाता विश्वरूप प्रमेय को आत्म-अभिन्न रूप में ही प्रत्यवमृष्ट करते हैं और कुछ आत्म-भिन्न रूप में। प्रमाताओं के ऐसे अभेद-प्रत्यवमर्श (शुद्ध बोध) और भेद-प्रत्यवमर्श (अशुद्ध बोध) के आधार पर कश्मीर के शैव दार्शनिकों ने दो प्रकार की सृष्टि मानी है—शुद्ध अध्वा और अशुद्ध अध्वा।[२] अध्वा, सर्ग या सृष्टि की पारिभाषिक संज्ञा है। उक्त दो प्रकार की सृष्टि (अध्वा) को ही क्रमशः आदि सर्ग और मायीय सर्ग कहा जाता है[३]। अतः स्पष्ट है कि किसी

---

१. यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये।

—शिवसूत्रविमर्शिनी, प्रथम उन्मेष, पृष्ठ ८।

२. अहमित्यवमर्शो द्विधा—शुद्धो मायीयश्च, तत्र शुद्धो यः संविन्मात्रे विश्वाभिन्ने (परमशिवदशायामिव) विश्वच्छायाच्छुरितस्वच्छात्मनि (सदाशिवादिदशायाम्) वा। अशुद्धस्तु वेद्यरूपे शरीरादौ। तत्र शुद्धेऽहं-प्रत्यवमर्शे प्रतियोगी न कश्चिदपोहितव्यः संभवति—घटादेरपि प्रकाशसारत्वेनाप्रतियोगित्वेनानपोह्यत्वात्, इत्यपोह्यत्वाभावे कथं तत्र विकल्परूपता। अशुद्धस्तु वेद्यरूपे शरीरादौ अन्यस्माद् देहादेर्घटादेश्च व्यवच्छेदेन भवन् विकल्प एव—इति वाक्यार्थः। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग १, पृष्ठ २४७–२४८।

३. विश्वनिर्माणेच्छुर्हि परमेश्वरः प्रथमं स्वाव्यतिरिक्तमेव विश्वं प्रकाशयेत्, अयमेव च आदिसर्गः तत्र आगमेषु उच्यते, अनन्तरं च यदास्य मायया सर्गचिकीर्षा भवति तदा स्वस्वातंत्र्यात् स्वात्मदर्पणे अनन्तग्राह्यग्राहकद्वयाभाससन्ततीराभासयति। —तंत्रालोक टीका भाग १, पृष्ठ १७५।

प्रमाता को शुद्ध अध्वा अथवा अशुद्ध अध्वा का प्राणी मानने का मूल आधार उसके प्रत्यवमर्श की 'शुद्धता' अथवा 'अशुद्धता' है। जैसा कि उत्तरवर्ती अध्याय में दिखाया जायगा, श्रद्धा को विश्व का प्रत्यवमर्श 'अशुद्धरूप' में न होकर आद्यन्त 'शुद्धरूप' में ही होता है। अतः उसे अशुद्ध अध्वा अर्थात् मायीय जगत् का प्रमाता (जीव) नहीं कहा जा सकता और जब ऐसा है तब दूसरे प्रश्न की संभावना तो स्वतः ही निरस्त हो जाती है।

जैसा कि पहले कहा गया है, कामायनी में मनु स्पष्टतः जीव का प्रतीक है। उसके प्रत्यवमर्श में भेद-बुद्धि का प्राधान्य है और अपने ऐसे भेदपूर्ण (अशुद्ध) प्रत्यवमर्श के कारण वह कामायनी के 'रहस्य' सर्ग के कतिपय प्रारंभिक पदों तक अशुद्ध अध्वा का प्रमाता है। अतएव उसके अशुद्ध प्रत्यवमर्श एवं प्रमातृ-स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व यहाँ अशुद्ध अध्वा (मायीय सर्ग) का स्पष्टीकरण आवश्यक है। किन्तु 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' सापेक्ष शब्द हैं। अतः शुद्ध अध्वा को स्पष्ट करने के अनन्तर ही अशुद्ध अध्वा का स्वरूप-निरूपण समीचीन होगा।

शुद्ध अध्वा

शिवतत्त्व से लेकर शुद्धविद्यातत्त्व तक के प्रमाताओं की सृष्टि शुद्ध अध्वा कहलाती है। यह शुद्ध अध्वा माया से ऊपर की सृष्टि है जिसके कर्ता साक्षात् भगवान् शिव हैं[1]। परमशिव की स्वतन्त्र इच्छामात्र पर निर्भर यह आदि सर्ग 'कर्म–सिद्धान्त' से निरपेक्ष होता है और इस आदि सर्ग का प्रमातृ-वर्ग मितात्मक न होकर चिदात्मक विश्वप्रमातृरूप होता है। वह अपने आप को यथार्थतः विश्वप्रमातृ (समष्टि प्रमातृ)—रूप में ही अनुभव करता है[2]। समस्त विश्व को सब प्रकार की परिमितताओं से उत्तीर्ण 'सर्वं इदम्' के प्रत्यय से वेद्यरूप में देखते हुए भी उसे यथा-वस्तु रूप की वेदनशक्ति से चिद्रूप में ही प्रत्यवमृष्ट करने के कारण ऐसे प्रमाता शुद्ध प्रमाता कहे जाते हैं[3] और उनकी दृष्टि शुद्धविद्या कहलाती

---

१. (क) तद्यथा—शाम्भवा शाक्ताः मन्त्रमहेश्वराः मंत्रेश्वराः मंत्रा,—इति शुद्धोध्वा। इयति साक्षात् शिवः कर्ता। —तंत्रसार, आ० ८, पृष्ठ ७५।

(ख) मायाभिधानात् तत्त्वात् परस्मिन् पूर्ण एव शिवादिविद्यातत्त्वपर्यन्ते शुद्धाध्वनि। —परमार्थसार विवृति, पृष्ठ ३।

२. काश्मीर शैविज्म, पृष्ठ ७४–७५।

३. तन्त्रालोक, भाग ६, आ० ९।५३–५४।

है[1]। यहाँ शुद्ध अध्वा में 'अहम्' रूप प्रमाता और 'इदम्' रूप प्रमेय की एकचिन्मात्ररूपता में विश्रान्ति होती है और विश्वात्मप्रमाता सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से 'इदम्' रूप विश्वप्रमेय को 'अहमिदमस्ति' (यह विश्व मैं हूँ) भाव से प्रत्यवमृष्ट करता है अर्थात् प्रमाता (वेदक) अपने आप को देह, बुद्धि आदि से उत्तीर्ण चैतन्य रूप समझते हुए चिन्मय वेद्यों को 'इदम्' भाव से देखते हुए भी उन्हें अचिद्रूप (जड़) न समझ कर आत्मवत् चिद्रूप (चैतन्यरूप) ही समझता है[2]। चिद्रूप को चिद्रूप में प्रत्यवमृष्ट करना ही शुद्ध विमर्श कहलाता है क्योंकि जिस पदार्थ का जो वास्तविक स्वरूप है उसे उस रूप अर्थात् यथावस्तुरूप में देखना या जानना ही शुद्ध ज्ञान है और उसे उसके विपरीतरूप में जानना ही बोध (प्रत्यवमर्श) की अशुद्धता है[3]। प्रमाताओं के उक्त शुद्ध विमर्श के ही कारण परमशिव का आदिसर्ग शुद्ध अध्वा कहलाता है। कामायनी में इस शुद्ध अध्वा के अन्वेषण की चर्चा हम आगे चलकर मनु की रहस्य-साधना के अन्तर्गत करेंगे क्योंकि 'रहस्य' सर्ग में साधक मनु 'नियति', 'काल' आदि कञ्चुकों से मुक्त होने पर ही शुद्ध अध्वा में प्रविष्ट होता है। कामायनी में अशुद्ध अध्वा के अनन्तर 'रहस्य' सर्ग और 'आनन्द' सर्ग में शुद्ध अध्वा का स्वरूप-वर्णन युक्तिसंगत भी है क्योंकि कामायनी में मनु बन्धन-दशा से मुक्ति-पथ के आरोहण-क्रम के द्वारा शिवपद की आनन्द-दशा में पहुँचता है।

जैसा कि पूर्व संकेत किया जा चुका है, मायातत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व तक की सृष्टि अशुद्ध अध्वा कहलाती है। इसे मायीय सृष्टि भी कहा गया है क्योंकि इसमें माया का प्राधान्य रहता है और उस मायीय जगत् की सृष्टि माया की

---

१. ननु कस्मादियं शुद्धा विद्या ? इत्याह—

इदंभावोपपन्नानां वेद्यभूमिमुपेयुषाम्।
भावानां बोधसारत्वाद्यथावस्त्ववलोकनात्।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २–३।१।४।

२. उन्मेषनिमेषौ बहिरन्तःस्थिती एवेश्वरसदाशिवौ बाह्याभ्यन्तरयोर्वेद्यवेदकयोरेकचिन्मात्रविश्रान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मतिः शुद्धविद्या।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति, (उत्पलदेवकृत) पृष्ठ ६०।

३. अवलोकनं प्रथनं वेदनं विद्या, यथावस्तुत्वं वस्त्वनुसारित्वं च, तस्याः शुद्धिरविपरीतता।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृ० १९७।

सहायता से अघोरेश के द्वारा होती है[1]। माया भेद-धी (भेद-बुद्धि) है। अतः माया के प्राधान्य के कारण इस अशुद्ध अध्वा में शुद्ध अध्वा के विपरीत द्वैत प्रथा (भेदज्ञान) का प्राधान्य रहता है[2] और माया के स्वरूप-तिरोधानकारी प्रभाव से इस मायीय सर्ग में प्रमाताओं का स्वरूप-विपर्यास हो जाता है[3]। वे मायाकृत उक्त स्वरूप-विपर्यास से अपने सर्वज्ञातृ-सर्वकर्तृ चिद्रूप को भूलकर शरीर, बुद्धि आदि जड़ वेद्यरूपों में 'अहन्ता-अभिमान' दृढ़कर लेते हैं[4]। जड़रूप शरीर को ही आत्म-स्वरूप समझते हुए वह प्रमातृवर्ग फिर शरीर के कृश या स्थूल हो जाने पर "मैं कृश हो गया हूँ" "मैं स्थूल हो गया हूँ" ऐसा अनुभव करने लगता है और कभी वेद्यों को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करने वाली (प्रतिबिम्बनवती) जड़ बुद्धि में 'अहन्ता' का अभिनिवेष कर सुख-दुःख आदि बुद्धि-धर्मों को आत्मा के धर्म मानकर चिन्ता आदि की दशाओं में 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा समझने लगता है[5]। साथ ही उक्त स्वरूप-विपर्यास से परिमित हुआ प्रमातृवर्ग न केवल वेद्यरूप चिन्मयभावों को अपने से सर्वथा भिन्न अचिद्रूपों (जड़रूपों) में ही परामृष्ट करता है अपितु जड़रूप में परिदृष्ट वेद्यों को भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न समझने लगता है[6];

अशुद्ध अध्वा

---

१. अशुद्धं (मायाप्रभृतिकम्) पुनरध्वानमनन्तापरनामाघोरेशः सृजति, ईश्वरेच्छावशेन प्रक्षुब्धभोगलोलिकानामणूनां भोगसिद्ध्यर्थम्।
—तंत्रसार आ० ८, पृ० ७५।

२. मायाविभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु।
—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, श्लोक ५।

३. ग्राहकग्राह्यविपर्यासद्वयप्ररूढौ तु मायाशक्तिः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृ० २०२।

४. तिरोधानमावरणरूपं स्फुटयति—
भेदे त्वेकरसे भातेऽहंतयानात्मनीक्षिते।
शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २, पृ० ३।१।८।

५. वेद्यप्रतिबिम्बनवती बुद्धिरभिनिविश्यते (आत्मत्वेन) अन्तरहं वेद्मि दुःख्यहमिति चिन्ताद्यवस्थासु, शरीरमेव पृथिवीप्रायं कृशोऽहमित्यादिदशासु अहमित्यात्मतया भाति। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २०५।

६. स यावदेव स्वरूपाद्व्यतिरेकाभिमते नीलादौ प्रमेये माता तावदेव स्वयमपि मेयभूत एव सन् माता। मेयं हि मीयमानत्वादेव परिमितम्—इति तादृशादेव मेयान्तरादुपपन्नव्यतिरेकम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २०५।

जैसे, यह घट है, यह पट है इत्यादि। इस प्रकार उनका बोध व्यापक न रहकर अत्यन्त परिमित हो जाता है और उन मितप्रमाताओं में भेद-बुद्धि की स्फुटता दृढ़ हो जाती है। चिद्रूपता में अचिद्रूपता और भेद की ऐसी प्रतीति ही अशुद्ध विमर्श है और मितप्रमाताओं के ऐसे अशुद्ध विमर्श के ही कारण इस मायीय सृष्टि को अशुद्ध अध्वा कहा जाता है[1]।

मनु कामायनी के पूर्वार्द्ध में इसी अशुद्ध अध्वा के जीव के रूप में चित्रित है। उसके जीव-स्वरूप में जीवन की क्षुद्रत्व-कल्पना, नैराश्य, देह-अहन्ता, अपने पराये की स्फुट भेद-विकल्पना, अपूर्णंमन्यता, मिथ्याकर्तृत्व-अभिमान आदि वे सभी परिमितताएँ और तज्जन्य दुःख-ज्वालाएँ विद्यमान हैं जिनसे अशुद्ध अध्वा का बद्ध जीव निरन्तर प्रपीड़ित होता रहता है। उसकी इन परिमितताओं या चारित्रिक दुर्बलताओं का कारण माया का स्वरूप-विपर्यासकारी प्रभाव है जिससे वह अपने यथार्थ चित्स्वरूप को भूलकर अपने में शक्ति-क्षुद्रता की प्रकल्पना द्वारा परिमित प्रमाता बन गया है और वेद्यरूप जड़ शरीर को ही आत्म-स्वरूप (अहं) समझने लग गया है। अज्ञानवश शरीर में अहन्ता-अभिनिवेष कर संकुचित विचारों से अपने यथार्थ स्वरूप को आवृत किये रहने वाले मनु की उपर्युक्त परिमितताओं को पारिभाषिक अर्थ में 'अशुद्ध प्रपंच' कह कर प्रसाद जी ने स्पष्टतः मनु को 'अशुद्ध अध्वा' का प्रमाता घोषित किया है—

मनु : अशुद्ध अध्वा का प्रमाता

अपनी शंकाओं से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध,
अपने को आवृत किये रहो दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप,
वसुधा के समतल पर उन्नत चलता फिरता हो दंभ स्तूप,
सारा प्रपंच ही हो अशुद्ध[2]।

'सारा प्रपंच ही हो अशुद्ध' पंक्ति में प्रयुक्त 'अशुद्ध' और 'प्रपंच' शब्दों के द्वारा यहाँ 'अशुद्ध अध्वा' का ही अर्थ-द्योतन किया गया है, किन्तु इस तथ्य का सम्यक् ज्ञान 'प्रपंच' और 'अशुद्ध' शब्दों के दार्शनिक अर्थों को जाने बिना नहीं हो सकता। 'प्रपंच' नानात्वपूर्ण जगत् का पर्यायवाची है क्योंकि एक पारमेश्वरी शक्तिविभूति ही माया के कारण प्रमातृ-प्रमेयरूप नाना भावों से अवभासित होती

---

१. अघोरेशः अशुद्धमध्वानम् , इह-अस्मद्दर्शने, सृजति—मायासंक्षोभपुरःसरं कलादिक्षित्यन्तेन वैचित्र्येणावभासयति।

—तंत्रालोकटीका भाग ६, पृष्ठ ५५–५६।

२. कामायनी, पृष्ठ १६६।

है[1] और यह नानात्मक मायीय अवभासन ही 'विश्वप्रपंच' कहलाता है[2]। इस 'विश्वप्रपंच' को यथावस्तुरूप में अर्थात् परमेश्वर की अखण्ड शक्तिविभूति के रूप में न जानकर भेदपूर्ण नानात्मक संसार के रूप में जानना ही बोध की 'अशुद्धता' है[3] जो यहाँ मनु में स्पष्टतया विद्यमान है। इसी कारण उपर्युक्त पंक्ति में जगत्—'प्रपंच'—को 'अशुद्ध' कहा गया है। 'अपने को आवृत किए रहो दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप' पंक्ति से इस तथ्य की और भी अधिक गम्भीरता से विवृति होती है कि मनु यहाँ अशुद्ध अध्वा का जीव,—सकलप्रमाता है क्योंकि 'आवृत' और 'कृत्रिम स्वरूप' शब्दों के पारिभाषिक अर्थों से यह स्पष्ट होता है कि वह तीन मलों और मायादि छह कंचुकों से आवृत है। उसकी यह आवृत अवस्था ही उसकी पाशव अवस्था है। काश्मीर शैवदर्शन में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि परमेश्वर जब अपने स्वातन्त्र्य से अपने आपको तीन मलों और छह कंचुकों से आवृत करता है तब वह मायीय जगत् का जीव (पशु) बन जाता है[4] और जब तक वह उक्त मलों और कंचुकों से अपने आपको आवृत किए रहता है तब तक देहादि में अहन्तात्मक कर्तृता का अनुभव करते हुए अगणित दुःखों को भोगता है[5]। मनु का देह-अहन्ताभिमान भी अस्पष्ट नहीं है। देह में अहन्तात्मकता अनुभव करने के कारण ही वह 'तन-रक्षा' में आत्म-रक्षा समझता है—

मुझमें ममत्वमय आत्म-मोह स्वातन्त्र्यमयी उच्छृङ्खलता,
हो प्रलय-भीत तन-रक्षा में पूजन करने की व्याकुलता[6]।

और शरीर-विनष्टि (मृत्यु) को अखिल स्पन्दनों की माप बताता है—

---

१. जगत् तच्छक्तिविभूतिरेकैव मायावशात् तु नानात्वेन अवभासते।
—स्पन्दविवृति, पृ० ११।

२. सर्वं एवायं विश्वप्रपंच आनन्दशक्तिस्फारः।
—तंत्रालोक भाग २, पृ० २०१।

३. परमेशविषयतया शुद्धं, संसारविषयतया तु अशुद्धम्।
—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह वृत्ति, पृ० ६।

४. (क) सोऽयमात्मानमावृत्य स्थितो जडपदं गतः।
आवृतानावृतात्मा तु देवादिस्थावरान्तगः॥
(ख) षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह वृत्ति, पृ० ९।—तन्त्रालोक आ० १।१३४–१३५।

५. तंत्रालोकटीका, भाग १, पृ० १७५–१७६।

६. कामायनी, पृ० १६१।

मृत्यु, अरी चिर-निद्रे ! तेरा
अंक हिमानी सा शीतल,
× × ×
अखिल स्पन्दनों की तू माप[1]

इस प्रकार मनु का अपने शरीर को आत्म-स्वरूप ('यह' मैं हूँ) समझना निश्चय ही वास्तविकता न होकर उसके द्वारा अपने 'कृत्रिम स्वरूप' का प्रदर्शन है क्योंकि तत्त्वतः तो वह शुद्धसंविद्रूप प्रमाता अर्थात् शिव ही है, जैसा कि 'आनन्द' सर्ग में दिखाई पड़ता है, किन्तु अज्ञानवश अपने में अत्यन्त परिमित कर्तृता-ज्ञातृता आदि की प्रकल्पना द्वारा वह 'अपने को' – अपने शिवात्मक रूप को—आवृत किए हुए है।

यह आवृत अवस्था उसकी संकुचित प्रमातृता है जो कंचुकों का परिणाम है क्योंकि काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार जब परमेश्वर अपनी पारमेश्वरी मायाशक्ति अर्थात् अपने स्वातंत्र्य से अपने स्वरूप को छिपा करके संकुचित-प्रमातृता ग्रहण करता है तब उसकी संज्ञा 'पुरुष' हो जाती है[2]। पुरुषरूपता के इस संकोचग्रहण से उसकी सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व नामक असंकुचित शक्तियां भी संकुचित होकर यथाक्रम कला, विद्या, राग, काल और नियति हो जाती हैं[3]। इन कला आदि की पारिभाषिक संज्ञा कंचुक है क्योंकि इन्हीं के द्वारा 'पुरुष' संज्ञक परिमितात्मा के अपने परमेश्वरभाव का ऐश्वर्य आवृत रहता है[4]। स्वात्मैश्वर्य के इस आवृतत्व के ही कारण वह अपने में शक्तिदारिद्र्य का अनुभव करता है[5]। 'चिन्ता' सर्ग के आरम्भ से ही मनु इसी शक्तिदरिद्र पुरुष के रूप में पाठकों के सन्मुख आता है :

एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय-प्रवाह।

१. कामायनी, पृ० १८–१९।

२. यदातु परमेश्वरः पारमेश्वर्या मायाशक्त्या स्वरूपं गूहयित्वा संकुचित-ग्राहकतामश्नुते तदा पुरुषसंज्ञः, मायामोहितः कर्मबन्धनः संसारी।
—पराप्रावेशिका पृ० ७-८।

३. अस्य सर्वकर्तृत्वं सर्वज्ञत्वं पूर्णत्वं नित्यत्वं व्यापकत्वं च, शक्तयोऽसंकुचित अपि संकोचग्रहणेन कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भवन्ति।
—पराप्रावेशिका, पृ० ८।

४. एतत् पञ्चकम् अस्य स्वरूपावरकत्वात् कञ्चुकमिति उच्यते।
—वही, पृ० ९।

५, षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह वृत्ति, पृ० ९।

कामायनी के आदि में मनु को पुरुष अर्थात् मायामोहित संसारी जीव कह कर प्रसाद ने न केवल उसके जीवन में पुरुषभाव की परिमितताओं का ही वर्णन किया है अपितु उक्त परिमितताओं के हेतु कंचुकों का, पारिभाषिक शब्दावली में ही, 'इड़ा' सर्ग में स्पष्टतः उल्लेख भी कर दिया है, जिनका पृथक्-पृथक् सविस्तार स्वरूप-विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जायगा। ये कला आदि कंचुक मायातत्त्व की प्रसूति हैं अर्थात् माया का स्वरूप-प्रसार हैं। इसी कारण प्रसाद ने कला आदि के वर्णन के पूर्व कला आदि कंचुकों की उत्पत्तिभूमि माया का 'संकुचित शक्ति' संज्ञा से वर्णन किया है :

जीव मनु के कंचुक

संकुचित असीम अमोघ शक्ति[1]।

उपर्युक्त पंक्ति में शक्ति को युगपत् 'संकुचित' और 'असीम' कहने से विरोधकथन की शंका हो सकती है, किन्तु 'संकुचित' शब्द का पारिभाषिक अर्थ ज्ञात होते ही यह शंका निरस्त हो जाती है। 'संकुचित' शब्द यहाँ 'आवृत' का पर्याय है। माया को 'संकुचित शक्ति' कहने का कारण यह है कि वह गृहीत-संकोच शिव की शक्ति है। जैसा कि पहले कहा गया है, जब परमेश्वर स्वात्म-प्रच्छादन की क्रीड़ा से संकुचित प्रमातृता ग्रहण करता है अर्थात् भेद-भूमिका पर आत्म अवभासन करता है तब उसकी अपरिमित पारमेश्वरी शक्ति भी उस संकोचग्रहण से संकुचित हो जाती है क्योंकि शिव और शक्ति में अभिन्न और अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण शिव के द्वारा गृहीत संकुचितप्रमातृता में उसकी शक्ति का संकुचित न होना असंभव है।

गृहीतसंकोच शिव ही 'कामायनी' के अशुद्धअध्वा का जीव मनु है और उसकी संकुचितीभूता शैवी शक्ति ही मनु की संकुचित शक्ति है, जिसे कामायनीकार ने 'संकुचित असीम अमोघ शक्ति' कहकर प्रकट किया है। मनु की उक्त संकुचित शक्ति कंचुकप्रसू माया अर्थात् मायातत्त्व है क्योंकि काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार शक्यन्तरक्रोडीकारिणी स्वातंत्र्यशक्ति ही संकुचित होने पर अर्थात् भेद-भूमिका पर अवभासित होने पर मायातत्त्व संज्ञा से अभिहत होती है। यह मायातत्त्व अर्थात् भेद-धी ही मनु की भेद-बुद्धि या परिमिति बोध-वृत्ति (संकुचित शक्ति) है, जो उसके समस्त दुःखों का कारण है। 'इड़ा' सर्ग में 'काम' का अभिशाप इसी तथ्य का उद्घाटन करता है :

जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति[2]।

यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'भेद से भरी भक्ति' से

१. कामायनी, पृ० १६५।   २. कामायनी. पृ० १६४।

प्रसाद जी का अभिप्राय यहाँ भेद-बुद्धि से ही है क्योंकि वे भक्ति अर्थात् भेद-भक्ति को अनात्मवादी दार्शनिकों के बुद्धिवाद का परिणाम मानते हैं :

"सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विवेक के तर्क ने जिस बुद्धिवाद का विकास किया, वह दार्शनिकों की उस विचारधारा को अभिव्यक्त कर सका जिसमें संसार दुःखमय माना गया और दुःख से छूटना ही परम पुरुषार्थ समझा गया। दुःख-निवृत्ति दुःखवाद का ही परिणाम है। × × × दुःखवाद जिस मननशैली का फल था, वह बुद्धि या विवेक के आधार पर, तर्कों के आश्रय में बढ़ती ही रही। अनात्मवाद की प्रतिक्रिया होनी ही चाहिए। फलतः पिछले काल में भारत के दार्शनिक अनात्मवादी ही भक्तिवादी बने और बुद्धिवाद का विकास भक्ति के रूप में हुआ[1]।"

मनु की उक्त भेद-बुद्धि के ही कारण उसके शिवभाव या संवित्स्वरूप के सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व नित्यत्व और व्यापकत्व जैसे शक्ति-स्वरूप कला, विद्या, राग, काल और नियति के रूप में संकुचित हो गये हैं। भेद-बुद्धि-जनित ये कला आदि संकुचित शक्ति-स्वरूप उसके पारिमित्य के हेतु बन कर उसके स्वरूपबोध को आवृत,—कंचुकित,—किये हुए हैं। इसी कारण इनकी संज्ञा कंचुक है। 'इड़ा' सर्ग में पारिभाषिक शब्दावली में वर्णित मनु के उपर्युक्त कलादि कंचुकों के यथाक्रम विवेचन का प्रयत्न मैं आगे की पंक्तियों में करूँगा।

जो अपने शिवरूप में अपनी सर्वकर्तृत्व-शक्ति से सृष्टि-संहार आदि सब कुछ करने में समर्थ था वही मायाविमोहित जीवात्मा बनकर मनुरूप में अब अपनी संकुचित हुई उस शक्ति से घट, चित्र आदि के सर्जन और संहार जैसे

कला अत्यन्त परिमित कार्य ही कर सकने के कारण किंचित्कर्तृत्व-सामर्थ्य वाला हो गया है। मनु अब अधिक से अधिक सारस्वत प्रदेश के निवासियों के लिए दैहिक सुख-साधनों के निर्माण और ध्वंस के कर्तृत्व का अपने में दम्भ भर सकता है—

तुम्हें तृप्त कर सुख के साधन सकल बनाया,
मैंने ही श्रम-भाग किया फिर वर्ग बनाया[2]। (निर्माण)

× × ×

यह सारस्वत प्रदेश या कि फिर ध्वंस हुआ-सा—समझो,......[3]। (ध्वंस)

किन्तु अपने में उक्त प्रकार के कर्तृत्व का दम्भ करने पर भी वह जीव

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५१।

२. कामायनी, पृष्ठ १९९। ३. वही, पृष्ठ १९६।

मनु कितना शक्तिदरिद्र और किंचित्कर्तृत्वयुक्त है, यह उसके निम्नांकित कथन से अस्पष्ट नहीं है—

किन्तु बनेगा कौन पुरोहित ?
अब यह प्रश्न नया है;
किस विधान से करूँ यज्ञ यह
पथ किस ओर गया है[1] ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ उसके शिवभाव की सब कुछ कर सकने की स्वतःपूर्ण शक्तिता अर्थात् सर्वकर्तृता उसकी जीवदशा में अत्यन्त संकुचित होकर किंचित्कर्तृत्वरूपा हो गई है। तभी तो यज्ञ-विधान में उसे दूसरे की अपेक्षा है। निष्कर्ष यह है कि संकुचित प्रमातृत्व के ग्रहण से शिवदशा की सर्व-कर्तृत्वशक्ति, जिसे प्रसाद ने 'कर्तृत्व सकल' कहा है, संकुचित होकर जीवात्मा मनु की किंचित्कर्तृत्वरूपा 'कला' बन गई है—

कर्तृत्वसकल बन कर आवे नश्वर छाया-सी ललित कला[2] ।

शैवाचार्य क्षेमराज ने सर्वकर्तृता से संकुचित होकर जीव की किंचित्कर्तृता का हेतु बनने वाली उसको परिमित शक्ति को ही 'कला' कहा है[3]। शैवाद्वैत-पोषित अपनी उक्त मान्यता को प्रसाद ने 'रहस्यवाद' नामक निबन्ध में स्पष्टतम शब्दों में प्रकट किया भी है—

कला संकुचित कर्तृत्व शक्ति कही जाती है[4] ।

संवित्स्वरूप में वह जिस शक्ति से सब कुछ जान सकता था संकुचित प्रमातृ अवस्था में संकुचित हुई उस शक्ति से अब वह पुरोवर्ती वस्तुओं में से भी कुछ ही को जान सकने में समर्थ है और इस प्रकार जब वह पुरोवर्ती दूरस्थ वस्तुओं को भी पूरी तरह नहीं जान पाता तब सुदूर अतीत और भविष्य की तो बात ही क्या है ? जीवरूप में मनु सर्वज्ञ से किंचिज्ज्ञ बना हुआ है और सर्वज्ञता परिमित होकर उसकी विद्या अर्थात् परिमित वेदन-शक्ति बनती है—

विद्या

१. कामायनी, पृष्ठ ११३ । २. वही, पृष्ठ ९६५ ।

३. कला नाम अस्य पुरुषस्य किंचित्कर्तृताहेतुः ।
—पराप्रावेशिका, पृष्ठ ८-९ ।

४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ४२ ।

सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छन्द[१]।

अपनी इसी किंचिज्ज्ञता के कारण मनु जीवन-मूल्य के सम्बन्ध में इड़ा के आगे अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है—

मैं तो आया हूँ देवि बता दो जीवन का क्या सहज मोल,
भव के भविष्य का द्वार खोल[२]।

जीव को कुछ ही वेद्यों का ज्ञान करा सकने के कारण उसकी इस परिमित वेदन-शक्ति अर्थात् विद्या (अशुद्धविद्या) को 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में किंचिज्ज्ञत्व उन्मीलनरूपा कहा गया है[३]। जीवभाव की उक्त किंचिज्ज्ञता का ही परिणाम है कि मनु को श्रद्धा और काम के कल्याण-वचनों में भी भ्रान्ति हुई—

श्रद्धा के उत्साह वचन फिर
काम प्रेरणा मिल के,
भ्रान्त अर्थ बन आगे आये
बने ताड़ थे तिल के[४]।

यह निश्चित है कि अल्पज्ञ–(किंचिज्ज्ञ) को ही भ्रान्ति हो सकती है। सर्वज्ञ को भ्रान्ति होने की कल्पना तक अचिन्त्य है।

राग तत्त्व का स्वरूप-निरूपण करते हुए शैव दार्शनिकों ने लिखा है कि जो शुद्धप्रमाता अर्थात् शिव अपनी पूर्णता की विमर्श-अवस्था में समस्त विश्व को 'अहंभाव' से देखता है वही मायीय जगत् का परिमित प्रमाता बन जाने पर अपने शरीर जैसी वस्तु को 'अहम्' और सुत, दारा, सम्पत्ति आदि को 'मम' समझने लगता है। इतना ही नहीं, अपितु जिस शरीर को वह 'अहम्' अथवा जिन सुतादि को 'मम' समझता है उन्हें अत्यन्त गुणशाली मानने लगता है और उनके दोषों से आँखें मूँद लेता है। संकुचित प्रमाता अर्थात् मायीय जगत् के जीव के इस प्रकार के गुण-आरोपणमय अभिष्वङ्ग (आसक्ति) को ही राग कहते हैं[५]। मनु के अशुद्ध अध्वा के जीवन में सर्वत्र इसी राग-भाव या राग-तत्त्व की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। वह अपनी ज्ञानशक्ति के संकोचवश अपने आपको अपूर्ण अनुभव करता है और अपनी अपूर्णता के पूर्णार्थ अर्थात् अपनी अपूर्ण अहन्ता के कारण 'कुछ मेरा हो' की चाहना करने लगता है—

राग

१. कामायनी, पृष्ठ १६५। २. वही, पृष्ठ १६९।

३. अस्य शून्यादेर्जडस्य विद्या किंचिज्ज्ञत्वोन्मीलनरूपा।

—ई० प्रत्य० विमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २०८।

४. कामायनी, पृष्ठ ११०।

५. देखिये यही प्रबन्ध, पृष्ठ ८५।

'कुछ मेरा हो' यह राग-भाव संकुचित पूर्णता है अज्ञान[1]।

उक्त 'राग' नामक कंचुक, जिसका स्वरूप 'कुछ मेरा है' के द्वारा प्रकट किया है, 'पूर्णता' नामक व्यापक शक्ति का 'संकुचित' रूप है। इसीलिए उसे यहाँ 'संकुचित पूर्णता' कहा गया है। आगमों में 'राग' नामक इस संकुचित अहन्ता को अपूर्ण अहन्ता कह कर निन्दनीय माना गया है[2]। शैवागम मतानुयायी प्रसाद ने भी आगमिक 'काम' के द्वारा मनु की अपूर्ण अहन्ता की निन्दा ही कराई है—

तुम अति अबोध, अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके[3]।

'राग' का, 'गुणारोपणमय अभिष्वङ्ग' रूप भी मनु के व्यवहार में देखा जा सकता है। उक्त गुणारोपणात्मक अभिष्वङ्ग या आसक्ति के ही कारण वह अपने दोषों को औरों पर डाल कर अपने आप को और अपने कार्य-व्यापारों को गुण-शाली ही समझता रहता है—

हाँ अब तुम बनने को स्वतन्त्र,
सब कलुष ढाल कर औरों पर रखते हो अपना अलग तन्त्र[4]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शिवभाव की 'पूर्णता' नामक महाशक्ति, मनु की अत्यन्त संकुचित प्रमातृता अर्थात् अपूर्ण अहन्ता में, 'राग' नामक संकुचित शक्ति होकर उसके संविद्रूपात्मक या शिवात्मक रूप का कंचुक बन जाती है। 'काम' के अभिशाप द्वारा प्रसाद ने उसे इस प्रकार प्रकट किया है—

कभी अपूर्ण अहन्ता में हो रागमयी-सी महाशक्ति[5]।

शिवभाव की 'नित्यता' नामक शक्ति संकुचित होने पर जीव को मायीय कर्तृत्व से कलित अर्थात् अवच्छिन्न करके क्रम-अवभासनरूप 'काल' संज्ञा से व्यपदिष्ट होती है। 'काल' नामक कंचुक से कलित परिमितात्मा अपने शरीररूप आत्मा में क्रमरूपता का अनुभव करने लगता है, जैसे—'मैं कृश था', 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं स्थूलतर होऊँगा', और फिर अपनी इस क्रमरूपता के अनुसार वह अपनी प्रमेयवस्तुओं पर भी भूत-भविष्यत् आदि की क्रमरूपता का आरोप करने लग जाता है, जैसे, 'यह था', 'यह है', 'यह होगा[6]'।

---

१. कामायनी, पृष्ठ १६२। १५७
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ६३।
३. कामायनी, पृष्ठ १६३। १५७
४. वही। ५. वही, पृष्ठ १६५।
६. देखिए यही प्रबन्ध, पृष्ठ ८३।

कामायनी के मनु की भूत, वर्तमान और भविष्य विषयक चिन्ता से यह भली प्रकार स्पष्ट है कि वह काल-कलित जीव है। अपने काल-कलित अर्थात् परिमित प्रमातृत्व के ही कारण वह अपनी प्रमेय-वस्तुओं पर भूत, भविष्यत् आदि क्रमरूपता का आरोप कर रहा है—

काल

भूत-चिन्ता :

वह उन्मत्त विलास हुआ क्या ?
स्वप्न रहा या छलना थी !
देव-सृष्टि की सुख विभावरी
ताराओं की कलना थी।

× × × ×

कुसुमित कुंजों में वे पुलकित
प्रेमालिंगन हुए विलीन;
मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें
और न सुन पड़ती अब बीन[1]।

इसी प्रकार जिस सुखमय अतीत में दिगन्त सौरभ से पूरित था और देव-कामनियों की चितवन एवं अंग-भंगिमाओं से मन को हरा कर देने वाली मादकता व्यंजित होती थी[2] उस अतीत का स्मरण कर जीव मनु दुःखातिरेक से सिहर उठता है—

चिन्ता करता हूँ मैं जितनी
उस अतीत की, उस सुख को,
उतनी ही अनन्त में बनती
जातीं रेखाएँ दुख की[3]।

वर्तमान-चिन्ता :

देव जाति, जिसका जीवित अंश मनु है, के हास-विलास और जयनाद आज मानों विषाद की प्रतिध्वनि बन कर पवन-प्रचारित हो रहे हैं—

अरे अमरता के चमकीले
पुतलो ! तेरे वे जयनाद,
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि
बन कर मानो दीन विषाद[4]।

---

१. कामायनी, पृष्ठ ८, १०। २. वही, चिन्तासर्ग।
३. वही, पृष्ठ ६।
४. कामायनी, पृष्ठ ७।

देवजाति के लिए 'अमरता के चमकीले पुतलो' जैसे प्रयोग को देखकर यहाँ यह शंका हो सकती है कि मनु जब अमर देवजाति का प्राणी है तब उसे मायीय जगत् का मर्त्यजीव कहना कहां तक उपयुक्त है ? उक्त शंका का समाधान यह है कि 'कामायनी'– वर्णित जिस देवजाति का मनु अंश है वह कोई लोकोत्तर न होकर भारत के सप्तसिन्धु प्रदेश में रहने वाली आर्य जाति ही थी—

कीर्ति, दीप्ति शोभा थी नचती
अरुण किरन सी चारों ओर,
सप्तसिन्धु के तरल कणों में
द्रुमदल में, आनन्द-विभोर[1] ।

प्रसाद जी ने अपनी अन्य रचनाओं में इस बात का स्पष्टतः उल्लेख किया भी है[2] । इसके अतिरिक्त देवजाति के मनु को मायीय जगत् का 'सकल' प्रमाता अर्थात् जीव मानने का जो कारण है वह यह है कि शैवागम ग्रन्थों में देवताओं को भी तीन मलों से मलिन बता कर जन्म-मरणरूप संसृति के भोक्ता 'सकल' प्रमाता माना गया है[3] । 'अमरता' का दम्भ भरने वाले देवों के लिए 'पुद्गल'[4] (जीव) के तद्भव शब्द 'पुतलो' का यहाँ प्रयोग करके 'कामायनी' के कवि ने भी उक्त प्रकार की संभाव्यमान शंका को छिन्नमूल कर दिया है ।

भविष्य-चिन्ता :

मणि-दीपों के अन्धकारमय
अरे निराशा-पूर्ण भविष्य[5] ।

शैवाचार्य उत्पलदेव के अनुसार उक्त भूत, वर्तमान और भविष्य की क्रम-

---

१. वही, पृष्ठ ९ ।

२. 'सप्तसिन्धु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने आनन्दवाली धारा का अधिक स्वागत किया ।' —काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ५० ।

३. (क) देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलम् ।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २–३ । १० ।

(ख) मलत्रयोपरक्ताः 'सकला' मायातत्त्वान्तरालवर्तिनः ।
—महार्थमंजरी टीका, पृष्ठ ३२ ।

४. पुथा—हिंसया परताबुद्ध्या क्लेशेन च गलतीति पुद्गलः, कर्मबीजप्ररोहावहं क्षेत्रं शरीरमेवात्मत्वेन जानानः पाश्यत्वात् पशुरित्युच्यते ।
—तंत्रालोकटीका, भाग ६, पृष्ठ ११३ ।

५. कामायनी, पृष्ठ ७ ।

रूपता के अनन्तर जीवात्मा सूर्योदय, सूर्यास्त आदि नियत क्रमवाली वस्तुओं के क्रम से भूतकाल आदि की उक्त क्रमरूपता में भी मास, दिवस, प्रहर, पल आदि की कल्पना करने लगता है[1]। मनु भी भूत, वर्तमान आदि की उपर्युक्त क्रमरूपता में फिर दिवस, पहर और क्षणों की क्रम-कल्पना करता हुआ दृष्टिगत होता है—

प्रहर, दिवस कितने बीते अब
इसको कौन बता सकता[2] ?

× × ×

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है
क्षण भर रहा उजाला में[3]।

मनु के इसी काल-कलित प्रमातृत्व को प्रकट करते हुए प्रसाद जी ने लिखा है कि जीवात्मा मनु जब 'नित्यत्व' अर्थात् 'नित्यता' के अक्रम में भी भूत, भविष्य, दिवस, प्रहर, पल आदि की क्रम-कल्पना करने लगता है तब उसके शिवभाव की नित्यता ही संकुचित होकर उसका 'काल' संज्ञक कंचुक बन जाती है—

नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरन्तर चले ढला[4]।

परप्रमाता की जो व्यापकत्व शक्ति है वही मायीय जगत् के संकुचित प्रमाता अर्थात् जीव की 'नियति' बनती है, जो सब प्रकार से जीव का नियन्त्रण करती है क्योंकि इससे रुद्ध जीव अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव (शिवस्वरूप) को जान नहीं पाता[5]। अतः अपने स्वातंत्र्य से अनभिज्ञ जीव को सर्वत्र नियति ही नियमित करती है अर्थात् किंचित्-रूप वेद्य-अंशों के तुल्य होने पर भी किस वेद्य (वस्तु) के प्रति वह उन्मुख हो और किसके प्रति न हो,कौन-सी वस्तु उसकी प्रेय बने और कौन-सी न बने आदि में वह स्वतन्त्र न होकर नियति के वशीभूत होता है। अपने पूर्ण संवित्स्वरूप को न पहचान लेने तक वह नियति से परिबद्ध रहकर सुख-दुःख का भोक्ता बनता है[6]।

---

१. कालः सूर्यादिसंचारस्तत्तत्पुष्पादिजन्म वा।
शीतोष्णे वाथ तल्लक्ष्यः क्रम एव स तत्त्वतः॥
——ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २–२।१।३।

२. कामायनी, पृ० १७। ३. वही, पृष्ठ १९।

४. वही, पृ० १६५।

५. तदेव तस्य स्वातंत्र्यं शक्तिर्नियतिनामिका।
यया रुद्धः पशुर्जातु स्वातंत्र्यं नैव विन्दति॥–मालिनीविजयवार्त्तिक २२२।

६. देखिए यही प्रबन्ध; पृ० ८५।

कामायनीगत मनु की परिस्थिति-परवशता से यह स्पष्ट है कि जब तक वह अपने पूर्ण संवित्स्वरूप को पहचान नहीं लेता तब तक वह अशुद्ध अध्वा का जीव बना हुआ निरन्तर नियति-नियमित रहता है। यह नियति-नियमन ही परवशता है, जिसे मनु अपने दुःखों का कारण बताता है—

मन की परवशता महादुःख[1]।

जीवन से निराश हो बैठने वाले मनु को तप-निरत करने, उसमें अनादि वासना जगाकर नारी-संयोग की सुखद चाह उत्पन्न करने[2], नारी से संयोग[3] और

नियति

वियोग कराने तथा इड़ा के प्रति उसमें राग और विराग जगाने में सर्वत्र नियति ही जीवात्मा मनु के मनोभावों और कार्य-व्यापारों का नियमन करती है और मनु अपने स्वातन्त्र्य के अज्ञान के कारण विवश होकर नियति के उस एकछत्र शासन में अर्थात् अशुद्ध अध्वा में अनिच्छुक की भाँति धीरे-धीरे चलने लगता है—

उस एकान्त नियति शासन में
चले विवश धीरे-धीरे[4]।

इससे स्पष्ट है कि नियति मनु में कर्तव्य-अकर्तव्य कर्मों की भावना जगा कर उसे विविध प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त करती है[5] और तदनुकूल सुख-दुःखों को भोगने के लिए उसे विवश कर देती है। जब तक वह अशुद्ध अध्वा,—जिसमें जीवों के कर्मों का नियन्त्रण नियति करती है,— के मायीय प्रमातृत्व से ऊपर उठकर शुद्ध अध्वा में पहुँच नहीं जाता तब तक यही क्रम चलता रहता है अर्थात् नियति द्वारा प्रस्तुत परिस्थितियों पर अपना वश न होने के कारण वह शक्तिदरिद्र बना हुआ नियति के बन्धन-मुक्त अर्थात् स्वतन्त्र नियन्त्रण-खेल को बैठा ताकता रहता है—

देखते थे अग्निशाला से कुतूहल युक्त,
मनु चमत्कृत निज नियति का खेल बन्धन-मुक्त[6]।

---

१. कामायनी, पृ० १५४।

२. नव हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख समान,
चिर परचित-सा चाह रहा था
द्वन्द्व सुखद करके अनुमान। —कामायनी, पृ० ३५।

३. दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल।—वही, पृ० ८१।

४. वही, पृ० ३४।

५. नियति चलाती कर्म-चक्र यह।—कामायनी, पृ० २६७।

६. वही, पृ० ८३।

नियति के उक्त नियन्त्रण अर्थात् बन्धन से अपनी मुक्ति के लिए वह 'प्रकाश के महा ओक' से अपने स्वातन्त्र्य में सहायक बनने की आकांक्षा भी करता है—

उसके भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक
वह एक किरन अपनी देकर मेरी स्वतंत्रता में सहाय
क्या बन सकता है ? नियति-जाल से मुक्ति-दान का कर उपाय[1]।

नियति जाल से मुक्तिप्रदायी 'प्रकाश के महा ओक' की जगत् से परे कल्पना[2] और उससे अपने त्राण की आशा वाला मनु का यह विचार आत्मवादी शैवदर्शन से सम्बद्ध न होकर अनात्मवादी दर्शनों से प्रभावित प्रतीत होता है क्योंकि बन्धन के परिणाम, दुःख से मुक्त होने के लिए एक त्राणकारी की अपेक्षा रखना और उस त्राणकारी 'प्रकाश के महाओक' अर्थात् चिदात्मा की अपने से बाहर अर्थात् जगत् से परे कल्पना करना अनात्मवादी दर्शनों की विचारधारा है—

"मायावाद बौद्ध अनात्मवाद और वैदिक आत्मवाद के मिश्र उपकरणों से संगठत हुआ था। इसीलिए जगत् को मिथ्या–दुःखमय मानकर सच्चिदानन्द की जगत् से परे कल्पना हुई।

× × ×

"जिन जिन लोगों में आत्म-विश्वास नहीं था, उन्हें एक त्राणकारी की आवश्यकता हुई। प्रणतिवाली शरण खोजने की कामना—बुद्धिवाद की एक धारा—प्राचीन एकेश्वरवाद के आधार पर ईश्वरभक्ति के स्वरूप में बढ़ी और इन लोगों ने अपने अवलम्ब खोजने में नये-नये देवताओं की उपासना प्रचलित की[3]।"

यहाँ दो प्रश्न उठ सकते हैं। पहला तो यह है कि क्या प्रसाद नियतिवाद को अनात्मवादी दर्शनों की विचारधारा का परिणाम मानते हैं ? और दूसरा यह कि यदि ऐसा है तो 'कामायनी' के नियति सम्बन्धी उल्लेख-बाहुल्य का 'कामायनी'–प्रतिष्ठित शैवाद्वैत की आत्मवादी विचारधारा के साथ सामंजस्य कैसे बैठता है ?

---

१. कामायनी, पृष्ठ १७०।

२. शनि का सुदूर वह नील लोक जिसकी छाया-सा फैला है, ऊपर-नीचे यह गगन-शोक उसके भी पर सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक।–वही।

३. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' – रहस्यवाद।

पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि पौराणिक और मध्यकालीन साहित्य में विकसित नियतिवाद को प्रसाद ने अपने प्रौढ़तम चिन्तन के क्षणों में अनात्म-वादी दार्शनिक विचारधारा का ही परिणाम माना है। इस बात का 'संकेत' 'इरावती' उपन्यास, जो कामायनी-रचना के समकालीन चिन्तन और तदनन्तर प्रकाशित विचारों का फल है, में बौद्ध पात्र आजीवक को नियतिवादी कहने से मिलता है। प्रसाद ने आजीवक के मुख से कहलाया है—

"अभी तो जा रहा हूँ। आगे जाने नियति! लाखों योनियों में भ्रमण कराते-कराते जैसे यहाँ तक ले आई है, वैसे और भी जहाँ जाना होगा ...।"

× × ×

नहीं, मैं तो, नियतिवादी हूँ जब सोना होगा, सो जाऊँगा[1]।"

आजीवक के द्वारा कहलाये गये इन विचारों को प्रसाद की निजी मान्यता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आजीवक के उपर्युद्धृत कथन के प्रतिवादरूप में धनदत्त ने जो प्रश्न किया है उसमें स्पष्टतः प्रसाद की अन्तरात्मा की क्षोभपूर्ण अभि-व्यक्ति मिलती है—

"मैं पूछता हूँ कि मगध ही ऐसा अभागा देश है क्या जहाँ दरिद्र दार्शनिक उत्पन्न होते हैं? जिसे कपड़ा नहीं मिला उसने सोच लिया कि माता के गर्भ से क्या कपड़ा पहन कर आये थे। बस एक सिद्धान्त बन गया, नंगे घूमने लगे। + + + फिर हाथ में झाड़ू वाले दार्शनिक? शिर नहीं घुटा–जटाधारी, अस्वस्थ हुए, पानी गरम कर के पीने लगे और ये सब सिद्धान्त बन गये! वाह रे मगध![2]"

धनदत्त के मुख से अभिव्यक्त कराये गए ये उपर्युक्त विचार प्रसाद के उन विचारों से तनिक भी भिन्न नहीं हैं जो उन्होंने स्वयं अनात्मवादी दार्शनिकों और उनके उत्तराधिकारियों की विचारधारा के सम्बन्ध में 'रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में अभिव्यक्त किए हैं[3]।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि 'कामायनी' में नियति सम्बन्धी उक्तियाँ वहीं तक मिलती हैं जहाँ तक मनु मायीय जगत् का मितप्रमाता है। जब वह मितप्रमातृत्व से ऊपर उठ कर अपने शुद्ध चिदात्मक स्वरूप–शाम्भव स्थिति-को प्राप्त कर लेता है तब 'नियति' के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसी कारण 'रहस्य' सर्ग में प्रत्यभिज्ञातात्म रूप होकर उसके शाम्भवस्थिति को प्राप्त कर लेने

१. इरावती, पृष्ठ ७३।
२. इरावती, पृष्ठ ७२। ३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध।

के बाद 'आनन्द' सर्ग में प्रसाद ने कहीं भी 'नियति' शब्द का उल्लेख नहीं किया है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रसाद काश्मीर शैवदर्शन की भाँति 'नियति' को जीवों की बन्धन-दशा अर्थात् मायाध्वा का ही तत्त्व मानते हैं। मायाध्वा का यह तत्त्व, जिसकी पारिभाषिक संज्ञा कञ्चुक है, काश्मीर शैवदर्शन-प्रतिपादित आत्मा के विश्वात्मक विकास का ही एक अधोवर्ती तत्त्व है जिससे उत्तीर्ण होने पर ही प्रमाता अपने शुद्ध संवित्स्वरूप में विश्रान्त होता है। दूसरे शब्दों में अनात्मवादी दर्शनों की विचारधारा,—नियतिवाद को प्रसाद जिसका परिणाम मानते हैं, के निषेधपूर्वक कामायनी में शैवाद्वैत प्रतिपादित आत्मवादी विचार-धारा की प्रतिष्ठा की गई है।

जैसा कि पूर्व कहा गया है मनु अभी मायीय भूमिका में स्थित आवृतस्वरूप प्राणी है। अपने शुद्ध संवित्स्वरूप के आवृतत्व के ही कारण वह अनवच्छिन्न होते हुए भी अपने आप को अवच्छिन्न और अपूर्ण समझ रहा है। अपने में अवच्छिन्नता और अपूर्णता की मनु की यह प्रकल्पना उसके अज्ञान का परिणाम है और वह स्वयं इसके लिए उत्तरदायी है। इसी बात को लक्ष्य कर के 'काम' के शाप में कहा गया है—'अपने को आवृत किए रहो दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप'। अपनी इस स्वपरिगृहीत अवच्छिन्नता के कारण वह ऊर्णनाभ (मकड़े) की भाँति अपने ही बन्धन से अपने आप बँध गया है। इसी दार्शनिक तथ्य को लक्ष्य कर के प्रसाद जी ने मनु के 'नियति' नामक कंचुक के सम्बन्ध में कहा है—

व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बन्द[1]।

जो व्यापकत्व (स्वातन्त्र्य) है वही तो व्यापक (स्वतन्त्र) शिव है क्योंकि 'व्यापकता' अर्थात् स्वतन्त्रता[2] (स्वातंत्र्यशक्ति) 'व्यापक' अर्थात् स्वतन्त्र शिव से भिन्न नहीं। अतएव उपर्युक्त पंक्ति में प्रसाद जी का यह कहना सर्वथा सार्थक है कि "व्यापकता संकोचग्रहण से नियति बन कर अपने नियति नामक स्वरूप (संकुचित स्वरूप) से अपने आप को ही कंचुकित,—आवृत-, किए हुए है।" यही तो

---

१. कामायनी, पृष्ठ १६५

२. शिव की स्वतन्त्रता नामक शक्ति की ही अन्य संज्ञा व्यापकता है जो संकोचग्रहण से नियति बनती है—

यास्य स्वतंत्रताख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियति ॥

'अपनी सीमा में रहे बन्द' का दार्शनिक रहस्य है। शैवागम-ग्रन्थों में इसके बारे में स्पष्टतः कहा भी है—

आत्मना बद्धयते ह्यात्मा[1]।

उपर्युक्त विवेचना से यह निष्कर्ष पुष्ट होता है कि मनु मायीय जगत् का कंचुकावृत अर्थात् संकुचित प्रमाता है जिसकी पारिभाषिक संज्ञा 'सकल' प्रमाता-है। उसके इस संकुचितप्रमातृत्व से उसके संवित्स्वरूप अर्थात् शिवभाव की सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तिस्वरूपता भी संकुचित होकर क्रमशः कला, विद्या, राग, काल और नियति रूप से उसका कंचुक बन गई है। 'कामायनी' में काश्मीर शैवदर्शन के कंचुकों सम्बन्धी सिद्धान्त का मेरा यह अनुसन्धान और व्याख्यात्मक आलोचन आरोपणमूलक या आत्म-परक न होकर विषय-परक ही है क्योंकि 'कामायनी' में काव्य-निबद्ध काश्मीर शैवदर्शन के इस कंचुक-सम्बन्धी सिद्धान्त का सुस्पष्ट उल्लेख प्रसाद जी ने अपने 'रहस्य-वाद' नामक निबन्ध में भी किया है—

"शैवागम में ३६ तत्त्व माने गये हैं। ईश्वर के कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्ति के स्वरूप कला, विद्या, राग, काल और नियति माने जाते हैं। शक्ति-संकोच के कारण जो इन्द्रिय-द्वार से शक्तिका प्रसार एवं आकुंचन होता है, इन व्यापक शक्तियों का वही संकुचित रूप बोध के लिए है। कला संकुचित कर्तृत्वशक्ति कही जाती है[2]।"

पाप पुण्य विकल्पना

माया सहित षट्कंचुकों से आवृतस्वरूप होकर जीवात्मा मनु किस प्रकार पाप-पुण्य विकल्पना, मिथ्याकर्तृत्व और भोक्तृत्व के अभिमान के परिणामस्वरूप निरन्तर विपदाओं से व्यथित होते हुए इस जीवन और जगत् में दुःख-बाहुल्य का आरोप करता है, इसका सविस्तार विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जायेगा। कंचुकों से मनु की दृष्टि मलाविष्ट (मलिन) हो जाने पर वह अपनी अपूर्ण रुचि से किन्हीं वस्तुओं को सुखद और किन्हीं को दुखद कल्पित करते हुए विधि-निषेध के जाल में उलझ जाता है। सुख-कल्पना के विचार से जो उसके लिए करणीय (विधेय) है उसे वह पुण्य समझ कर पाना चाहता है और जिसमें वह दुःख की कल्पना करता है उसे पाप समझ कर अपने से दूर हटाना चाहता है—

---

१. स्वच्छन्दतंत्र भाग ५ अ, पटल १०।३६०।

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ट ४२।

हृदय-गगन में धूमकेतु-सी
पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप
× × ×
अरी पाप है, तू, जा, चल, जा
यहाँ नहीं कुछ तेरा काम[1]।

शैवदर्शन के अनुसार इस पुण्य-पाप के वासनारूप कर्म के ही कारण जीव संसृति-संहृति के अनन्त दुःखों का भोगी होता है[2]। अपने शिवस्वरूप का विमर्श हो जाने पर तो पुण्य और पाप उसकी स्वतन्त्र इच्छा के क्रीड़ासाधन हो जाते हैं और वह (शिवयोगी) उनके फलों से अस्पृष्ट ही रहता है[3]। किन्तु अपने शिवस्वरूप के विमर्श से रहित होने के कारण मनु यहाँ परिबद्ध जीवमात्र है। अतएव वह अज्ञानवश स्व-कल्पित अपनी उपर्युक्त पाप-पुण्य की भेद-विकल्पना से जरा-मरण की यातनाओं में चिर अशान्त है—

तुम जरा मरण में चिर अशान्त[4]।

और पुण्य-पाप की भावना से सम्पादित कर्मों के कर्तृत्व का अपने आप में अर्थात् अपनी देह-अहन्ता में अध्यारोप करके वह स्वयं को कर्ता मान लेता है—

मैं शासक, चिर स्वतन्त्र, तुम पर भी मेरा
हो अधिकार असीम सफल, हो मेरा जीवन[5]।

अपने इस मिथ्याकर्तृत्व के अभिमान से जीवात्मा मनु मिथ्याकर्तृत्व-अभिमान साक्षात् दम्भ का ही चलता-फिरता मूर्तरूप प्रतीत होने लगता है[6] और उसके उक्त मिथ्याकर्तृत्व के दम्भ का जो दुखद परिणाम होता है वह उसी के निम्नांकित कथन से स्पष्ट है—

स्वयं देव थे हम सब तो फिर
क्यों न विश्रृंखल होती सृष्टि,

१. कामायनी, पृष्ट, ५, ६।
२. (क) धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदुःखादिलक्षणम्।
—तंत्रालोक भाग ६-९। १२१।
(ख) तस्मादेव पशोः शुभाशुभकर्मफलसंचयो, येन अनवरताधिवासितः संसारक्लेशभाजनम् भवति।—परमार्थसारटीका, पृष्ठ १०५।
३. स्वच्छन्दतंत्र टीका, भाग ६, पटल १२, पृष्ठ ७७
४. कामायनी, पृष्ठ १६६। ५. वही, पृष्ठ १९८।
६. वही, पृष्ठ १६६।

अरे अचानक हुई इसी से
कड़ी आपदाओं की वृष्टि[1]।

देवसृष्टि के प्राणी भी तीनों मलों से आबद्ध होने के कारण 'सकल' संज्ञक मितप्रमाता ही हैं, यह पूर्व कहा जा चुका है। अतः अपूर्ण अहन्ता में उनका अपने आप को पूर्ण या अमर समझना मिथ्याकर्तृत्व के दम्भ के अतिरिक्त और कुछ नहीं—

दूसरा अपूर्ण अहन्ता में अपने को समझ रहा प्रवीण[2]।

इसी से तो आत्म-प्रतारणा के क्षणों में जीव मनु अपने आप को अमरता का दम्भ कहता है—

आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ[3]।

देहाभिमान : भोगासक्तिजनक

जीव के द्वारा अपने में मिथ्या-कर्तृत्व का अभिमान करने का कारण उसका अज्ञान है, जिससे वह शरीर में अहन्ता का अभिनिवेश करके समस्त वेद्यों को सर्वथा भिन्नभाव से देखता है[4] और 'देह-अहन्ता' के बद्धाभिमान के कारण अपनी अपूर्णता को विषय-सुखों से प्राप्य तुष्टि से पूर्ण करना चाहता है[5]। अशुद्ध अध्वा के परिबद्ध जीव का उक्त देह-अहन्ता-अभिमान ही उसमें भोगासक्ति उत्पन्न करता है[6]। यही कारण है कि देह-अहन्ता का अभिमानी जीव मनु दैहिक सुख को ही जीवन की चरम तृप्ति समझ बैठता है—

दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सब कुछ है,
इन्द्रिय की अभिलाषा जितनी
सतत सफलता पावे,

---

१. वही, पृष्ठ ९। २. वही, पृष्ठ १६१। ३. वही, पृष्ठ १८।

४. मायाशक्तिकृतभेदात् व्यतिरिक्तानेव सतो यदा मिमीते तदा तैरेव मेयैः पाशरूपैः पाशितः। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २२०।

५. बाह्यात्मा (स्थूलदेहवान्) तु तदा देवि भुङ्क्तेऽसौ विषयान्सदा।
—स्वच्छन्दतंत्र, भाग ६, पटल ११।८७।

६. देहाभिमान एव भोगासक्तिजनकः मुक्तस्य तु तदपायात् भोगविषयारुचिरेव। —विज्ञानभैरव विवृति, पृष्ठ ६४।

जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि
मधुर मधुर कुछ गावे[१]।

स्वच्छन्दतंत्र के अनुसार जीव अपनी इस भोगासक्ति के कारण स्त्री आदि भोग-विषयों को अत्यन्त उत्कृष्ट मानने लगता है[२]। कामायनी के जीव मनु में भी यह प्रवृत्ति स्पष्टतया परिलक्षित होती है। वह भोग्या नारी की जड़देह के अस्थिर सौन्दर्य को मंत्रमुग्ध होकर निरखने लगता है—

भोगासक्ति का फल

एक झिटका सा लगा सहर्ष
निरखने लगे लुटे-से मौन[३]।

और 'कामिनी के अधरों के मधु-रस' को पाने में ही वह अपने अतृप्त भिखारीपन की तृप्ति अनुभव करने लगता है—

मैं अतृप्त आलोक-भिखारी ओ प्रकाश-बालिके ! बता,
कब डूबेगी प्यास हमारी इन मधु अधरों के रस में[४] ?

मनु अपने अज्ञान के कारण यह नहीं जान पाता कि नारी (इड़ा) को भोग्या बनाकर मैं जिस आनन्द की प्राप्ति के लिये व्याकुल हूँ वह तो पहले से ही मुझ में विद्यमान है, स्त्री-संग तो उसकी अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। किन्तु आनन्द की शुद्ध-दृष्टि, शैवागम-ग्रन्थों के अनुसार, तत्त्व-ज्ञान होने पर ही उपलब्ध हो सकती है।[५] तत्त्वदृष्टि की अनुपलब्धि से ही तो संकुचित-प्रमाता मनु अपने आपमें भोक्तृत्व का आरोप करके वासना-तृप्ति को ही सब कुछ समझ लेता है[६] और विषय-सुखों की अभिलाषा से इधर-उधर भटकता

१. कामायनी, पृष्ठ १३०।

२. स्त्र्यादयो ये विषयाः तदेव परं प्रकृष्टं वस्त्विति ब्रूते।
—स्वच्छन्दतत्र टीका, भाग ६, पृष्ठ ७१।

३. कामायनी, पृष्ठ ४५।

४. कामायनी, पृष्ठ १८४।

५. यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते। —विज्ञानभैरव, श्लोक ६९।
यत् ब्रह्म-तत्त्वस्य सुखं परब्रह्मानन्दः, तत् सुखं स्वकमेव स्वाक्यम् आत्मन एव संबन्धि, न अन्यत आयातं भावयेत्। स्त्रीसंगस्तु अभिव्यक्तिकारणमेव, यतः स्वक एव स आनन्दः।
—विज्ञानभैरव विवृति, पृष्ठ ४९।

६. वासना-तृप्ति ही स्वर्ग बनी, यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान।
—कामायनी, पृष्ठ १६२।

रहता है, किन्तु उसे प्राप्ति सुखों की न होकर अनिच्छित दुःखों की ही होती है—

अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद[१]।

और अपने आनन्द-स्वभाव (शिवत्व) का प्रत्यभिज्ञान न होने तक वह अपने निम्नांकित कथन का मूर्तिमान् उदाहरण बना हुआ दृष्टिगोचर होता है—

मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
वन-वन बन कस्तूरी-कुरंग[२]।

निश्चय ही, मनु अज्ञानवश अपने ही अन्तस्थ रस की उपलब्धि के लिए बाह्य विषयों को टटोलता फिरता है और जब तक आत्मज्ञानी गुरु आदि का अनुग्रह नहीं होता तब तक अपने चित्स्वभाव के आलोक के अनुदय से उसका देह-अहन्ता-अभिमान विगलित नहीं हो सकता। 'इड़ा' के संमुख व्यक्त श्रद्धा का निम्नांकित कथन इसी ओर संकेत करता है—

अपनापन चेतन का सुखमय,
खो गया, नहीं आलोक उदय[३]।

और उसे अपने आनन्दमय स्वातन्त्र्य-स्वभाव का विमर्श भी नहीं होता है।

चेतन (चिद्रूप) परमशिव का "अपनापन" उसका स्वातन्त्र्य-स्वभाव है और अपने स्वातन्त्र्य-स्वभाव का विमर्श ही पूर्ण आनन्द है। शैवों ने स्पष्टतः अन्यनिरपेक्षतारूप स्वातन्त्र्य को आनन्द कहा है[४]। इस आनन्द (स्वातन्त्र्य) का माया द्वारा विलोप हो जाना ही जीवता (संकुचित प्रमातृता) है, जिससे जीव अपने उक्त स्वातन्त्र्य-स्वभाव के पुनः उन्मिषित न होने तक भेद-विकल्प से कर्म-रत रहता है। जीव-दशा में किये गये ये कर्म ही कर्तृत्व-अभिमानी जीव के बन्धन बन जाते हैं और वह जीव मलकीट की भाँति स्वकृत कर्मों से परिवेष्टित होकर विश्व-पथिक बना हुआ निरन्तर क्लेशों को सहता जाता है—

जीव के कर्म : बन्धन

---

१. कामायनी, पृष्ठ १६४।
२. कामायनी, पृष्ठ १५३। १४८
३. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २४१। २२८
४. अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः, ऐश्वर्यं, स्वातंत्र्यं, चैतन्यं च।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ २०७ /

मनु मेरा नाम सुनो बाले ! मैं विश्व-पथिक सह रहा क्लेश[१] ।

लोक-पथिक (संसारी, जन्म-मरण की संसृतियुक्त) बने जीव मनु के क्लेशों का एकमात्र कारण उसके स्वरूप-बोध की अख्याति (अज्ञान) है। इसी अज्ञान के परिणामस्वरूप वह अशुद्ध-अध्वा का जीव मनु अपने कर्मों के सुख-दुःख आदि फलों को भोगने के लिए नियति-नियन्त्रित है।

अशुद्ध अध्वा को पार कर शुद्ध अध्वा में पहुँचने पर ही वह कर्ममुक्त (संसृतिकारण कर्मों से मुक्त) हो सकता है। संसृति के हेतु कर्मों से मुक्त होने के कारण ही माया से उत्तीर्ण 'विज्ञानाकल' और शुद्ध-अध्वा के मंत्र, मन्त्रेश्वर आदि प्रमाताओं की जन्म-मरणरूप संसृति नहीं होती[२] ।

परवशता : दुःख

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आत्म-स्वरूप का अज्ञान ही बन्धन है और बन्धन का ही नाम परवशता है। परवशता को ही प्रसाद जी ने महादुःख कहा है—

मन की परवशता महादुःख[३] ।

न केवल कश्मीर के शैव आचार्यों ने, जिनसे कामायनीकार की विचारधारा प्रभावित है, अपितु महाभारतकार महर्षि वेदव्यास ने भी परवशता को समस्त दुःखों की जनयित्री बतलाया है—

स्ववशं सर्वं सुखं परवशं तु सर्वं दुःखम् ।

इसका कारण यह है कि उपर्युक्त "अपनापन चेतन का सुखमय" के 'अपनेपन' अर्थात् अपने सर्वज्ञातृत्व-कर्तृत्व-स्वभाव, का प्रत्यवमर्श न होने से अज्ञानी जीव परमशिव की आभासरूप जगत्क्रीड़ा को

जीव मनु द्वारा संसार में दुःख-बाहुल्य का आरोप

जब क्रीड़ामात्र न समझ कर यथार्थ समझ लेता है तब भेद-विकल्प से कोई वस्तु उसे सुखमय और कोई दुःखमय प्रतीत होती है। बन्धन-मोचन के इस पारमेश्वर विश्व-खेल को अज्ञानवश यथार्थतः दुःखमय मान लेने के कारण संसारी जीव मनु अपने परिशुद्ध-स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा न होने तक संसार में दुःख-बहुलता का आरोप कर कभी इसमें सुनता है—

दुःख-जलधि का नाद अपार[४] ।

---

१. कामायनी, पृष्ठ १६९ ।

२. निष्कर्मा हि स्थिते मूलमलेऽप्यज्ञाननामनि ।
वैचित्र्यकारणाभावान्नोर्ध्वं सरति नाप्यधः—(विज्ञानकेवली) ॥
—तंत्रालोक, भाग ६, आ० ९।९०–९२ ।

३. कामायनी, पृष्ठ १५४ । ४. वही, पृष्ठ ८ ।

और कभी जीवन को दुःखमय देखकर अनुभव करने लगता है—

कलियाँ जिनको मैं समझ रहा वे काँटे बिखरे आस-पास[1]।

इसी प्रकार कभी विश्व में दुःख की आँधी और पीड़ा की लहरें उठती हुई दिखाई देती हैं—

विश्व, कि जिसमें दुख की आँधी
पीड़ा की लहरी उठती[2]।

तो कभी उसे यह जीवन विकट पहेली जान पड़ता है और वह इस संसार को इन्द्रजाल समझ कर इससे दूर भाग जाने में ही अज्ञानवश 'दुःख-मुक्ति का उपाय' ढूँढ़ने लगता है—

सोच रहे थे, जीवन सुख है ?
ना, यह विकट पहेली है,
भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल से
कितनी व्यथा न झेली है[3]।

मनु के द्वारा इस प्रकार संसार में दुःख-बाहुल्य देखना उसकी जीव-प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है क्योंकि शैव दार्शनिकों के अनुसार देश-काल आदि से परिच्छिन्न (कंचुक-आवेष्टित) अज्ञानी (अल्पज्ञ) जीवों को यह विश्व विभीषक ही प्रतीत होता है[4]। परन्तु अपनी संविद्रूपता (शिवता) का बोध हो जाने पर तो सब कुछ शिवस्वरूप ही हो जाता है[5]।

यहाँ यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि संकुचित प्रमाता मनु के ऊपर उद्धृत विश्व के दुःख-बाहुल्य सम्बन्धी विचार शिवभक्त प्रसादजी की व्यक्तिगत मान्यता के सूचक न होकर मायीय सृष्टि के अज्ञानीजीव मनु के परिमित प्रमातृत्व के निरूपक हैं। एक विद्वान् ने कामायनीकार प्रसादजी के सम्बन्ध में कहा है कि—"उनकी दृष्टि में संसार के अन्तर्गत सुख की

---

१. कामायनी, पृष्ठ १५८।
२. वही, पृष्ठ २२३।
३. वही, पृष्ठ २२९।
४. यदेतस्यापरिज्ञानं तत्स्वातंत्र्य हि वर्णितम्।
स एव खलु संसारो जडानां यो विभीषकः॥
—बोधपंचदशिका, श्लोक ११।
५. शिवस्तोत्रावली, स्तो० २०।१२।

अपेक्षा दुःख का आधिक्य है[1] ।" किन्तु हमें उक्त मत असत्य प्रतीत होता है ।

प्रसादजी की दुःख सम्बन्धी व्यक्तिगत मान्यता

अपनी प्रारम्भिक कृतियों में प्रसादजी की दुःख सम्बन्धी मान्यता चाहे जो रही हो पर अनुभव के परिपक्व दिनों में रचित कामायनी-काव्य में तो उन्होंने विश्व को चिति की स्वातंत्र्य-लीला बतला कर सुख और दुःख दोनों को समभाव से प्यार करते हुए[2] जीवन को सुख-दुख की मधुमय धूप-छाँह[3] समझ कर अपने संवित्-स्वरूप की पूर्णता के विमर्श में विश्रान्त होने के लिए ही पुनः पुनः श्रद्धा-मुख से आग्रह किया है। उनके अनुसार संसार के हर्ष-शोक वस्तु-सत्य न होकर चिति-कल्पित हैं—

संसृति के कल्पित हर्ष-शोक,[4]

परमार्थतः हर्ष और शोक आनन्दघन परमशिव की आनन्द-लीला के ही अंग हैं । अतः उन्हें आनन्द के अन्यथाभाव में ग्रहण करना स्वयं एक अज्ञता है । परमशिव अपनी स्वातंत्र्य-क्रीड़ा के प्रकाशन के लिए अपने आप ही अपने लिए—

उलझन की मीठी रोक टोक[5]

की कल्पना करता और मिटाता रहता है, यही उसका स्वभाव है । किन्तु अपने शिव-स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हुए बिना जीव मनु को ऐसी प्रतीति नही होती ।

कामायनी के इस अन्तःसाक्ष्य के अतिरिक्त यदि हम आचार्य नन्ददुलारे जी वाजपेयी के शब्दों पर अविश्वास न करें तो यह पूर्ण सत्य है कि कामायनी के प्रणेता शिव-भक्त प्रसादजी को शिव के स्वातंत्र्य के स्फुरणरूप सुख-दुःख दोनों ही समभाव से आस्वाद्य थे और वे संसार में दुःख का आधिक्य स्वीकार नहीं करते थे । प्रसादजी के साथ हुई अपनी बातचीत का उल्लेख करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है—

---

१. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृष्ठ ४४५ ।

२. अरे सर्ग-अंकुर के दोनों,
पल्लव हैं ये भले बुरे,
एक दूसरे की सीमा हैं
क्यों न युगल को प्यार करें ! —कामायनी, पृष्ठ २१० ।

३. कामायनी, पृष्ठ २४१ ।

४. वही, पृष्ठ २३५ ।

५. कामायनी, पृष्ठ २३५ ।

"बहुत दिन नहीं हुए जब वे (प्रसादजी) मुझसे कह रहे थे कि प्रत्येक शरीर-धारी को शिवरूप जानकर ही मैं 'आइये प्रभु' कहा करता हूँ। निश्चय ही इन अनन्त शिवरूप प्रभुओं में अमृत और हलाहल की असंख्य मात्राएँ मिलती हैं, किन्तु शिव के उपासक को तो ये दोनों ही समान रूप से आस्वाद्य हैं[1]।"

श्री वाजपेयी जी के द्वारा पाठकों तक पहुँचाये गये प्रसादजी के उपर्युक्त मत को यदि उनकी ही वाणी में सुनने का आग्रह हो तो उनके 'प्रेमपथिक' की निम्नांकित पंक्ति पर्याप्त होगी—

जीवन के पथ में सुख-दुख दोनों समता को पाते हैं[2]।

प्रसाद जी की उपर्युक्त मान्यता एक प्रकार से काश्मीर शैवदर्शन के स्वातंत्र्य-सिद्धान्त की ही अभिव्यक्ति है क्योंकि शैवदर्शन के अनुसार एक परमशिव ही नाना-शरीर धारण कर अपने लीला-स्वभाव से अशेष विश्व-रूप से स्फुरित हो रहा है[3]। अनन्त रूपों में आत्म-अवभासन करके भी वह एक ही परमार्थसत्ता है। जब सब कुछ उसी में है और वही सब में हैं तब सर्वत्र समभाव (समरसता) ही तो विद्यमान है—

समरस है जो कि जहाँ है[4]।

परन्तु अज्ञानी जीवों को ऐसी तत्त्व-प्रतीति नहीं होती।

निष्कर्ष यह है कि कामायनी का मनु 'चिन्ता' सर्ग से लेकर 'दर्शन' सर्ग के 'प्रथम तत्त्व-दर्शन' के पूर्व तक अशुद्ध अध्वा का 'सकल' प्रमाता है, जो माया आदि षट्कंचुकों और आणव आदि मलत्रय से पूर्णतया परिबद्ध होकर देह-अहन्ताभिमान से अपने को कर्ता और भोक्ता मानते हुए अपने भेद-विकल्प से संसार के नाना दुःखों को भोगता है। 'जरा-मरण से चिर अशान्त' मनु विश्व-सृष्टि का आदि मानव (जीव) है और उसकी सन्तति आज का मानव-जगत् भी उससे किसी प्रकार भिन्न नहीं है।

मनु के जीव-स्वरूप के विवेचन के अनन्तर अब हम इड़ा के स्वरूप पर विचार करेंगे क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से इड़ा भी अशुद्ध अध्वा का ही एक मितप्रमाता

१. जयशंकरप्रसाद, पृष्ठ ५९।

२. प्रेम पथिक, पृष्ठ २९।

३. अशेषविश्वात्मना परमेश एव स्फुरतीति।

—स्वच्छन्दतंत्र टीका, भाग ६, पृष्ठ १७।

४. कामायनी, पृ० २८८।

है। उसमें कहीं आशा[१], कहीं ग्लानि और कहीं ममता, घृणा[२] आदि भेद-विकल्पों की अवस्थिति यह व्यंजित करती है कि वह (इड़ा) माया-विमोहित संकुचित प्रमाता है, क्योंकि जो अपूर्ण होता है उसी में आशा-रूप अपेक्षा होती है। परिपूर्ण में तो अपने से भिन्न का अभाव होने से न किसी की आशा (अपेक्षा) होती है और न ममता एवं घृणा आदि होती हैं। जब अपने से अन्य कोई है ही नहीं तब किसके प्रति ममता होगी और किसके प्रति घृणा। ये सब भेद-विकल्प तो मितप्रमाता की परिमितदृष्टि के परिचायक हैं, जिनसे जीव अपने आप को ही परिबद्ध करता है[३]। उसके 'मन में अधीरता' और 'मस्तक पर विषाद की विष-रेखा[४] की स्थिति यह प्रकट करती है कि मायाकृत स्वरूपविपर्यास से इड़ा अपने संवित्स्वरूप को विस्मृत कर वेद्यप्रतिबिम्बनवती जड़ बुद्धि में 'अहन्ता-अभिनिवेश' कर चुकी है, क्योंकि शैवदर्शन के अनुसार बुद्धि में अहन्ता-अभिमान दृढ़ होने पर बुद्धिप्रमाता 'मैं दुःखी हूँ' 'मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव करने लगता है[५]। इसके अतिरिक्त सुख, दुःख आदि सत्व, रजस् आदि गुणों का कार्य है और गुण ही वे मल हैं[६] जो जीव के चित्स्वरूप को मलिन कर

इड़ा : अशुद्ध अध्वा का जीव

---

१. इसमें अब तक हूँ पड़ी इसी आशा से आये दिन मेरा।
—कामायनी, पृष्ठ १६९।

२. इड़ा ग्लानि से भरी हुई बस
सोच रही बीती बातें,
घृणा और ममता में ऐसी
बीत चुकीं कितनी रातें।
—वही, पृष्ठ २०७।

३. अख्यातिवशात् मिथ्याविकल्पैः इत्थं आत्मानं बध्नाति।
—परमार्थसार टीका, पृष्ठ ६९।

४. वह इड़ा मलिन छवि की रेखा,
ज्यों राहु-ग्रस्त-सी शशि-लेखा,
जिस पर विषाद की विष-रेखा
—कामायनी, पृष्ठ २३६।

५. देखिए यही प्रबन्ध, पृष्ठ १११।

६. गुणत्रयं सत्त्वादि, तदेव मलम्।
—स्वच्छन्दतंत्र टीका, भाग ५अ, पृष्ठ २७४।

उसमें समवाय-सम्बन्ध से स्थित रहते हैं[1]। उक्त गुण आदि मलों से संकुचित-प्रमाता होने के कारण ही आत्म-ग्लानि में डूबी हुई इड़ा अपने लिए कहती है—

मैं आज अकिंचन पाती हूँ,
अपने को नहीं सुहाती हूँ[2]।

और श्रद्धा से अपने अपराधों की क्षमा माँग कर आत्म-ज्ञान की चाहना करने लगती है—

दो क्षमा, न दो अपना विराग,
सोई चेतनता उठे जाग[3]।

यहाँ "सोई चेतनता" का तात्पर्य भेद-धी (माया) से विलुप्त इड़ा की अपनी चिद्रूपता की अभेद-प्रतीति से है, जिसके अभाव में वह भेद-विकल्पजनित उक्त सुख-दुःख, आशा-निराशा आदि से विकल है। इड़ा के उपर्युक्त भेद-प्रत्यवमर्श पर विचार करने से यह भी प्रकट होता है कि वह माया आदि कंचुकों से आवेष्ठित जीव है। उसके काल-कलित प्रमातृत्व को स्पष्ट करते हुए श्रद्धा कहती है—

इड़ा के कंचुक

तू रुक रुक देखे आठ पहर,
वह जड़ता की स्थिति भूल न कर[4]।

शरीर, बुद्धि आदि वेद्यरूपों में अहन्ता-अभिमान दृढ़ होने पर ही संकुचित प्रमाता नित्यता में जन्म, जरा, मृत्यु, पल, प्रहर, दिन, वर्ष आदि से विभाजन करता है और भेद-विमर्श की परिमितदृष्टि से चिन्तित एवं दुखित होता है। 'अखण्ड जीवन-धारा की नित्यता' (नित्यत्व-विमर्श) के स्थान पर यह क्रमरूपता का प्रत्यवमर्श ही 'काल' नामक कंचुक है जिससे इड़ा कंचुकित (पाशित) है। शैवदर्शन के अनुसार जड़ता का तात्पर्य प्रकाशरूपता की परिच्छिन्नता है, यह पूर्व कहा जा चुका है। परिच्छिन्नप्रकाशता ही जीवता है। जो अनवच्छिन्न प्रकाशस्वरूप है, वह तो साक्षात् शिव ही है, उसका विमर्श द्वैतात्मक (भेदात्मक) न होकर अद्वैतात्मक होता है। अतः

काल

---

१. ततश्च तस्मात् पशोः शक्तिमत्त्वेन शंक्यमानात्, भेदेन यत एतानि सत्त्वादीनि, ततः शक्तयो व्यतिरेकमुक्ता,-इति नोच्यन्ते, किं तूपकरणत्वात् 'गुणा' इत्युच्यन्ते।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २५६।

२. कामायनी, पृष्ठ २४०। ३. वही।

४. कामायनी, पृष्ठ २४१।

"जड़ता की स्थिति" के प्रयोग में यहाँ स्पष्टतः इड़ा की जीवदशा का उल्लेख किया गया है।

विद्या इड़ा के संवित्स्वभाव की सर्वज्ञत्व-शक्ति भी उसकी जीवरूपता में संकुचित होकर किंचिज्ज्ञत्वरूपा विद्या बन गई है। इसी किंचिज्ज्ञत्व-उन्मीलन वाली परिमितवेदन-शक्ति के कारण इड़ा शिवयोगी मनु के दिव्य तपोवन में श्रद्धा के सम्मुख अपने जीवभाव की अज्ञता (अल्पज्ञता) को स्वीकार करती हुई कहती है—

भगवति ! समझी मैं, सचमुच
कुछ भी न समझ थी मुझको,
सबको ही भुला रही थी
अभ्यास यही था मुझको[1]।

उक्त काल-कलना तथा किंचिज्ज्ञता के ही कारण इड़ा में सर्वकर्तृत्व के स्थान पर कुछ ही (सीमित कार्य) कर सकने का सामर्थ्य (किंचित्कर्तृत्व) शेष रह गया है—

मैंने जो मनु ! किया उसे मत यों कह भूलो[2]।

अपने कर्तृत्व से सम्पन्न हुए कार्यों के लिए इड़ा के द्वारा उपर्युक्त पंक्ति में 'जो किया' प्रयोग "कार्य" की अवच्छिन्नता प्रकट करता है, क्योंकि 'जो' 'सो' के प्रयोग परिमितत्व के ही व्यंजक हैं। 'जो' 'सो' अथवा 'ऐसा' 'वैसा' विशेषणों का प्रयोग अवच्छिन्नता का सूचक है। सर्वकर्तृत्व तो अनवच्छिन्न होता है।

कला इसके अतिरिक्त यहाँ "जो किया" में विद्यमान 'जो' कर्ता से भिन्न कार्य का निर्देशक है। अतः इड़ा का कर्तृत्व यहाँ कार्य से अनारूषित अनवच्छिन्न 'अहं' रूप परामर्शमय न होकर कार्य से आरूषित होने के कारण शुद्ध न होकर मायीय है[3]। और जो काल-कलित मायीय (परिमित) कर्तृत्व-सामर्थ्य है वही किंचित्कर्तृत्वरूपा 'कला' है।

राग और नियति नामक कंचुकों का स्वरूप यद्यपि इड़ा के कामायनीगत चरित्र में पूर्ण स्पष्ट नहीं है किन्तु उक्त काल, विद्या और कला से कंचुकित इड़ा के जीव-स्वभाव में राग और नियति की अवस्थिति अप्रकट होते हुए भी

---

१. कामायनी, पृष्ठ २८७। २. वही, पृष्ठ १९६।

३. द्विधा हि कर्तृत्वं शुद्धं मायीयं च। तत्राद्यमनवच्छिन्नाहं परामर्शमयं कार्यानारूषितमेव, अन्यच्च घटक्रिया पटक्रिया इत्यादिकार्यारूषितम्।
—तंत्रालोक टीका, भाग ६, पृष्ठ १५९।

अवश्यंभावी है। इसका कारण यह है कि उपर्युक्त "तू रुक-रुक देखे आठ पहर' वाली काल-कलना से इड़ा का 'व्यापकत्व' क्षीण हो गया है[1] और व्यापकत्व की यह क्षीणता ही जीव का 'नियति' नामक कंचुक बनता है। अतः इड़ा की जीवरूपता में "नियति" नामक कंचुक भी है। इस प्रकार इड़ा भी मायीय जगत् का कंचुकावेष्टित जीव है। यही कारण है कि परमभाव-विश्रान्ति के लिए प्रसादजी ने इड़ा को 'स्वरूप-विश्रान्त' शिवयोगी मनु के तपोवन में पहुँचाया है, जहाँ उसे सामरस्यपूर्ण दृष्टि का आनन्दलाभ होता है। निष्कर्ष यह है कि मनोवैज्ञानिक रूप में इड़ा का चाहे जो रूप स्वीकार किया जाय पर कामायनी में चित्रित उसके स्वरूप पर, शैवों की दार्शनिक दृष्टि से, विचार करने पर तो वह (इड़ा) हमारे सम्मुख एक मायीय प्रमाता के रूप में ही आती है। हाँ, यह अवश्य है कि वह मनु के जीव-स्वरूप से थोड़ी उन्नत दशा का जीव है, मनु देहप्रमाता है तो इड़ा बुद्धिप्रमाता है।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि इड़ा भी जब मनु की ही भाँति कंचुकावेष्टित मितप्रमाता है तब उसे मनु से उन्नत दशा का प्रमाता मानने का क्या कारण है?

इसका उत्तर यह है कि मनु प्रलय-पूर्व की जिस देवजाति का प्राणी है इड़ा उसको बुद्धि या चेतना प्रदान करने वाली मानी गई है। इस प्रतीकात्मक व्यक्तित्व के अतिरिक्त उसका यहाँ दूसरा व्यक्तित्व भी है, जो उसे बुद्धिवादिनी सिद्ध करता है। 'इड़ा' सर्ग में वह मनु को बौद्धिक विज्ञान अर्थात् बुद्धिवाद की ओर प्रेरित करती है—

हाँ तुम ही हो अपने सहाय?
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय।

स्वयं मनु भी आगे कहता है—

अवलंब छोड़ कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया।
मैं बढ़ा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इड़ा में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता है अर्थात् वह बुद्धिप्रधान प्रकृति की नारी (जीव) है। अतः उसका प्रमातृस्वरूप मनु के प्रमातृस्वरूप से उन्नत कोटि का है। दूसरे, इड़ा महाचेतना (चिति) को विश्व की मूल सत्ता मानती है यद्यपि उसे चेतना के उक्त स्वरूप की अनुभूति

---

१. दिक्कालादिलक्षणेन व्यापकत्वं विहन्यते।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी भाग १, पृष्ठ ११०
(पाद-टिप्पणी)

अध्याय ७

श्रद्धा द्वारा मनु को शैवाद्वैत दर्शन का उपदेश

गत अध्याय में मनु के जीवभाव का स्वरूप-विवेचन करने के अनन्तर इस अध्याय में हम मनु के अज्ञान को दूर करने के लिए शिव की अनुग्रह-शक्ति श्रद्धा के द्वारा उसे दिये गये शैवदर्शन के उपदेश का स्वरूप प्रकट करेंगे। अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनु अशुद्ध अध्वा का एक साधारण जीव है, जो परिपुष्ट बन्धन की दशा में पड़ा हुआ है। उसके इस बन्धन का कारण उसका अज्ञान है, क्योंकि शैवशास्त्रों में जीव के बन्धन का कारण अज्ञान माना गया है[1]। यह अज्ञान दो प्रकार का होता है—एक बौद्ध अज्ञान और दूसरा पौरुष अज्ञान[2]। बौद्ध अज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शैव आचार्यों ने

बौद्ध अज्ञान

लिखा है कि तीनों मलों से युक्त 'सकल' संज्ञक प्रमाता विकल्प-बुद्धि से शरीर को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझता है और भेद-प्रथात्मक इस विकल्पज्ञान ही से उसे अपनी जीवता तथा अपने से भिन्न विषयों का ज्ञान होता है। शरीर को 'अहम्' समझने वाले लौकिक जीवों का यह परिमित ज्ञान ही विकल्प ज्ञान कहलाता है और इस विकल्पज्ञान को ही शास्त्रीय भाषा में बौद्ध अज्ञान कहते हैं[3]। यहाँ अज्ञान का तात्पर्य अल्पज्ञान है, ज्ञान का अभाव नहीं है, क्योंकि ज्ञान का अभाव हो जाने पर तो प्राणी पाषाण की भाँति चेतना-हीन हो जायगा। फिर उसे ज्ञान के अभाव में बन्धन का भी ज्ञान नहीं होगा[4]। ऐसी दशा में उसे बद्ध भी नहीं कहा जा सकता। फिर उसकी मुक्ति कैसी?

---

१. अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्।

—तंत्रसार, पृष्ठ ५।

२. बौद्धं च पौरुषेयं च द्विविधं तन्मलं स्मृतम्।

—तंत्रालोक टीका, भाग १, पृष्ठ ८५।

३. अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम्।
ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम्॥

—तंत्रालोक भाग १–आ० १।२६।

४. अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसंगतः।
स हि लोष्टादिकेऽप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः॥

—तंत्रालोक भाग १, आ० १।२५।

गृहीतसंकोच शिव के यथार्थ स्वरूप का तिरोधान करने वाली माया के प्रभाव से शिव जब अपने सर्वज्ञातृ-सर्वकर्तृ चिद्रूपस्वभाव को भूल जाता है और अपने आपको पुरुष (मितात्मा) समझने लगता है तब अपने आपको पुरुष समझने का उसका जो परिमित ज्ञान है वही पौरुष अज्ञान कहलाता है[1]। इस प्रकार पौरुष अज्ञान पुरुष की वह अणुत्व-चेतना है जो शरीर आदि के साथ पुरुष का संयोग न होने पर भी उसमें विद्यमान रहती है[2]। पुरुष की उक्त अणुत्व-चेतना अथवा पौरुष अज्ञान की ही पारिभाषिक संज्ञा आणव मल है।

पौरुष अज्ञान

उपर्युक्त दो प्रकार के अज्ञान के क्षय की चर्चा करते हुए शैव शास्त्रों में कहा गया है कि बौद्ध अज्ञान का क्षय बौद्ध ज्ञान से होता है अर्थात् अशुद्ध विकल्प (बौद्ध अज्ञान) का क्षय शुद्ध विकल्प (बौद्ध ज्ञान) के द्वारा होता है और शुद्ध विकल्प का उदय अद्वैत शैव शास्त्रों के ज्ञान के सुनने से होता है[3]। किन्तु पौरुष अज्ञान का क्षय दीक्षा के द्वारा होता है[4]। इसके अतिरिक्त जो एक महत्त्वपूर्ण बात है वह यह है कि सच्ची मुक्ति के लिए काश्मीर शैवदर्शन में पौरुष अज्ञान के क्षय के पूर्व बौद्ध अज्ञान का नष्ट होना अत्यन्त

उभय अज्ञान के क्षय-हेतु

१. तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथ।
स्वपूर्णचित्क्रियारूपशिवतावरणात्मकम्॥

—तंत्रालोक, भाग १, आ० १।३७।

२. अज्ञानस्य पौरुषबौद्धात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि इह पौरुषमेव विवक्षितं स्यान्नान्यत् इत्याह

विशेषणेन बुद्धिस्थे संसारोत्तरकालिके।
संभावनां निरस्यैतदभावे मोक्षमब्रीत्॥

—वही, आ० १।२४।

३ (क)—बौद्धज्ञानेन तु यदा
बौद्धमज्ञानजृम्भितम्।
विलीयते·········· ॥

—तंत्रालोक भाग १, आ० १।४४।

(ख)—बौद्धज्ञानेन इति परमेश्वराद्वयशास्त्रश्रवणाद्युद्भूतेन।

—तंत्रालोक टीका, भाग १, पृष्ठ ८२।

४. तत्र दीक्षादिना याति पौरुषेयं मलं क्षयम्। —वही, पृष्ठ ८५।

आवश्यक माना गया है[१]। बौद्ध अज्ञान क्षीण होकर जब तक पहले बौद्ध ज्ञान न हो तब तक पौरुष ज्ञान को अभिव्यक्त करने में दीक्षा सफल नहीं होती[२]। यही कारण है कि कामायनी के दर्शन सर्ग में जीव मनु की होने वाली दीक्षा से पूर्व उसके बौद्ध अज्ञान को क्षीण करने के लिए कामायनी के श्रद्धा सर्ग से ही उसे श्रद्धा के द्वारा परमेश्वराद्वयशास्त्र (काश्मीर शैवदर्शन) का ज्ञानोपदेश दिलाया गया है। काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार परमशिव ही परमार्थसत्ता है, जिसमें छत्तीस तत्त्वात्मक यह समस्त विश्व-वैचित्र्य आभासमान हो रहा है[३]। इस विश्व-वैचित्र्य को अपने अन्तर्गत आभासित करके भी वह पूर्ण अद्वैत ही बना रहता है। परमशिव संज्ञक यह परसत्ता स्वतः सिद्ध है[४]। अतः शैव आचार्य सर्वप्रथम इस स्वतः सिद्ध परम तत्त्व के स्वरूप-निरूपण से ही शास्त्र-चर्चा प्रारम्भ करके, जीवों की अद्वैतस्वरूप-विश्रान्ति के लिए, उसके उस स्वातन्त्र्य-माहात्म्य को प्रकट करते हैं[५] जिससे परमशिव

मनु के बौद्ध अज्ञान के क्षय के लिए शिवाद्वयदर्शन का उपदेश

---

१. दीक्षया गलितेऽप्यन्तरज्ञाने पौरुषात्मनि ।
धीगतस्यानिवृत्तत्वाद्विकल्पोऽपि हि संभवेत् ॥
ननु धीगतमज्ञानं (बौद्धाज्ञानं) यदि न निवृत्तं तदात्मनः किमायातम् इत्याशंक्याह
देहसद्भावपर्यन्तमात्मभावो यतो धियि ।
देहान्तेऽपि न मोक्षः स्यात्पौरुषाज्ञानहानितः ॥
तंत्रालोक, भाग १–आ० ४८-४९ ।

२. पौंस्नज्ञानाभिव्यंजने दीक्षा तावन्न प्रभवेद्यावदस्य बौद्धं ज्ञानं पूर्वभावि न स्यात्, येनास्य ततोऽपि प्राधान्यमुक्तम् ।
—तंत्रालोक टीका, भाग १, पृष्ठ ८६ ।

३. यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत् ।
—परमार्थसार, कारिका ११ ।

४. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे ।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, १ अ०।१।२ ।

५. (क)–एवं सर्वं शिवरूपमिति परदशातः प्रभृति घटपटादिस्थितिपर्यन्तमेवंरूपशिवतावस्थितिसादृश्यप्रतिपादनं प्रस्तौति
स यदास्ते चिदाह्लादमात्रानुभवतल्लयः ।
तदिच्छा तावती तावज्ज्ञानं तावत् क्रिया हि सा ॥
—शिवदृष्टि, पृष्ठ ६ ।
(ख)–किन्तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते ।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ॥ —ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-१।१।३ ।

के अन्तर्गत ही इस नानारूपात्मक विश्व का उन्मेष और निमेष होता रहता है।

चिति की स्वातन्त्र्य महिमा

कामायनी में भी हम यही देखते हैं कि श्रद्धा सर्वप्रथम परमशिव की अपर संज्ञा चिति के स्वरूप की चर्चा से प्रारम्भ करके जीव मनु को चिति के स्वातन्त्र्य-माहात्म्य का ज्ञानोपदेश देती है—

कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त[1]।

चिति द्वारा स्वभित्ति पर विश्वोन्मीलन

इसका कारण यह है कि एक चिति (परमशिव) ही पारमार्थिक सत्ता है, जो अपने आप में परिपूर्ण है। उसकी यह परिपूर्णता ही उसका स्वातन्त्र्य है, जिसके विमर्शरूप आनन्द की अतिशयिता में वह उच्छलित-सी है[2]। अपने इस आमोदभरित स्वभाववश स्वेच्छामात्र से ही वह अपने प्रकाशस्वरूप के अन्तर्गत विश्व के उन्मीलन और निमीलन की लीला कर रही है—

विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त[3]।

विश्व में सबकी अनुरक्ति का कारण

चिति की आनन्द-लीला से उन्मीलित विश्व में सबके अनुरक्त होने का कारण यह है कि इस विश्व-वैचित्र्य का आभासन परमशिव के तिरोधान नामक कृत्य से होता है। परमशिव अपने स्वातन्त्र्य-स्वभाव की लीलावश अपने स्वरूप को ढकने की अपनी इच्छा (स्वरूपतिरोधित्सा) से मल की कल्पना करता है। इस मल-कल्पना के द्वारा वह अनन्त प्रमातृ-प्रमेय-रूपों में आत्म-अवभासन करता है अर्थात् स्वरूप-प्रच्छादन की अपनी इच्छा से कल्पित मल के द्वारा वह अगणित अणुरूपों को अवभासित करता है[4]।

---

१. कामायनी, श्रद्धासर्ग, पृष्ठ ५३।

२. स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्
विश्वमामृशसि रूपमामृशन्।
यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे
तत्समुल्लसति भावमण्डलम्॥—शिवस्तोत्रावली १३, स्तो० १५।

३. कामायनी, श्रद्धासर्ग, पृष्ठ ५३।

४. तन्त्रालोक, भाग ७-आ० १३।१०३।

परमशिव के द्वारा आत्म-स्वरूप में परिकल्पित उक्त अणुरूप प्रमाता परमशिव की स्वरूप-तिरोधानेच्छा के द्वारा कल्पित आणवमल से युक्त होने के कारण अपने आपको अपूर्ण समझते हैं। अपने आपको अपूर्ण समझने की उनकी यह प्रवृत्ति पूर्णता-लाभ की आकांक्षावश उनमें भोगों के प्रति ललक (भोगलोलिकता) उत्पन्न करती है[1] जिसके परिणामस्वरूप माया आदि मलों से आवेष्टित होकर वे संकुचित प्रमाता बाह्योन्मुख होकर संसार के विषयों के प्रति आसक्त हो जाते हैं[2] और अपने पूर्ण संवित्स्वभाव को भूल जाते हैं। इस प्रकार परमशिव या चिति ही अपनी स्वातन्त्र्य-लीलावश जीवों को सांसारिक विषयों में (बाह्य विश्व में) अनुरक्त करती है अर्थात् परमेश्वर की मायाशक्ति से स्वरूप-विपर्यास होने पर अपूर्णंमन्यतारूप मल से मलिन जीव विश्व के विषय-सुखों में अनुरक्त हो जाते हैं। यह तो हुई अज्ञानी जीवों की विश्व-अनुरक्ति की बात और जो ज्ञानी हैं वे सर्वत्र शिव का स्वातंत्र्य-स्फुरण ही देखते हैं।

अतः उनके लिए शिव और उसके स्वातंत्र्य-स्फुरण अर्थात् विश्व में कोई भेद ही नहीं रह जाता। प्रसाद जी के शब्दों में यह सब विश्व उसी की लीला (स्वातन्त्र्य-स्फुरण) है और वही सब में समाया हुआ है—

लीला उसी की जग में सब में वही समाया![3]

ऐसी दशा में जब कि वे विश्व को शिवमय ही देखते हैं[4] तब उनमें विश्व के प्रति विरक्ति हो ही कैसे सकती है? शैवाचार्य उत्पलदेव का स्पष्ट मत है कि विश्व को शिव-स्वरूप समझने के कारण ज्ञानी जन भी इस विश्व-

---

१. तिरोधिः पूर्णरूपस्यापूर्णत्वं तच्च पूरणम्।
प्रति भिन्नेन भावेन स्पृहातो लोलिका मलः॥
—तंत्रालोक, आ० १३।१११–११२।

२. अभिलाषो मलोऽत्र तु
इत्याद्युक्तेरपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलयोगात्साकांक्षतया पुनस्तत्स्वीकरणोन्मुखः सन् स्वस्मात् पृथक्कृतेऽस्मिन् नीलसुखादिरूपे बहिर्मुखी भवन् शून्यप्रमाता प्राणादिशब्दव्यपदेश्यो भवेत्।
—तंत्रालोक टीका, भाग ४, पृष्ठ १०।११।

३. काननकुसुम ('मंदिर' कविता)

४. लब्धत्वत्संपदां भक्तिमतां त्वत्पुरवासिनाम्।
संचारो लोकमार्गेऽपि स्यात्तयैव विजृम्भया॥
—शिवस्तोत्रावली (उत्पलकृत) स्तो० १।३

लीला में अद्वैत विमर्श से अनुरक्त ही होते हैं।[1] निष्कर्ष यह है कि शिव (चिति) की इस आनन्द-लीला (विश्व) में अनुरक्त सभी होते हैं, अन्तर केवल मलिन (द्वैतमूलक) और निर्मल (अद्वैत मूलक) दृष्टि का है। श्रद्धा यहाँ विश्व को चिति की आनन्द-लीला (अतः चिति की ही भाँति 'सत्य सतत चिर सुन्दर') बताकर, दुःखों के डर से केवल विरक्तिमूलक तप में ही जीवन-सत्य ढूँढ़ने वाले मनु को अद्वैत-विमर्श की निर्मल दृष्टि से इस (विश्व-लीला) में अनुरक्त करना चाहती है।

कामायनी में सूत्ररूपेण कथित विश्व में सब की अनुरक्ति का यह रहस्य कामायनी-इतर ग्रन्थों में व्यक्त प्रसाद के विचारों से तो खुल कर हमारे सम्मुख आता है। 'एक घूंट' नाटक में 'आनन्द' के द्वारा प्रसाद जी ने जीवन की परिभाषा में कहलाया है कि **"विश्व-चेतना के आकार ग्रहण करने की चेष्टा का नाम जीवन है और उस चेष्टा का मूल रहस्य आत्मा की आनन्दमयी प्रेरणा है।"**[2] 'विश्व-चेतना' और 'चेष्टा' क्रमशः कामायनी के पूर्वोद्धृत पद के 'महाचिति' और 'सजग हुई-सी' शब्दों के ही पर्याय हैं और शैवागम की शब्दावली में ये चिति, परमशिव, आत्मा और (विश्व-चिकीर्षारूप) 'परामर्श' या 'स्पन्द' के नामान्तर हैं। इस प्रकार जीवन अर्थात् विश्व (क्योंकि जीवन से पृथक् विश्व की कोई सत्ता नहीं) आनन्द की ही अभिव्यक्ति है। पूर्वोक्त नाटक में ही प्रसाद जी ने आगे शैवाचार्य उत्पलदेव के इस स्तोत्र -- **'यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम्'**—के स्वर में स्वर मिलाते हुए फिर कहलाया है कि **"आनन्दातिरेक से आत्मा को साकारता ग्रहण करना ही जीवन है।"**[3] इससे प्रसादजी के ही शब्दों में यह निर्विवाद सत्य है कि **"मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनन्द है**[4]**"** और उस आनन्द की उपलब्धि के लिए मनुष्य ज्ञान से या अज्ञान से प्रयत्न-शील है[5]। जो ज्ञानी हैं वे **'स्वस्थ—अपने आत्मभाव में, निर्विशेष रूप से—रहने के कारण'**[6] निष्काम भाव से (लोकानुग्रह के लिए) चिति की इस आनन्द-लीला में लगे (अनुरक्त) हैं क्योंकि उनके लिए तो लोकानुग्रहरूप

१. संसारार्णव एवैष येषां क्रीडामहासरः। --वही, स्तो० ३।१५।
२. दूसरा संस्करण, पृ० १५।
३. एक घूंट, पृष्ठ ३२।
४. वही, पृष्ठ १७।
५. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ४९।
६. वही, पृष्ठ १५।

कर्म समाधि-सुख के तुल्य ही हैं—लोकानन्दः समाधिसुखम्।[1] रहे अज्ञानी, वे अपनी भेदबुद्धिजनित अपूर्णमन्यतारूप प्रकृति के कारण एषणात्मक भाव से उस आनन्द के भोग (या भोग के प्रयत्न) में लगे हैं।

चिति की प्रकाश-विमर्शरूपता

चिति के 'लीलामय आनन्द' के उल्लेख द्वारा प्रसाद जी ने यहाँ प्रकाशात्मा चिति की विमर्शरूपता की ओर भी संकेत किया है क्योंकि शैवों के अनुसार परमशिव या चिति प्रकाशविमर्श रूप है[2]। विमर्श चिति का कर्तृत्व है और इस कर्तृत्व स्वभाव से ही वह विश्व-लीला करने में समर्थ है। अतः यहाँ प्रसाद जी की विचारधारा, काश्मीर शैवदर्शन से अनुप्राणित होने के कारण, परमसत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में शांकर वेदान्त की उस विचारधारा से भिन्न है जिसके अनुसार ब्रह्म कर्तृत्व से हीन, केवल विज्ञानमय ही है।

इसके अतिरिक्त काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार संज्ञाभेद को छोड़कर शिव और शक्ति एक ही तत्त्व है। न शिव शक्ति से भिन्न है और न शक्ति शिव से[3]। परमशिव में शक्ति के उन्मेष से ही विश्व का उन्मीलन होता है। उक्त दर्शन की इस अद्वैत सम्बन्धी मान्यता को अपनाते हुए प्रसादजी ने भी विश्व को चिति की लीला कहा है और चिति की 'व्यक्त सजगता' अर्थात् बाह्योन्मुख स्पन्दन से उसके भीतर अभिन्नरूप में विश्वका उन्मीलन बताया है[4]। जैसे सागर का समुल्लास ही अनन्तरूपात्मक लहर-सृष्टि के रूप में व्यक्त हो जाता है, वैसे ही यहाँ चिति का आनन्द-उन्मीलन ही प्रमेय आदि विविध रूपों में व्यक्त हो गया है। चिति के आनन्द-स्वभाव की अभिव्यक्ति ही यह नानारूपात्मक सृष्टि है, जो चिति से अभिन्न होते हुए भी सागर से लहर की भाँति भिन्नवत् अवभासित होती है[5]।

विश्व-वैचित्र्य की चिति से अभिन्नता

---

१. शिवसूत्र।

२. प्रकाशविमर्शात्मकं चिदेकघनं एकमेव संविद्रूपम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग १, पृष्ठ ३१७।

३. शिवदृष्टि आ० ३।२–३१। ४. कामायनी, पृष्ठ ५३।

५. समुल्लासः सिन्धोर्बहललहरीविभ्रममयः
प्रकाशः शशांकः कुमुददलनिर्भेदसचिवः।
परस्याः संवित्तेर्मितिविषयमातृव्यतिकरै-
र्विकासो यः सैयं जगति विविधा कल्पनकला।
—मालिनीविजय वार्तिक १ का०, वार्तिक ६०६।

चिति के द्वारा अपने अन्दर विश्व-वैचित्र्य को अवभासित करने का कारण, शैवदर्शन के अनुसार, उसकी स्वतंत्र इच्छामात्र है[1]। कामायनी में भी विश्व-सृष्टि को चिति की इच्छा का परिणाम बताकर काश्मीर शैवदर्शन के उक्त मत का समर्थन किया गया है—

विश्व-सृष्टि का हेतु : चिति की इच्छा

सर्ग, इच्छा का है परिणाम[2]।

चिति की यह इच्छा न तो अपूर्ण जीव में होने वाली वेद्योन्मुखी इच्छा है और न ही अपनी अपूर्णता को विश्वोन्मेष के द्वारा पूर्ण बनाने का उसका प्रयत्न है क्योंकि वह चिति तो सर्वथा परिपूर्ण है और जब सभी कुछ उसी में है तो फिर उससे भिन्न वेद्य ही कहाँ है जिसके प्रति चिति की इच्छा उन्मुख होगी ?

वस्तुतः परिपूर्ण चिति की यह इच्छा उसका अप्रतिहत स्वातंत्र्य है, जिससे वह अपने अन्दर ही विश्व का उन्मीलन और निमीलन करती है[3]। विश्व का यह उन्मीलन और निमीलन उसकी अनन्योन्मुख स्वात्मपूर्णता का विलास—एक खेल, है। अतः जो प्राणी चिति के इस विश्वरूपी खेलको खेल ही समझकर इसमें अनुरक्त होता है वह समस्त भव-बन्धनों से मुक्त होकर इस लोक-जीवन में ही आनन्द उपलब्ध कर सकता है[4]। जीव मनु को उसके स्व-कल्पित अपूर्ण-मन्यतारूप बन्धन से मुक्त कर जीवन्मुक्ति के आनन्द का प्रत्यवमर्श कराने के लिए ही श्रद्धा ने मनु से यह कहा है कि "हे मनु ! विश्व चिति का स्वातंत्र्य-खेल है। अतः इसे निरन्तर खेल ही समझते हुए लोक-जीवन का आनन्द अनुभव करना चाहिए।" श्रद्धा के द्वारा मनु को उपदिष्ट इन शैवदर्शन सम्बन्धी विचारों का परिचय हमें मनु के निम्नांकित कथन से मिलता है—

विश्व : चिति की आनन्द क्रीड़ा

तुमने हँस-हँस मुझे सिखाया
विश्व खेल है खेल चलो[5]।

इस दर्शन के अनुसार यह जगत् शिव का ही स्वरूप-विकास माना जाता है जैसा कि ऊपर कहा गया है। अतः यह शिव से भिन्न न होकर शिव-मय ही है। सर्वत्र शिवता की यह दृष्टि ही प्राणी का आनन्दमूलक शुद्ध विमर्श

१. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र २।
२. कामायनी, पृष्ठ ५२। ३. स्पन्दकारिका १.१।
४. इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥ —स्पन्दकारिका २.५।
५. कामायनी, निर्वेदसर्ग, पृष्ठ २२६।

है। मनु में इसी शुद्ध विमर्श को जाग्रत करने के लिए श्रद्धा जगत् को शक्ति का क्रीड़ामय संचार बतलाती है—

हँसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का क्रीड़ामय संचार[१]।

उपर्युक्त पंक्तियों में इस सृष्टि को शक्ति का क्रीड़ामय संचार बतलाने के अनन्तर संहार को भी शिव की "प्रलयमयी क्रीड़ा"[२] कहकर प्रसादजी ने यही प्रकट किया है कि जगत् की सृष्टि और प्रलय दोनों ही शिव की क्रीड़ा हैं। प्रसादजी की यह विचारधारा पूर्णतया काश्मीर शैवदर्शन की विचारधारा से साम्य रखती है क्योंकि उक्त दर्शन के अनुसार सृष्टि-संहार आदि शिव के पंचविधकृत्य उसकी स्वातंत्र्य-क्रीड़ा ही हैं।[३]

सृष्टि और प्रलय: आनन्द क्रीड़ा के अंग

कामायनी से पूर्व की रचना 'कामना' नाटक में भी उन्होंने विश्व को चिति का खेल बतलाया है[४]। विश्व को खेल कहने का तात्पर्य यह है कि परमशिव अपने अभिन्न रूप में ही आनन्द-उल्लासन की यह जगत्क्रीड़ा करता है। कभी मलों की कल्पना-द्वारा स्वरूप-संकोच ग्रहण कर जीवभाव से वह अपने आपको ही बाँधता है और कभी उस जीवभाव को शिवभाव की प्रत्यभिज्ञा करा कर स्वयं ही अपने बद्ध-स्वरूप को बन्धन-मुक्त करता है[५]। यह सब उसका खेल ही है। अतः उसके इस खेल को वास्तविक बन्धन मानकर दुःखी होना और स्व-कल्पित दुःखों के लिए उस परमेश्वर को मनु की भाँति निष्ठुर कहना[६] जीव की अपनी अज्ञता का परिचायक है, क्योंकि निर्दय या सदय होने का प्रश्न वहाँ उठ सकता है जहाँ द्वैत हो। काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार तो यहाँ सब कुछ शिव ही है। अतः सर्वत्र अद्वैत ही है। इस जगत्-लीला में बन्धन और मुक्ति तो

---

१. कामायनी, श्रद्धासर्ग, पृ० ५९। २. वही पृ० १८५।

३. पंचकृत्यमहानाट्यरसिकः क्रीडति प्रभुः।
—अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका, श्लो० २।

४. चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १००।

५. स्वयं बध्नाति देवेशः स्वयं चैव विमुंचति।
—तंत्रालोक भाग ८-आ० १३। १२३।

६. क्या इस वसुधा के लघु-लघु प्राणी को करने को सभीत
उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत।
—कामायनी, पृ० १७०।

केवल उसके दो प्रकार के भावों का अभिनय ही है। इस अद्वैत-दृष्टि से श्रद्धा मनु को उसके शुद्धसंवित्स्वभाव में विश्रान्त करना चाहती है और विश्व को चिति का खेल बताकर यह भी स्पष्ट कर देना चाहती है कि यह विश्वरूपी खेल शिव से भिन्न नहीं, अपितु शिवमय ही है अर्थात् परमशिव विश्वोत्तीर्ण होने के साथ विश्वमय भी है। काश्मीर शैवदर्शन सम्बन्धी प्रसादजी के उपर्युक्त विचार कामायनी में यद्यपि संकेतरूप में ही प्रकट हुए हैं तथापि प्रसादजी की अन्य रचनाओं में इन्हें स्पष्ट रूप में भी देखा जा सकता है। अपने इस कथन के प्रमाण के रूप में हम आपका ध्यान प्रेमपथिक की निम्नांकित पंक्तियों की ओर आकृष्ट करेंगे—

परमशिव विश्वमय विश्वोत्तीर्ण

दुःख देखकर अपना ही
मत समझो दुःखी जगत को, मत लांछन दो ईश्वर को
शिव समष्टि का होता है, इच्छा उसकी पूरी होती है,
अप्रत्याशित, अप्रकटित कल्याण विश्व का करना है।
क्योंकि विश्वमय है विश्वेश[१]........।

यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि विश्वेश शिव को विश्वमय कहने में और उसकी अनुग्रहकारिणी इच्छाशक्ति के स्वातन्त्र्य को प्राधान्य देने में प्रसादजी स्पष्टतया काश्मीर शैवदर्शन के सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति करते हुए दिखाई देते हैं।

इस प्रकार यह विश्व-क्रीड़ा चिति का ही स्वरूप-उल्लास होने के कारण चिति से भिन्न न होकर उसका ही नित्य स्वरूप है। काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार विश्व परमशिव की शक्ति का स्वरूप है[२] और शक्ति शिव से अभिन्न होती है, यह हम पहले कह चुके हैं। अतः शिव की भाँति उसका शक्ति-स्वरूप जगत् भी शिवमय ही है[३]। इसी विचार से कामायनी में विश्व को चिति का स्वरूप बताया गया है—

जगत् : चिति का विश्वात्मक स्वरूप

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत[४]।

---

१. तृतीय संस्करण, पृष्ठ २९।

२. शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।
—तंत्रालोक भाग ३, आ० ५। ४०।

३. वन्दे देव ! विश्वं भवन्मयम्। —शिवस्तोत्रावली, स्तो० २०। १७।

४. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २४२।

जगत् की नित्यता

चिति का स्वरूप यह जगत् चिति की भाँति नित्य सत्य है, किन्तु इसमें चिति की स्वातन्त्र्य-लीला से प्रत्येक क्षण प्रमातृ-प्रमेयरूप आभासों का उदय और अस्त तथा संयोग और वियोग होता रहता है[1], जिसके कारण यह नित्य जगत् भी प्रमाताओं को शत-शत रूप बदलता हुआ दिखाई पड़ता है—

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत शत।
कण विरह-मिलनमय नृत्य-निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत[2]।

जगत् को एक साथ ही 'नित्य' और 'शत शत रूप बदलता हुआ' कहने से यहाँ प्रसादजी के उक्त कथन में विरोध की शंका की जा सकती है। किन्तु उपर्युक्त पंक्तियों में जगत् को एक साथ ही नित्य और परिवर्तनशील बताने पर भी यहाँ कोई विरोध नहीं और विरोध की शंका निर्मूल है! इसका कारण यह है कि चितिरूप परमशिव में ऐकात्म्यभाव से अन्तःस्थित प्रकाश (अर्थ-औघ) ही परमशिव के स्वातन्त्र्य से बहिः अवभासित होता है[3]। अन्तःस्थित प्रकाश का यह बाह्य आभास अपने आन्तर स्वरूप की भाँति अनवच्छिन्न न होकर अवच्छिन्न होता है, क्योंकि शिव के द्वारा जो आभासित किया जाता है वह संवित् से और संवित् उससे तथा संवेद्य भी अन्य संवेद्य से विच्छिन्न होता है। किन्तु परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से यह सब होते हुए भी वस्तुतः वहाँ अविच्छिन्नता ही रहती है[4], तभी तो यह समस्त विश्व-व्यवहार चलता है। व्यवहारवैचित्र्य की

---

१. प्रतिक्षणं तत्तत्प्रमातृप्रमेयाभाससंयोजनवियोजनक्रमेण त्रैलोक्यं आभासयन्नपि यो निर्मलस्वतंत्रप्रकाशचिदेक परमार्थ एव असौ।
—स्तवचिन्तामणि विवृति, पृष्ठ ११८-११९।

२. कामायनी, पृष्ठ २४२। २२४

३. (क) भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग १—१।६।७।

(ख) स्वरूपान्तर्ब्रूडितम् अर्थराशिम् अपरमपि (अभिन्नमपि) भिन्नाकारम् आत्मनि परिगृहय, कंचिदेव अर्थं स्वरूपात् उन्मग्नम् आभासयति।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग १ पृष्ठ १०८।

४. यत् किल तत् आभास्यते तत् संविदो विच्छिद्यते, संविच्च ततः, संविच्च

तत्त्वता प्रकट करते हुए शैवाचार्यों ने कहा है कि अर्थाविभास की सत्ता में कोई भेद अर्थात् परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि वह (अर्थाविभास) सदैव सभी विकल्पों में एकरूप-प्रकाशमानता के तुल्यभाव से अवस्थित रहता है – चाहे वे विकल्प भविष्यन्निष्ठ हों या वर्तमाननिष्ठ हों अथवा अतीतवस्तुविश्रान्त हों[1]। जब परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से आभासों का संयोजन-वियोजन करता है तभी वहाँ भेद का अवभासन होता है[2]। शैवदर्शन के इस उपर्युक्त सिद्धान्त को सरल ढंग से प्रकट करते हुए डाक्टर पाण्डेयजी कहते हैं कि प्रत्येक अर्थाविभास परम-सत्ता के भीतर एक पृथक् सत्ता है और वह अर्थाविभास नित्य एकसा रहता है। जो कुछ वहाँ परिवर्तन होता है वह केवल आभासों के संयोग में होता है न कि उन अर्थाविभासों के स्वात्मगतरूप में[3]। उक्त आभासों के संयोग से जगदाभास

संविदन्तरात् , सवेद्यं च संवेद्यान्तरात्, न च विच्छेदनं वस्तुतः संभवति,-इति विच्छेदनस्य अवभासमात्रं उच्यते।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी भाग १, पृष्ठ ११० ।

१. (क) विशेषोऽर्थावभासस्य सत्तायां न पुनः क्वचित्।
विकल्पेषु भवेद्भाविभवद्भूतार्थगामिषु ॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग १—१।८।२।

(ख) केवलम् एतावता आभासानां भेदो न पुनरर्थावभासस्य स्वात्मगतः क्वचिदपि भेदः।…… तस्मात् अर्थावभासस्य केषुचिदपि विकल्पेषु सत्तायां—स्वरूपे विशेषोऽस्ति इति संभावना न कर्तव्या, ते हि विकल्पा भाविवस्तुगामिनो वा भविष्यन्निष्ठा भवन्तु वर्तमाननिष्ठा वा अतीतवस्तुविश्रान्ता वा।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी भाग १, पृष्ठ ३२०-२२।

२. एतदुक्तं भवति—नीलमिदं पश्यामि, संकल्पयामि, उत्प्रेक्षे, स्मरामि, करोमि, वेद्मि इत्यादौ नीलाभासोऽसौ स्वरूपतोऽनूनाधिकः एवं पश्यामीत्येवं यः पीतादिषु ते पुनराभासाः स्वातंत्र्येण यदा भगवता संयोज्यन्ते वियोज्यन्ते च तदा अयं स्फुटत्वास्फुटत्वादिव्यवहारः,नीलमित्याभासस्य उत्प्रेक्षे इत्याद्याभासान्तरव्यवच्छेदेन पश्यामीति आभासव्यामिश्रणायां स्फुटताव्यवहारः। एवं त्रैकालिकव्यवहारवैचित्र्योपपत्तिः।— वही

३. Each constituent abhasa is a separate entity and as such it is ever the same. All the talk of change refers to combination.

—Abhinavagupta : An Historical & philosophical Study, P. 264.

बनता है। अतः जगदाभास का संविधान करनेवाले अर्थावभासों के सत्तात्मक स्वरूप में कोई परिवर्तन न होने के कारण उनके (अर्थावभासों) के नित्य-भाव से जगदाभास भी नित्य है और जगदाभास के विधायक उन अर्थावभासों के संयोग में परिवर्तन होने से उसके संयोग से निर्मित जगदाभास परिवर्तनशील है। इस प्रकार चिति का स्वरूप यह जगत् नित्य भी है, क्योंकि वस्तुतः यह संविद्रूप परमशिव से अविच्छिन्न है और आभासों के संयोगगत परिवर्तन से 'शत शत रूप बदलता हुआ' दिखाई पड़ने के कारण परिवर्तनशील भी है। किन्तु यह सब विश्व-वैचित्र्य चितिरूपा जिस मूल सत्ता में अवभासित हो रहा है वह अपने शक्ति-सामर्थ्य से अपने स्वरूप को विश्ववैचित्र्य के नानात्व में अवभासित करके भी परमार्थतः पूर्णतः अद्वैत ही है—

नित्य जगत् की परिवर्तनशीलता का तात्पर्य

मुहुर्मुहुरविश्रान्तस्त्रैलोक्यं कल्पनाशतैः ।
कल्पयन्नपि कोऽप्येको निर्विकल्पो जयत्यजः[1] ॥

ऐसे स्वातन्त्र्यमूलक अद्वैत-स्वभाव (विमर्श) में विश्रान्त होना ही आनन्द है, यही श्रद्धा जीवात्मा मनु को समझाना चाहती है।

जगत् को 'शत-शत रूप बदलता हुआ' कहने से किसी को यहाँ बौद्धों के क्षणिकवाद की भ्रान्ति न हो जाए, इसके लिए प्रसादजी ने जगत् के अनन्त आभासों में चिति को ही 'नृत्य-निरत' बताया है अर्थात् विभिन्न आभासों के रूप में चिति ही नृत्य-क्रीड़ा कर रही है।

विश्वाभासके समस्त परिवर्तन, चाहे वे प्रमातृगत हों या प्रमेयगत (प्रकृतिगत, प्राकृतिक) हों, उसी की आनन्द-लीला के रूप हैं। आभासों के उन्मेष-निमेष से परिवर्तनमयी विश्व-लीला की नित नूतनता में ही उसके आनन्द-स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है (क्योंकि आकाशवत् सदैव एकरूप ही बने रहने और जगत्क्रीड़ा न करने पर तो उसकी महेश्वरता ही कहाँ बचेगी, यह दूसरे अध्याय के अन्तर्गत आत्मा के पंचविधकृत्य के प्रसंग में बताया जा चुका है।) इसी कारण 'परिवर्तन' को चिति के सृष्टि-विधान का अटल नियम बताकर श्रद्धा मनु को जीवन को समग्ररूप में ग्रहण करने के लिए, ('इरावती' के ब्रह्मचारी पात्र के शब्दों में) "जीवन की प्रत्येक स्थिति से तादात्म्य कर लेने[2]" के लिए प्रेरणा-सी देती हुई कहती है—

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ १९५।

२. पृष्ठ १०४।

पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनन्द
किये है परिवर्तन में टेक।
युगों की चट्टानों पर सृष्टि
डाल पद-चिह्न चली गंभीर;
देव, गन्धर्व, असुर की पंक्ति
अनुसरण करते उसे अधीर[1]।

मितात्मा मनु और इड़ा के सम्मुख श्रद्धा के द्वारा परिवर्तन को चिति के सृष्टि-विधान की अटलता बतला कर प्रसाद जी ने यहाँ काश्मीर शैवदर्शन के सर्वग्रहणमूलक आत्मवादी दृष्टिकोण में अपनी आस्था का ज्ञापन किया है। प्रसाद जी की परिवर्तन विषयक उपर्युक्त दृष्टि को और स्पष्ट करने के लिए मैं 'इरावती' की उन पंक्तियों को यहाँ उद्धृत करना चाहता हूँ जिनमें अग्निमित्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए ब्रह्मचारी कहता है—

"परिवर्तन हो तो क्या बुरा है। होगा अच्छा ही। गुरुदेव ने बतलाया है कहीं अशिव नहीं, सर्वत्र शिव है। सर्वत्र आनन्द! फिर क्यों भय[2]!"

सर्वत्र शिवता की स्थिति, आनन्द की सत्ता मानकर अभय होना शैवों के स्वातंत्र्य-सिद्धान्त का निजी वैशिष्ट्य है। शैवाचार्य अभिनवगुप्त का अभिमत है—'आत्मज्ञो न कुतश्चन बिभेति सर्वं तस्य निजरूपम्[3]।' निष्कर्ष यह है कि शैवों की सर्वग्रहणमूलक आत्मवादी विचारधारा के अनुसार जीवन के प्रत्येक परिवर्तन को चिति की आनन्द-लीला का ही अंग मानकर 'चारों ओर आनंद की सीमा में प्रसन्न रहना' चाहिए, क्योंकि जो कुछ है वह सब चिति का ही आनन्द-स्फुरण है अर्थात् चितिरूप एक महेश्वर ही अपने उन-उन (प्रमातृ) रूपों से जानता है, स्मरण करता है और विकल्पन करता है।[4]

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि चिति जब अपने आपमें सर्वथा परिपूर्ण होने से निराशंस है तब अपनी इस विश्व-वैचित्र्यरूपा आभास-सृष्टि में उसका क्या उद्देश्य है, क्योंकि किसी कार्य का कर्ता उद्देश्य (लक्ष्य-प्राप्ति की आकांक्षा)

१. कामायनी, श्रद्धासर्ग। २. पृष्ठ १०४।
३. परमार्थसार का० ५८।
४. स एव हि तेन तेन वपुषा जानाति स्मरति विकल्पयति च।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ १११।

विशेष से ही किसी कार्य में प्रवृत्त होता है और यह लक्ष्यविशेष की प्राप्ति की आकांक्षा तो किसी अपूर्ण में ही होती है पूर्ण में नहीं ?

विश्वाभास में चिति का उद्देश्य

इसका उत्तर यह है कि चिति अपने आपमें परिपूर्ण है और अपनी परिपूर्णता का यह विमर्श ही उसका स्वातंत्र्य है। अपने इस स्वातंत्र्य से नित्य-आमोदभरित चिति अनन्योन्मुख स्वात्मानन्द में छलकती-(स्पन्दमाना)सी रहती है और अपने स्वरूप को ही प्रमातृप्रमेयरूपों में कल्पित करके उनके उल्लासन (सर्जन) और विलापन (संहार) से स्वयमेव आनन्द-क्रीड़ा करती रहती है। ऐसा करना उसका स्वभाव है और किसी पदार्थ के स्वभाव के सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि 'यह ऐसा क्यों है ? इसे हम विश्वाभास के प्रसंग में पहले बता चुके हैं। प्रसादजी भी चिति-स्वभाव को हिन्दी-जगत् के सम्मुख रखते हुए स्पष्टतः कहते हैं—

आनन्द का स्वभाव ही उल्लास है[1]।

चिति के इसी आनन्द-स्वभाव (जो परमार्थतः जीव मनु का यथार्थ-स्वभाव है) का परिज्ञान कराने के लिए श्रद्धा ने पूर्वोद्धृत पद में कहा है—

उल्लास-पूर्ण आनन्द सतत।

चिति की आनन्द-रूपता का उल्लास

अर्थात् चिति सततभाव से आनन्दरूपा है। आनन्द उसका नित्य स्वभाव है और अपने इस आनन्द-स्वभाव की पूर्णता से ही वह नाना प्रमातृ-प्रमेयरूपों में उल्लसित होकर विश्वाभास की क्रीड़ा करती है[2]। अतः यह समस्त विश्व चितिमय है और विश्व के उन्मेष और निमेष उस एक चिति के ही भावाभिनय के विविध रूप हैं। चिति का यह जगत्-नृत्य उसके आनन्द-स्वभाव का ही प्रकाशन है। इसी अभिप्राय से दार्शनिक कवि प्रसादजी ने चिति के साथ 'नृत्य निरत' और 'उल्लास पूर्ण आनन्द सतत' जैसे शब्दों का सारगर्भित प्रयोग किया है। प्रसादजी की इस उपर्युक्त विचारधारा का काश्मीर शैवदर्शन के साथ पूर्ण साम्य दिखाई पड़ता है क्योंकि शिवसूत्रों में जगत्-रूपी नृत्य के लीलाकारी आत्मा को नर्तक कहा गया है[4] और पंचस्तवीकार ने भी ऐसा ही लिखा है कि एक महाशक्ति ही स्वात्म-आनन्दवश नर्तकी की भाँति नाना प्रमातृ-प्रमेयरूप

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ५५।

२. तथाभासनयोगोऽतः स्वरसेनास्य जृम्भते।

तंत्रालोक भाग ९–आ० १५।२६६।

४. नर्तक आत्मा। —शिवसूत्र ३।९।

भूमिकाओं में नृत्य करती है तथा उसकी वह आनन्द-पूर्ण नृत्य-क्रीड़ा ही विश्व का यह आभास है[१]। ऐसे ही विचार शैवाचार्य अभिनवगुप्त के हैं। उसने कहा है कि परमशिव ही स्वेच्छा से नट की भाँति नाना भूमिकाओं में अभिनय करते हुए अपने अन्तर्गत विश्व का उन्मेष करता है और ऐसा करते हुए भी तत्त्वतः वही एक सर्वत्र प्रकाशमान है[२]

उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त श्रद्धा के द्वारा उपदिष्ट इस दर्शन के अद्वैतवादी विचारों की जो अभिव्यक्ति प्रत्यभिज्ञात-शिव-स्वरूप मनु के द्वारा होती है उससे भी प्रसादजी की यह मान्यता स्पष्ट हो जाती है कि वे जड़-चेतनरूपात्मक इस मूर्त विश्व को सतत सत्य मानते हैं—

यह मूर्त विश्व सचराचर
चिति का विराट वपु मंगल,
यह सत्य सतत चिर सुन्दर[३]।

अर्थात् यह सचराचर मूर्त विश्व चिति का विराट् शरीर है, अव्यक्तरूपा चिति का यह व्यक्त स्वरूप है जो चिति से अभिन्न होने के कारण चिति के समान ही नित्य सत्य है। उक्त दर्शन के अनुसार जब समस्त विश्व चिति में ही प्रतिष्ठित है[४] तब उसे कामायनीकार के द्वारा सत्य बतलाना ही समीचीन लगता है, क्योंकि काश्मीर शैवदर्शन की भाँति प्रसादजी भी शिव को विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय मानते हैं, यह हम ऊपर कह आये हैं। अतः जैसे शिव का विश्वोत्तीर्णरूप सत्य है वैसे ही उसका विश्वमयरूप भी सत्य है। ये दोनों रूप उसके परमाद्वय-स्वभाव के ही दो स्वरूप हैं जिनमें अभिन्न एवं अविनाभाव सम्बन्ध है।

मनु का यह जगत् विषयक दृष्टिकोण, जो कामायनी के अन्तिम सर्ग में उसके स्वभाव का सम्यक् अनुभूत सत्य बना हुआ दिखाई पड़ता है, श्रद्धा के

---

१. एका सती भगवती परमार्थतोऽपि।
सन्दृश्यते बहुविधा ननु नर्तकीव ॥ —पंचस्तवी—२।९८।

२. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याद्या धारयंश्च निजाः कलाः।
स्वेच्छया भासि नटवत् निष्कलोऽसि च तत्त्वतः ॥
—महोपदेशविंशतिकम् श्लोक १०।

३. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८८।

४. अतः संविदि सर्वोऽयमध्वा विश्रम्य तिष्ठति।
—तंत्रालोक भाग ४—आ० ६।२८।

ही उस अभिमत की प्रतिध्वनि है जिसे श्रद्धा ने मितात्मा इड़ा के सम्मुख जीवनस्वरूप की विवेचना करते हुए इन पंक्तियों में प्रकट किया था—

जीवन-धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह;[१]

शैवदर्शन के 'शिव एव गृहीतपशुभावः[२]' इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व-जीवन शिवमय ही है, यही श्रद्धा का (उपर्युक्त पंक्तियों में) प्रतिपाद्य है। शिव और विश्व के सम्बन्ध में जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह निःसंदिग्ध तथ्य है कि प्रसादजी विश्व-जीवन को चिति की ही भाँति नित्य सत्य मानते हैं।

प्रसादजी की इस उपर्युक्त मान्यता के विरुद्ध एक शोधकर्ता विद्वान् कहते हैं कि "विश्व को क्षणिक न मानते हुए भी प्रसादजी बौद्धों की भाँति विश्व के जीवन को क्षणिक बतलाते हैं।"[३] उक्त शोधकर्ता से यहाँ हमारा प्रश्न है कि विश्व के जीवन को विश्व से पृथक् मानने का क्या आधार है? और यदि विश्व-जीवन को थोड़ी देर के लिए विश्व से पृथक् मान भी लिया जाए तो प्रश्न उठता है कि इस विश्व-जीवन से रहित विश्व का वह कौन-सा स्वरूप शेष रहेगा जिसे उपर्युक्त विद्वान् विश्व कहना चाहते हैं और इस विश्व से पृथक् उस विश्व-जीवन का क्या स्वरूप होगा जिसे वे क्षणिक कहते हैं? हमारे विचार से तो यह विश्व और विश्व-जीवन एक ही है। अतः उनमें पृथक्ता की कल्पना कर एक (विश्व) को नित्य और अन्य को अनित्य (क्षणिक) कहना पूर्णतः निराधार है। प्रसाद की 'देवरथ' कहानी से भी उपर्युक्त विद्वान् के पूर्व उद्धृत मत का खण्डन होता है। जीवन की क्षणिकता विषयक बौद्धों के मत का निम्नांकित उद्धरणों में स्पष्ट खण्डन हुआ है—

"सुजाता बालुका की शीतलवेदी पर बैठी हुई अपलक आँखों से उस क्षणिकता का अनुभव कर रही थी; किन्तु नीलाम्बुधि का महान् संभार किसी वास्तविकता की ओर संकेत कर रहा था। सत्ता की सम्पूर्णता धुँधली संध्या में मूर्तिमान् हो रही थी। सुजाता बोल उठी—**जीवन सत्य है, संवेदन सत्य है** आत्मा के आलोक में अन्धकार कुछ नहीं है।

× × ×

आर्यमित्र—'किन्तु' क्या सुजाता? मेरा हृदय फटा जाता है। बोलो, मैं सङ्घ का बन्धन तोड़ चुका हूँ और तुम भी तो जीवन की, आत्मा की क्षणिकता में विश्वास नहीं करती हो[४]?"

---

१. कामायनी, पृ० २४१। २. तन्त्रालोक टीका भाग १, पृ० २४४।
३. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृ० ४४७।
४. 'इन्द्रजाल' द्वितीय संस्करण, पृ० ९८–९९।

निष्कर्ष यही है कि प्रसादजी विश्व-जीवन को सतत सत्य मानते हैं, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है। किन्तु केवल सत्य या सत् कहने से जीवन-धारा का पूर्णस्वरूप प्रकट नहीं होता। अतः उसे 'सत सतत' कहने के साथ ही 'प्रकाश'-(मय) और 'सुखद अथाह' भी बताया गया है। इसका कारण यह है कि केवल 'सत्' कहने में जीवन की चिद्रूपता और आनन्दरूपता का बोध नहीं होता। 'प्रकाश' शैवदर्शन का पारिभाषिक शब्द है जो यहाँ जीवन की, आत्मा की, चिद्रूपता का पर्याय है और 'सुखद अथाह' उस चिद्रूप के विमर्श, स्वरूप-बोध, की पूर्णता का (अथाह आनन्द का) द्योतक है क्योंकि प्रकाश-रूप आत्मस्वरूप के अनवच्छिन्न विमर्श के बिना (केवल प्रकाशरूप सत्ता मात्र से) अथाह आनन्द की दशा संभव नहीं हो सकती।[1]

विश्व-जीवन : परमार्थतः आनन्दमय

इस प्रकार जीवन-धारा प्रकाश और विमर्श (आनन्द) मय है। इसी विचार की स्फुट अभिव्यक्ति के लिए कामायनीकार ने 'सत सतत' जीवन-धारा के साथ 'प्रकाश' और 'सुखद अथाह' शब्दों का साभिप्राय प्रयोग किया है। जीवन-धारा को प्रकाश-विमर्शमय कहने से प्रत्येक जीवधारी में शिव-स्वभाव की, आनन्द की, सत्ता का द्योतन होता है क्योंकि शैवाद्वैत दर्शन के 'शिव एव गृहीतपशुभावः' इस मत की भाँति प्रसादजी का भी अभिमत है कि विश्व-कर्ता शिव ही स्वरूप-संकोच की लीला द्वारा संसार के सुख-दुःखादि फल का भोक्ता जीव बनता है—

है वही कर्ता, वही फलभोक्ता संसार का,
विश्व क्रीड़ा-क्षेत्र है विश्वेश हृदय-उदार का[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि विश्व-जावन में शिवस्वभाव की प्रकाश-विमर्शमयी सत्ता की स्वीकृति से 'विश्व स्वयं ही ईश्वर है[3]' इस विश्वास के दृढ़ हो जाने पर तो मोक्ष की आनन्दभावना और इस लोक के सुख में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता।[4] 'चित्राधार' का निम्नांकित उद्धरण प्रसादजी के ऐसे ही अभिमत को प्रकट करता है—

---

१. स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग १–१।५।११

२. कानन-कुसुम, पृ० ११६।

३. प्रेमपथिक, पृ० ३०।

४. शिवस्तोत्रावली, स्तोत्र २०।१२।

"हम जो करते हैं, जो सुनते हैं, जो देखते हैं, जो समझते हैं, सब वही है। जब यह बुद्धि हो जाती है, तब मनुष्य को आनन्द-ही-आनन्द मिलता है, संसार आनन्दमय प्रतीत होता है।"[१]

यही जीवन्मुक्ति है, जिसे यदि कोई चाहे तो इसी लोक-जीवन में प्राप्त किया जा सकता है। स्वयं प्रसादजी के मन में भी इस की प्रबल कामना रही है—

प्रार्थना अन्तर की मेरी—
यही जन्मान्तर की हो उक्ति।
जन्म हो, निरखूँ तव सौन्दर्य
मिले इंगित से जीवनमुक्ति[२]।

(और आश्चर्य नहीं यदि उन्हें वह मिल भी गई हो[३]।)

प्रसादजी के 'अन्तर' की यह जीवन्मुक्ति की कामना, जिसमें जीवन के चरमसाध्य को इसी लोक-जीवन में प्राप्त कर लेने का विश्वास जागता है, निःसंदेह रूप से आनन्दवादी शैवों की विचारधारा से अनुप्राणित है। जीवन्मुक्ति के सहजलभ्य आनन्द की महत्ता प्रकट करते हुए कश्मीर के शैव आचार्योंने स्पष्टतः कहा है कि सैकड़ों गृहस्थी खेतोंमें हल चलाते हुए (अति सामान्य कर्ममय जीवन बिताते हुए) भी शिवानुग्रह से प्राप्त निर्मल दृष्टि से इस विश्व में सर्वत्र, सभी भावनाओं में और सभी कर्मों में, शिव का ही सौन्दर्य देखते हैं[४]। यही शैवों की अद्वैत की सच्ची भावना है जिसमें प्रकृति को, प्राकृतिक सुखों को, हेय समझ कर या त्याग कर नहीं, वरन् उन्हें शिव की शक्ति के विकासरूप में ग्रहण किया गया है और इस प्रकार संपूर्ण विश्व को शिवमय मान लेने के कारण उनके मत में कोई भी भावना या कामना तिरस्कार्य या त्याज्य नहीं बल्कि सभी नर्तक आत्मा का अभिनय-मात्र है। इसी कारण अन्य भारतीय दार्शनिकों द्वारा (जिन्हें प्रसादजी ने विवेकवादी कहा है) परमार्थोपलब्धि में बाधक मानकर त्याज्य बताया गया 'काम' भी शैवों के यहाँ शिव की विसर्ग शक्ति के रूप में अर्थात् जीवन की विकासकर्त्री शक्तियों के अन्तर्गत गृहीत है।

शैवों की उक्त आनन्दवादी जीवन-दृष्टि में प्रसाद जी की दृढ़ आस्था होने के कारण ही उन्होंने अखिल मानवीय भावनाओं को, उनके आनंद को,

१ पृष्ठ १३८। २. झरना, 'प्रार्थना' पृष्ठ ६८।

३. आचार्य वाजपेयीजी के साथ प्रसाद जी के वार्तालाप में ऐसी ध्वनि है। देखिए यही प्रबन्ध, पृष्ठ १३४–१३५।

४. शिवस्तोत्रावली, स्तोत्र १२।२१।

काम का स्वरूप

चिति के आनंदमय स्वभाव की ही अभिव्यक्ति मानकर श्रद्धा के द्वारा 'काम' को 'मंगल से मंडित श्रेय' कहलाया है। 'काम' को 'मंगल' से मंडित श्रेय कहकर श्रद्धा मनु को इस तथ्य का बोध कराना चाहती है कि जीवन-सत्य की पूर्णता केवल श्रेय-प्राप्ति में नहीं है वरन् 'अभ्युदय से मंडित श्रेय' की प्राप्ति में है। 'मंगल' शब्द का प्रयोग कवि ने यहाँ 'अभ्युदय' के अर्थ में ही किया है, इसका प्रमाण 'श्रद्धा' सर्ग की ही निम्नांकित पंक्तियों में मिल जाता है—

"और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान--
"शक्तिशाली हो विजयी बनो"
विश्व में गूँज रहा जय गान।
डरो मत अरे अमृत सन्तान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।
× × ×
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।
उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानन्द,
आज से मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बन्द।

ऊपर उद्धृत पदों में श्रद्धा ने विधाता के जिस ("शक्तिशाली हो, विजयी बनो") वरदान को 'मंगल वरदान' कह कर, जिस 'मंगलमय वृद्धि' के अग्रसर होने का विश्वास मनु में जगाना चाहा है उसे स्वयं (श्रद्धा) ने आगे स्पष्टतः 'अभ्युदय' कहा है—

जलधि में फूटें कितने उत्स
द्वीप, कच्छप डूबे उतरायँ,
किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय[1]।

'मंगल से मंडित श्रेय' पद में 'श्रेय' से पूर्व 'मंगल' का प्रयोग और 'मंगल' को 'श्रेय' से नहीं अपितु 'श्रेय' को ही 'मंगल से मंडित कहना, कवि

१. कामायनी, श्रद्धा सर्ग।

के इस विश्वास की व्यंजना करता है कि 'श्रेय' का मार्ग 'मंगल' के मार्ग में से होकर गया है। अपने इसी विश्वास के कारण उन्होंने 'अभ्युदय' के साधन रूप 'परिणय'[1] और पारिवारिक बन्धनों का महत्त्व दर्शाते हुए सृष्टि को स्पष्टतया कल्याणकारिणी कहा है—

विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण[2],

और बौद्धों के वैराग्यमूलक, एकांतिक 'श्रेय' ('निर्वाण') की खुल कर भर्त्सना की है—

आर्य्यमित्र अधीर होकर सोचने लगा—पारिवारिक पवित्र बन्धनों को तोड़कर जिस मुक्ति की—निर्वाण की—आशा में जनता दौड़ रही है, क्या उस धर्म की यही सीमा है! यह अन्धेर—गृहस्थों का सुख न देख सकने वालों का यह निर्मम दण्ड, समाज कब तक भोगेगा[3]?

प्रसाद के अनुसार केवल अभ्युदय का मार्ग 'राग' पर आधृत होने के कारण भोगवादी मार्ग है और केवल श्रेय का मार्ग 'विराग' मूलक होने के कारण निवृत्ति का मार्ग है। ये दोनों ही मार्ग दो अतियाँ हैं। अतः एकान्तरूप में दोनों ही दुःख के कारण हैं। इसीलिए श्रद्धा लोक-जीवन से विरक्त मनु को कहती है कि यह लोक विधाता की मंगलकारिणी सृष्टि है। इसे तिरस्कृत कर तुम अज्ञानवश अपने आपको ही दुःखों में डालकर जीवन को असफल बना रहे हो—

तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

विश्व का तिरस्कार न करने तथा इसे चिति की आनन्द-लीला समझ कर इसमें अनुरक्त होने का श्रद्धा द्वारा मनु को उपदिष्ट सिद्धान्त प्रसादजी पर काश्मीर शैवदर्शन का प्रभाव प्रकट करता है। कारण यह है कि कश्मीर के शैव दार्शनिक तत्त्व लाभ के लिए संसार से वैराग्यमूलक संन्यास लेने का समर्थन नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार सब कुछ शिवमय ही है और स्वरूप-ज्ञान की अद्वैत दृष्टि पा लेने पर तो विश्व और चिति में कोई अन्तर ही नहीं रह

१. परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके।
—कामायनी, पृ० १६३।

२. वही, श्रद्धा सर्ग।

३. 'इन्द्रजाल' ('देवरथ' कहानी) द्वि० सं०, पृ०१००।

जाता[1]। फिर किसकी तिरस्कृति और किसकी स्वीकृति विधेय होगी ? ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाकार आचार्य उत्पलदेव ने शांकर वेदान्त में अभिमत संन्यास और वैराग्य की निस्सारता व्यंजित करते हुए यहाँ तक कहा है कि सैकड़ों गृहस्थ हल चलाते हुए भी भगवत्कृपा से शुद्धज्ञानदृष्टि पाकर विश्व को सदा शिवमय ही देखते हैं[2]। पंचस्तवीकार ने स्पष्टतः शरीर को क्लेश पहुँचाने वाले तप की निन्दा की है[3] और आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार भी आत्म-स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा की साधना में शरीर-कदर्थना व्यर्थ है[4]। वस्तुतः कश्मीर के शैव आचार्य भक्त थे और अधिकांशतः गृहस्थ भी तथा भक्त तो सब कुछ भगवन्मय ही देखते हैं[5]। कश्मीर के अद्वैतनिष्ठ शिवभक्त आचार्यों के ऐसे ही विचारों के अनुसार शिवभक्त प्रसादजी ने अपने कामायनी ग्रंथ में संन्यास और वैराग्य का विरोध करते हुए श्रद्धा के द्वारा मनु को कहलाया है—

---

१. मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते ।
महेश्वरो यथा .... ॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २-४।१।१३ ।

२. शतशः किल ते तवानुभावाद्
भगवन्केप्यमुनैव चक्षुषा ये ।
अपि हालिकचेष्टया चरन्तः
परिपश्यन्ति भवद्वपुः सदाऽग्रे
—शिवस्तोत्रावली, स्तो० १२।२१ ।

३. रे मूढ ! किमयं व्यर्थैव तपसा देहः परिक्लिश्यते ।
—पंचस्तवी, स्तोत्र २ ।

४. प्राणायामो न कर्तव्यः शरीरं येन पीड्यते ।
—तंत्रालोक भाग ३-४।९१ ।

५. (क) साक्षाद्भवन्मये नाथ ! सर्वस्मिन् भुवनान्तरे ।
किं न भक्तिमतां क्षेत्रं मन्त्रः क्वेषां न सिद्ध्यति ॥
—शिवस्तोत्रावली (उत्पलकृत) स्तो० १।४ ।

(ख) त्वत्प्रबोधात् प्रबोधोऽस्य त्वन्निद्रातो लयोऽस्य यत् ।
अतस्त्वदात्मकं सर्वं विश्वं सदसदात्मकम् ॥
—महोपदेशविंशतिक श्लोक ११ ।

(ग) भक्त कवि तुलसीदासजी भी यही कहते हैं—
सियाराम मय सब जग जानि ।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानि ॥

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह, क्षणिक दीन अवसाद।
तरल आकांक्षा से है भरा
सोरहा आशा का आह्लाद[1]।

इससे यह स्पष्ट है कि वैराग्यमूलक तप जीवन का एकांगी दृष्टिकोण है जिससे सत्य के समग्ररूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। सत्य के समग्ररूप के साक्षात्कार के लिए यह आवश्यक है कि समस्त विश्व का स्वात्मरूप में प्रत्यवमर्श हो। परन्तु विरक्तिमूलक तप में ऐसा सम्भव नहीं क्योंकि उसमें तो विश्व को दुःखमय मानकर साधक उससे पराङ्मुख ही रहता है। शैवों की भाँति विश्व को शिवमय मानकर[2] प्रसादजी श्रद्धा के द्वारा यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जीवन-सत्य अर्थात् जीवन की पूर्णता पाने के लिए आवश्यकता विश्व-त्याग की नहीं अपितु अपने शुद्ध व्यापक स्वरूप को पहचानकर समस्त विश्व को स्वात्मरूप में ग्रहण करने की है। अतः जीवनसत्य की पूर्णता की प्राप्ति के लिए चिति के स्वरूप इस विश्व को तिरस्कृत करना जीवात्मा मनु की एक महती भ्रान्ति ही है क्योंकि विश्व भी तो परमेश्वर का ही स्वरूप है। जीवात्मा मनु की इस उपर्युक्त भ्रान्ति का मूल कारण उसका अज्ञान है जो उसकी अद्वैत-बोध की पूर्णदृष्टि को आवृत किए हुए है। इस पूर्णदृष्टि का प्रकाश परमार्थ-ज्ञान से ही सम्भव है। इस सम्बन्ध में शैवशास्त्रों का स्पष्ट मत है कि आत्म-प्रकाशरूपी परमार्थ-भानु के प्रकाशित होने पर ही जीवात्मा का अज्ञानरूपी अन्धकार विनष्ट हो सकता है और तभी उसे अद्वैत-दर्शन की वह पूर्णदृष्टि उपलब्ध होती है जिससे भव-प्रपंच की 'इदन्ता' विगलित होकर उसे सर्वत्र अहंभाव का ही विमर्श होता है[3]। अहंभाव का यह विमर्श ही सामरस्य कहलाता है।

वैराग्यमूलक तप : जीवन का एकांगी एवं अस्वस्थ दृष्टिकोण

---

१. कामायनी, पृष्ठ ५५।

२. क्योंकि विश्वमय है विश्वेश।
× × ×
प्रकृति मिलादो विश्व-प्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है।
—प्रेमपथिक, पृष्ठ २९–३०।

३. प्रकाशमाने परमार्थभानौ
नश्यत्यविद्यातिमिरे समस्ते।
तदा बुद्धा निर्मलदृष्टयोऽपि
किंचिन्न पश्यन्ति भवप्रपंचम्॥
—स्तवचिन्तामणि, प्रारम्भिक श्लोक १

इस सामरस्य को सागर और नदी के उदाहरण से समझाते हुए काश्मीर शैवदर्शन के आगम-ग्रन्थों में कहा गया है कि जैसे एक नदी सागर में मिलकर समरसता को प्राप्त होती है और फिर उस नदी तथा सागर में किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं रहती (अर्थात् नदी-जल और सागर-जल एक हो जाते हैं) उसी प्रकार आत्म-प्रत्यभिज्ञा से जीव शिव के साथ ऐक्य को प्राप्त होकर पूर्णतः अद्वैतरूप शिव हो जाता है। इसी पूर्ण स्वरूप-ऐक्य की अवस्था को सामरस्य कहते हैं[1]। इस सामरस्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने लिखा है—

जीवन का स्वस्थ दृष्टिकोण : समरसता का विमर्श

सलिले सलिलं क्षीरे क्षीरमिव ब्रह्मणि लयी स्यात्[2]।

अर्थात् जैसे जल जल में और दूध दूध में मिलकर एक हो जाते हैं वैसे ही मितात्मा (जीव) परमात्मा में मिलकर दोनों पूर्ण एकरूप हो जाते हैं। शिव ही स्वरूपसंकोच की कल्पना द्वारा जीवभाव ग्रहण करता है और मल आदि विगलित होने पर वह जीव ही मेघावरण-रहित सूर्य की भाँति स्वयमेव शिवस्वरूप में प्रकाशित हो जाता है। अतः स्वरूप-संकोच के अतिरिक्त शिव और जीव में कोई वस्तुगत पार्थक्य नहीं। शिव के परमप्रकाश और जीव के मितप्रकाश में विभेद प्रकाशरूपता का न होकर प्रकाशरूपता के व्यापकत्व-मितत्व का है। अतएव यहाँ दो समान रसों का ऐक्य ही सामरस्य कहलाता है तथा उक्त दोनों रसों में से किसी की भी प्रकृति का क्षय नहीं होता। क्षय केवल जीव के मल का होता है जो जीव का वस्तु-स्वरूप न होकर माया द्वारा आपतित है। स्वच्छन्दतंत्र में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि समरसता से ही मितात्मा शिव बनता है—

समरसता का स्वरूप

समरसता : शिवता

---

१. स्थितः स सागरेऽद्भिस्तु
सिन्धुः समरसीभवेत्।
पुनर्विभागं नाप्नोति
तथात्मा तु शिवार्णवे ॥

अद्भिरिति सागरसंगताभिः। सिन्धुर्नदी।

—स्वच्छन्दतन्त्र भाग २, पटल ४।४४०–४४१।

२. परमार्थसार श्लोक ५१।

आत्मा समरसत्वेन शिवीभवति सर्वगः[1]।

इस समरसता को प्राप्त योगी अपने चिदात्म-स्वरूप में विश्रान्त होने के कारण 'स्व-स्थ' कहलाता है[2]। अपने स्वाभाविक पूर्ण स्वरूप में स्थिति ही समरस योगी की 'स्व-स्थिति' अर्थात् स्वात्म-विश्रान्ति है। इस स्वात्म-विश्रान्ति में शिवरूप योगी को सर्वत्र 'अहन्ता' का विमर्श होता है जिसमें वेद्य-आकांक्षा का अभाव और स्वात्म-पूर्णता की निराशंसता

सामरस्य-विश्रान्ति : आनन्द

रहती है। ऐसी निराशंसता से युक्त स्वात्म-विश्रान्त योगी के आनन्द का स्वरूप प्रकट करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि परिपूर्ण प्रकाशरूप योगी की स्वात्म विश्रान्ति से ही उसे महा आनन्द की प्रतीति होती है—

भारूपं परिपूर्णं स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम्[3]।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्वात्म-विश्रान्ति ही वह समरसता है, जिसमें विश्रान्त योगी 'समरस' कहलाता है। उसे समरस कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे सामरस्य-विश्रान्त योगी को सर्वत्र एक ही चित्प्रकाशकी परिव्याप्ति प्रतीत होती है। एक चैतन्य की इस परिव्याप्ति के विमर्श से विश्व भी उसे 'अहंभाव' से ही परामृष्ट होता है। सामरस्य-विश्रान्त ऐसे योगी के विमर्श का स्वरूप प्रकट करते हुए कश्मीर के शैव आचार्यों ने लिखा है कि समरसतामें अवस्थित परमार्थ प्रमाता स्वयं शुद्ध चैतन्यरूप होता है और 'इदम्' रूप विश्व की संचेतना भी स्वात्मरूप में ही होती है। इसके

समरसता-विश्रान्त परमार्थप्रमाता के विमर्श का स्वरूप

अतिरिक्त उसे यहाँ स्वात्मरूप में जिस 'इदम्' रूप विश्व की संचेतना होती है वह उक्त चैतन्यरूप परमार्थ प्रमाता को 'इदम्' भाव से संचेत्यमान होने पर भी चैतन्यरूप ही प्रतीत होता है। अतः सर्वत्र एक ही चैतन्य के विमर्श के कारण यहाँ प्रकाशरूप प्रमेय का प्रकाशरूप परमार्थप्रमाता से पूर्ण अभेद रहता है[4]। पूर्ण अभेद की यह

---

१. स्वच्छन्दतंत्र, भाग २—पटल ४।४४२।

२. स्वस्थो (आत्म-विश्रान्त) यः स सुखी भवेत्।
—तंत्रालोक टीका, भाग २, पृष्ठ २९।

३. परमार्थसार (अभिनवगुप्त कृत) श्लोक १०।

४. यदापि तु संचेत्यते तदा संचेत्यमानस्याप्यस्य चैतन्यमयत्वाचैतन्यमेवास्तीत्यायातम्। यदाहुः
प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो नाप्रकाशश्च सिद्ध्यति।
—स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ १७।

विमर्श-दशा ही शैव शब्दावली में समरसता कहलती है, जिसमें विश्रान्त योगी को स्वात्म-पूर्णता के कारण अखण्ड आनन्द की प्रतीति होती है[1]।

समरसता की अप्रतीति का परिणाम : विषमता

इस समरसता की विपरीत अवस्था है विषमता। यह विषमता की अवस्था स्वरूप-संकोच की अवस्था है, जिसमें अपने पूर्ण चित्स्वरूप के अज्ञान के कारण प्रमाता का वह अभेद-विमर्श तिरोहित हो जाता है जिससे समरसता की अवस्था में उसे सर्वत्र एक प्रकाशरूपता की प्रतीति होती है। अभेद-विमर्श के तिरोहित हो जाने पर प्राणी[2] मायीय जगत् का संकुचित प्रमाता बन जाता है और उसमें अभेद-प्रतीति के स्थान पर वेद्य-वेदकभाव की स्फुट भेदप्रतीति दृढ़ हो जाती है। इस भेदप्रतीति या भेद-ज्ञान की दृढ़ता से उक्त संकुचित प्रमाता देहादि में अहन्ताभिमान स्थिर करके देहप्रमाता बन जाता है[3] अर्थात् शरीर को ही 'यह मैं हूँ' ऐसा समझने लग जाता है। फिर, देहप्रमाता होते हुए भी वह 'देह' आदि की विभिन्नता के कारण देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि अनेक भेदों की कल्पना कर लेता है और अपने समान देह वाले मनुष्यों में भी 'यह चैत्र है', 'यह मैत्र है' ऐसे भेदों की कल्पना करते हुए अपने आपको उन सबसे भिन्न समझता है[4]। इन अनन्त प्रमा-

---

१. आनन्दशक्तिविश्रान्तो योगी समरसो भवेत्।

—तंत्रालोक टीका, भाग २, पृष्ठ २९।

२. प्राणी से यहाँ वायुरूप प्राण से युक्त प्राणी नहीं है अपितु जीवनक्रिया या जीवनशक्ति से युक्त प्रमाता है। सभी प्रकार के प्रमातृगणों में जीवन-क्रिया रहती है। अतएव वे सभी प्राणी हैं। इस सम्बन्ध में निम्नांकित प्रमाण द्रष्टव्य है—

प्राण इति प्राणनरूपा जीवनस्वभाव येयं चिद्रूपमस्य स्थितिः सा तावत्सामान्यपरिस्पन्दरूपा, देहप्राणादेरचेतनस्य चेतनायमानतासंपादनात्मिका 'अहम्' इति स्वातंत्र्यारोपसारा सति विकल्परूपपरामर्शमयी सैव प्राणादिविशेषात्मना पंचरूपतां भजते।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २४४।

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २०५।

४. स विचित्रस्वभावत्वाद्देहप्राणादितां गतः।
देहादेरपि वैचित्र्याद्देवतिर्यङ्मनुष्यता।
वैचित्र्यान्तरतोऽत्रापि चैत्रमैत्रादिरूपता॥

—तंत्रवटधानिका आ० १।२४–२५।

ताओं के प्रमेय भी नाना भेदों से युक्त होते हैं और ऐसे प्रमाता अपने आपको अपूर्ण मानते हुए आत्मपूर्णता के लिए अपने से भिन्न परिदृष्ट विषयों (प्रमेयों) के प्रति भोक्तृभाव से उन्मुख होते हैं, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है। भोक्तृभोग्यभाव का यह अनन्त भेदरूप वैषम्य ही वह विषमता है जिससे समस्त विश्व को कामायनीकार ने प्रपीड़ित बताया है—

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान।[1]

× × ×

जगतीतल का सारा क्रन्दन
यह विषमयी विषमता[2],

'विश्व महान' का प्रयोग यहाँ अनन्त भेदवैचित्र्यपूर्ण मायीय जगत् का बोधक है और मनु इस मायीय जगत् के जीवों का प्रतिनिधि है। मायीय जगत् की विषमताजनित पीड़ा से व्याकुल जीवों का प्रतिनिधि होने के कारण वह भी पाप-पुण्य, अभिमत अनभिमत की विषमता से ग्रस्त है, तभी तो देव-सृष्टि की अपनी भोग्या कामनियों के अनभिमत विनाश से दुःखी होता है—

विषमता : जगत् के दुःखों का हेतु

भरी वासना-सरिता का वह
कैसा था मदमत्त प्रवाह,
प्रलय-जलधि में संगम जिसका,
देख हृदय था उठा कराह।[3]

× × ×

गया, सभी कुछ गया, मधुरतम,
सुर बालाओं का श्रृंगार,
उषा ज्योत्स्ना-सा यौवन-स्मित
मधुप सदृश निश्चिन्त विहार।[4]

इसी प्रकार वह श्रद्धा और इड़ा को अपने से भिन्न मानता है तथा जब तक उन्हें अपने अभिमत रूप में नहीं पाता तब तक निरन्तर विषमताजनित

---

१. कामायनी, पृष्ठ ५४।
२. वही, पृष्ठ १२१।
३. वही, पृष्ठ १०।
४. वही, पृष्ठ ९।

पीड़ा से सन्तप्त रहता है। मनु की यह उपर्युक्त वैषम्य-अवस्था उसकी द्वैत-बुद्धि से उत्पन्न भोगवादी प्रवृत्ति का परिणाम है। इसी प्रवृत्ति के ही कारण वह अपने से भिन्न कल्पित विषयों में आनन्द की स्थिति मानकर उनके प्रति भोक्तृभाव से उन्मुक्त होता है और आनन्द प्राप्त करने के प्रयत्न में जो जो कार्य करता है उनसे उसे आनन्द के बदले अवांछित दुःख ही प्राप्त होते हैं।

श्रद्धा द्वारा मनु को सामरस्य का उपदेश

जीवात्मा मनु को इस प्रकार द्वैत-बुद्धि की विषमता से निरन्तर दुःख-सन्तप्त देखकर श्रद्धा अपने अनुग्रहस्वभाव-वश उसे शैवाद्वैत दर्शन के सामरस्य का तत्त्वोपदेश देती है जिससे कि वह सामरस्य की अद्वैत-दृष्टि पाकर विषमता के दुःखों से मुक्त हो सके और स्वात्म-विश्रान्ति का आनन्द-लाभ कर सके, क्योंकि स्वात्म-विश्रान्तिरूप समरसता ही आनन्दरूपा शिवता है[1]। इस शिवता की प्राप्ति ही जीवात्मा की सत्यमुक्ति कहलाती है[2]। समरसता शिवता का पर्याय होने के कारण शिवता की ही भाँति सर्वत्र ओतप्रोत है, इसी तथ्य को समझाती हुई पारमेश्वरी अनुग्रहशक्ति श्रद्धा जीवात्मा मनु से कहती है कि जैसे समस्त तरंगों के उद्‌गमभूत एक जलधि का जलत्व-प्रसार ही अनन्त तरंगों के रूप में उमड़ता है वैसे ही समस्त जीवों की कारणभूता चिति की शाश्वत अखण्ड समरसता का प्रसार ही प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय आदि अनन्तरूपों में अवभासित होता है—

समरसता की सर्वानुस्यूतता

नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान[3]।

---

१. (क) आत्मा समरसत्वेन शिवीभवति सर्वगः।
स्वच्छन्द तंत्र भाग—२ पटल ४।४४२।
(ख) परिपूर्णेन रूपेण भैरवस्वरूपं ज्ञेयं स्वतः प्रकाशमानं प्रत्यभिज्ञेयमित्यर्थः।
यत्र नास्ति द्विधाभाव
निष्कलसकलाद्यशेषसामरस्यात्मकत्वात्।
—स्वच्छन्द तंत्र, भाग १ पटल ३, पृष्ठ १६५–१६६।

२. यथा समुद्रं संप्राप्य सिन्धुः समरसीभवेत्।
तथा शिवत्वमापन्नः पशुर्मुक्तो भवार्णवात्॥
—नेत्रतन्त्र, भाग २—८।१११।

३. कामायनी, श्रद्धासर्ग, पृष्ठ ५४।

उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित काश्मीर शैवदर्शन सम्बन्धी प्रसादजी के इस सूत्रीभूत विचार के सम्यक बोध के लिए यहाँ थोड़े विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है।

कश्मीर के शैव दार्शनिकों ने भगवान् शिव को सदा समरस कहा है[1]। अतएव भगवान् शिव की जो शिवता (शक्ति) है वही नित्य समरसता है। सदा समरस शिव की यह स्वभावरूपा शिवता अर्थात् समरसता ही परमार्थतः एक नित्य सत्ता है। इस नित्य सत्ता अर्थात् समरसता का प्रसार ही यह अनन्त-रूपात्मक विश्व है। जैसे एक महासमुद्र अपने स्वरूपभूत जल को ही अपने अन्दर नाना तरंगों के रूप में प्रसृत करता है और वे अनन्त तरंगें अपने आधाररूप महासमुद्र संज्ञक जलसंघात से पूर्णतः अभिन्न होते हुए भी अपने तरंगरूपों में उससे तथा परस्पर एक दूसरी से भिन्न प्रतीत होती हैं उसी प्रकार सदा समरस रहने वाला एक परमशिव अपने नित्यसमरस चैतन्यस्वरूप को ही अपने अन्दर प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय आदि अनन्तरूपों में अवभासित करता है[2]। प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय आदि रूपों में अवभासित चैतन्य अपने कारणभूत परमशिव नामक महाचैतन्य से परमार्थतः अभिन्न होते हुए भी प्रमातृ-प्रमेय आदि रूपों में उससे तथा परस्पर भिन्न-भिन्न-सा आभासित होता है। तरंगरूप जल और महासमुद्ररूप जल में व्यवहारगम्य अन्तर मान लेने पर भी जैसे वस्तुतः उक्त दोनों जलरूपों में एक ही जलता प्रसृत है अर्थात् एकही जलता की समरसता उनमें विद्यमान है, वैसे ही शिव की चैतन्यस्वरूपा एक समरसता ही सबमें ओतप्रोत है, सर्वत्र उमड़ रही है। दूसरे शब्दों में, जैसे तरंगों की ऊपरी भासमान भिन्नता के मूल में सर्वत्र जलत्व की समरसता अवस्थित है, वैसे ही समस्त जीवरूपी चैतन्य-अंशों के मूल में सर्वत्र समरस शिवरूपचैतन्य की समरसता नित्यभाव से स्थित है।

इस प्रकार संविद्रूप शिव की यह समरसता अपनी नित्य अद्वैत अवस्था में द्वैत के अभाव के कारण सर्व-संबन्ध-उत्तीर्णा (अनवच्छिन्ना) होते हुए

---

१. (क) भगवान् सदा समः। —परमार्थसार टीका, पृष्ठ ८५।

(ख) अशेषविश्ववैश्वात्म्यसामरस्येन सुन्दरम्।
चिदानन्दघनं·························॥
—नेत्रतंत्र भाग १, प्रथम पटल, उपसंहार।

२. तवैवैकस्यान्तःस्फुरितमहसो बोधजलधे-
विचित्रोर्मिव्रातप्रसरणरसो यः स्वरसतः।
त एवामी ························॥
—क्रमस्तोत्र (अभिनवगुप्तकृत) श्लोक १०।

भी अपने स्वातंत्र्य से प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय आदि अनन्तरूपों में अवभासित होकर अपने प्रमाण-रूप के द्वारा प्रमाताओं और प्रमेयों का सम्बन्ध बनी हुई है। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए यों कहा जा सकता है कि समरसता अपने अभिन्न स्वरूप के अन्तर्गत ही भिन्नवत् अवभासित चैतन्य-अंशों में, पारमार्थिक अभेदता के कारण कोई सम्बन्ध न होने पर भी, प्रमाताओं और प्रमेयों का सम्बन्ध स्थापित कर देती है। उक्त प्रमाताओं और प्रमेयों का यह सम्बन्ध 'प्रमाण'रूप में विद्यमान रहता है। ये प्रमाता और प्रमेय दोनों ही चैतन्यरूपा समरसता के अन्तर्गत स्थित रहते हैं। इसी कारण इनमें उक्त प्रकार का सम्बन्ध संभव होता है। यदि ये एक ही चैतन्य के दो रूप न होकर प्रकाश और अन्धकार की भाँति भिन्न-भिन्न स्वरूप के होते अर्थात् यदि एक चैतन्य की समरसता इनमें अनुस्यूत न होती तो इनमें कभी भी सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता था[1]। सारांश यह है कि एक समरसता ही उन उन अगणित रूपों में आभासित होकर उस उस प्रकार का सम्बन्ध बनी हुई है।

एक सामरस्य को सर्वानुस्यूतता से ही प्रमातृ-प्रमेय में सम्बन्ध

समरसता के इसी सर्वानुस्यूत अद्वैत-स्वरूप का (भेद-बुद्धि से संतप्त जीवात्मा) मनु को प्रबोध कराते हुए 'कामायनी-' में कहा गया है कि समरसता ही अनन्त चैतन्यांश जीवों के रूप में अवभासित होकर विश्व में कहीं नारी तथा पुरुष का और कहीं अधिकारी तथा अधिकृत का सम्बन्ध बनी हुई है—

एक समरसता का नानारूपों में अवभासन

समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की[2]।

अतः सबके मूल में स्थित इस समरसता को हृदयंगम करना चाहिए, जिससे कि द्वैत-बुद्धि और तज्जनित दुःखों का अन्त हो सके। सबमें एक आत्म चैतन्य

---

१. If the Subject and the Object are completely cut off from each other, have exclusive and independent existence, and are of opposite nature like light and darkness, how can there be any connection between the two, which is so very necessary for the production of the phenomenon of knowledge.

—Abhinavagupta : An Historical & Philosophical Study, P. 197.

२. कामायनी, पृष्ठ १६२।

को समरसता देखने वाली उक्त अद्वैत दृष्टि ग्रहण करने पर ही व्यक्ति व्यापक सुख-बोध में लीन होकर व्यवहार-जगत् के अन्य सभी प्राणियों को सुखी करने में प्रयत्न-रत होता है। यही व्यक्ति के सुख की सीमा का विस्तार है, जिसके लिए श्रद्धा मनु को परामर्श देती है—

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ[1]।

सर्वत्र आत्मरूपता की समरसता का उपर्युक्त बोध ही स्वात्म-पूर्णता की वह आनन्दानुभूति है जिसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्तिकारिणी समरसता की ऐसी तत्त्व-दृष्टि को अपने में

समरसता से जगत् की आनन्दरूपता

दृढ़मूल करने पर मनुष्य के लिए विश्व-जीवन की दुर्बलता भी बल-तुल्य और पराजय भी विजय के हर्ष-तुल्य हो जाती है। लोक-जीवन में समरस दृष्टि के इसी आनन्द-रहस्य को प्रकट करते हुए श्रद्धा मनु से कहती है—

विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार
हँसाता रहे उसे सविलास[3]।

श्रद्धा द्वारा उपदिष्ट प्रसादजी के इन विचारों का शैवाचार्य उत्पलदेव के विचारों से अत्यधिक साम्य है। उत्पलदेव ने लिखा है कि सर्वत्र संविद्रूप समरसता का बोध हो जाने पर तो शिवरूप परमार्थप्रमाता के लिए दुःख भी सुख बन जाते हैं और संसार ही मोक्षपद का आनन्द-उत्स बन जाता है—

दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः[4]॥

कहने का तात्पर्य यह है समरसतारूप चिद्घनभूमि में अनुप्रविष्ट व्यक्ति लौकिक कर्ममय जीवन बिताते हुए भी साक्षात् शिवरूप ही होता है तथा सब कुछ अहंभाव से परामृष्ट होने के कारण लौकिक जय-पराजय, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व उसे अभिभूत नहीं कर सकते[5]। यही उपलब्धि 'गीता' के 'समत्व योग' की है।

१. कामायनी, पृष्ठ १३२।
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २७५।
३. कामायनी, पृष्ठ ५९।
४. शिवस्तोत्रावली, स्तो० २०।१२।
५. नहि चिद्घनां भूमिमनुप्रविष्टस्य द्वन्द्वाभिभवः। —वही।

वस्तुतः इन लौकिक द्वन्द्वों से अनभिभूत रहने वाला कोई सामरस्य-विश्रान्त ऋषि ही अपने कर्मण्य जीवन से देश, जाति और विश्व का कल्याण कर सकता है और ऐसा ही श्रद्धा मनु से चाहती है—

समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय[1]।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि समरसतारूपी बोध-जलधि की अनन्त चैतन्य-तरंगें ही इस विश्व के अनन्तरूपात्मक जीव हैं। नित्यसमरस शिव ही वह आनन्द-सागर है जिसमें जीवरूपी तरंगें, समरसता की सर्वानुस्यूतता के कारण, उससे अभिन्न होते हुए भी शिवेच्छा से भिन्नवत् आभासित होती हैं। परम चेतनरूपी समुद्र में भिन्नवत् आभासित उक्त जीव जब अपने सर्वानुस्यूत समरसता-स्वभाव को भूलकर उपर्युक्त बहिः उन्मिषित तरंगरूपत्व को ही 'अहं' समझते हुए माया द्वारा आपतित भेद-बुद्धि से अपने आपको अन्य समरूप चैतन्य-तरंगों (जीवों) से भिन्न मान लेता है तब उसमें अपूर्ण 'अहन्ता' का बोध उत्पन्न होता है, जैसे "मैं अपूर्ण हूँ"। उसके ऐसे परिमित बोध की संज्ञा अपूर्णंमन्यता है। इस अपूर्णंमन्यतावश वह आनन्द की स्थिति अपने से भिन्न प्रतीत होने वाले प्रमेयों में मानता है और उनके प्रति भोक्तृभाव से उन्मुख होता है, यह हम पूर्व बता चुके हैं। जब वह जीवात्मा उन बाह्य विषयों को अपने अनभिमत-रूप में पाता है अथवा उनके संयोग से पूर्ण तुष्ट नहीं होता है तब वह दुःखी होता है। समरसता की अप्रतीति के कारण ऐसे दुःखी अर्थात् दुःखपूर्ण जीवन वाले जीवों को ही श्रद्धा ने पूर्वोद्धृत पद की निम्नांकित पंक्तियों में समरसता-जलधि की व्यथा से नीली लहरें कहा है—

व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान[2]।

कामायनीगत काश्मीर शैवदर्शन के समरसता सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन को पढ़कर कुछ विद्वान् यहाँ यह आपत्ति कर सकते हैं कि कामायनी की इन पंक्तियों में काश्मीर शैवदर्शन के समरसता-सिद्धान्त को इतने सांगोपांगरूप में देखने का लेखक का दृष्टिकोण विषयपरक न होकर आत्मपरक है। किन्तु ऐसी आपत्ति युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि श्रद्धा के द्वारा सूत्ररूप में उपदिष्ट इन विचारों का जो विस्तृत उपदेश जीवन्मुक्त होने पर मनु ने अपने पुत्र 'मानव' को उपलक्षण

---

१. कामयनी, पृष्ठ ५९।
२. कामायनी, पृष्ठ ५४।

बनाकर इड़ा आदि सारस्वत प्रदेश के निवासियों को दिया है उसमें काश्मीर शैवदर्शन के सिद्धान्तों की स्पष्ट व्याख्या मिलती है—

चेतन समुद्र में जीवन
लहरों सा बिखर पड़ा है,
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना
निर्मित आकार खड़ा है[1]।

जीवन्मुक्त मनु के इस उपदेश से यह स्पष्ट है कि परमशिव या परा संवित् चैतन्य समुद्र है और उस चैतन्य समुद्र का अपने अन्दर ही जो अनन्त तरंग-रूप प्रसार है वही अनन्त प्रमातृ-प्रमेयरूप विश्व-जीवन है। यही सर्वानुस्यूत समरसता का अभेदत्व है और समरसता के अपने इस अभेदत्व में ही शिव नाना-वैचित्र्यपूर्ण जीव-जगत् का अवभासन करता है। चेतना के अभेद सागर में अनन्तरूपात्मक प्रमातृ-जीवन को 'कुछ छाप व्यक्तिगत' लिए हुई लहरों से उपमित करने का तात्पर्य यह है कि लहररूपी जीवों की उक्त 'व्यक्तिगत छाप' वह मल-तारतम्य है, जिससे अगणित जीवों के अलग-अलग प्रमातृ-स्वरूपों का वैशिष्ट्य बना रहता है। यदि इसे दार्शनिक शब्दावली में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि देह, प्राण, बुद्धि आदि में अहन्ताभिमान दृढ़ किए हुए अनन्त जीवों में से प्रत्येक जीव अपने आपको अन्य जीवों से भिन्न प्रत्यवमृष्ट कर रहा है। तंत्रालोक की टीका के अनुसार जीवों का यह भेद-प्रत्यवमर्श ही दुःख है जिससे संकुचित प्रमातृवर्ग (जीव) दुःखी है[2]। काश्मीर शैवदर्शन की इसी मान्यता के अनुसार ऊपर श्रद्धा ने समरसता की अप्रतीतिवश दुःखी जीवों को 'व्यथा से नीली लहरें' कहा है।

सामरस्य के अभेद में भेदावभास

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि 'नीली लहरें' यदि मायीय जगत् के दुःखी जीवों का प्रतीक है तो उन नीली लहरों में सुख की द्युतिमती मणियों के बिखरने का क्या अभिप्राय है ? इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है—

संकुचित प्रमाताओं के जीवन में भेद-प्रत्यवमर्श की प्ररूढ़ता के कारण सामरस्य का तिरोभाव रहते हुए भी यदा कदा सामरस्य के क्षण आते रहते हैं। तंत्रालोक में लिखा है कि किसी मधुर गीत के सुनने पर या चन्दन आदि का सुखद स्पर्श होने पर अथवा नृत्य आदि के देखने पर हृदय की तटस्थता के परिहार

१. कामायनी, पृष्ठ २८८।
२. नहि भेदात्परं दुःखम्।
—तंत्रालोक टीका, भाग ११, आ० २९, पृष्ठ १६७।

से जब गीत आदि विषय में एकतानता (एकाग्रता) आती है तब उस प्रमाता विशेष के हृदय में अर्थात् बोध में तन्मयतावश जो परिस्फुरणरूप स्पन्दमानता होती है वही शैवशास्त्रों में आनन्दशक्ति कहलाती है[1]। इसी आनन्दशक्ति में विश्रान्त योगी समरस कहलाता है[2]। इससे यह निष्कर्ष निकला कि गीत नृत्य आदि विषय में एकाग्रता के कारण जीव के बोध में तन्मयतावश जो आनन्दस्पन्दन होता है वह सामरस्य के क्षणों का आनन्द है। सामरस्यजनित ऐसे आनन्द-स्पन्दन के क्षण जीवों के 'नीली लहरों' से उपमित दुःखपूर्ण जीवन में भी जब-तब आते रहते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि जीवों के दुःखपूर्ण जीवन में जब-तब आने वाले ऐसे आनन्द-स्पन्दन के क्षण ही वे द्युतिमान मणिगण हैं जो नीली लहरों के मध्य बिखरते रहते हैं। सामरस्य के क्षणों में बिखरती हुई इन आनन्द-स्पन्दरूपी सुखमणियों के मितप्रकाश से जीवन-लहरों के मूल में स्थित महाप्रकाश (आनन्द) का भी संकेत मिलता है। किन्तु अज्ञानी जन ऐसे आनन्द-स्पन्दन के क्षणों को आत्मानंद के किंचित् प्रकाश के रूप में नहीं पहचानते। सुप्रबुद्ध जन ही आनन्द-स्पन्दन की ऐसी दशा को उस रूप में विमृष्ट करके उसकी भावना आदि के द्वारा आनन्द-विश्रान्त हो सकते हैं[3]। इस प्रकार उक्त

---

१. (क)—तथाहि मधुरे गीते
स्पर्शे वा चन्दनादिके।
माध्यस्थ्यविगमे यासौ
हृदये स्पन्दमानता।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता
यतः सहृदयो जनः॥

—तंत्रालोक भाग २-आ०३।२०९ २१०।

(ख)—इह खलु यस्य कस्यचन प्रमातुः, गीतादौ विषये यदा माध्यस्थ्यविगमः ताटस्थ्यपरिहारेण तदेकतानता, तदा येयं हृदये बोधे, स्पन्दमानता तन्मयतया परिस्फुरद्रूपता, सैवेयमानन्दशक्तिरुक्ता सर्वशास्त्रेषु। —तंत्रालोक टीका, भाग २, पृष्ठ २००।

२. आनन्दशक्ति विश्रान्तो योगी समरसो भवेत्।

—वही, पृष्ठ २९।

३. (क)—तत्र तत्र अवसरे विमृश्य सुप्रबुद्धः समाविशेत्,
अप्रबुद्धः पुनरत्र मूढ एव इति।

—विज्ञानभैरव विवृति, पृष्ठ १०२।

(ख)—आनन्दम् उद्गतमात्रमेव गृहीत्वा तद्ध्यानान्तर्मनस्कत्वेन आनन्दे एव विश्रान्तः स्यात्। —वही, पृष्ठ ६०।

चैतन्यांश (जीवनलहरों) के आधाररूप में अवस्थित पूर्णचैतन्यरूप बोधजलधि ही परमशिव है, जिसे शैवों ने आनन्द-सागर कहा है[1]। इस आनन्द-सागर शिव की स्वात्मस्वभावरूपा जो समरसता है वह इस तरह सबमें विद्यमान है, किन्तु जीवों के द्वारा विमृष्ट नहीं हो रही है। उसे पूर्णरूप में विमृष्ट करना (अनुभवप्रकाश में लाना) ही प्रत्येक जीवात्मा का चरमसाध्य है क्योंकि वही तो प्रत्येक प्राणी का आनंदमय तात्त्विक स्वभाव है। समरसता-रूप अपने इस तात्त्विक स्वभाव को अनुभव-प्रकाश में लाने के लिए, अनुभूत करने के लिए, सर्वत्र समरसता की प्रतीति परमावश्यक है। इसीलिए श्रद्धा सबकी समरसता के प्रचार का, सब में समरसता का बोध जगाने का, आग्रह करती है—

सब की समरसता का कर प्रचार,
मेरे सुत! सुन माँ की पुकार[2]।

प्राणी के समरसतारूप तात्त्विक स्वभाव की अभिव्यक्ति : अखण्ड आनन्द

समरसता की अनुभूति होने पर ही जीवन के चरमसाध्य, शाश्वत आनन्द, की उपलब्धि हो सकती है। यही वह तथ्य है जिसे आचार्य अभिनवगुप्त ने यह कहकर प्रकट किया है कि सामरस्यमय अपने यथार्थ स्वभाव में विश्रान्त होना ही महा आनन्द है[3]। नेत्रतंत्र में भी समरसीभूत मन को आनन्दपद-संलीन बताया गया है[4]।

सुख-दुःख का पारमार्थिक स्वरूप : शिव की अनुग्रहेच्छा के दो स्पन्द

इस प्रकार सर्वत्र सामरस्य की परिव्याप्ति का उपदेश देने के उपरान्त श्रद्धा मनु को सुख-दुःख के उस पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान कराती है जिसमें ये स्वयंसत्य न रहकर चिति-स्वातंत्र्य के ही स्फुरण ठहरते हैं। चिति-स्वातंत्र्य से जीवों के पूर्ण संवित्स्वभाव का जब तिरोभाव हो जाता है तब वे

---

१. अनन्तानन्दसिन्धोस्ते नाथ तत्त्वं विदन्ति ते।
—शिवस्तोत्रावली, स्तो० १।६।

२. कामायनी, पृष्ठ २४४।

३. स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम्। —परमार्थसार, श्लोक १०।

४. आनन्दपदसंलीनं
मनःसमरसीगतम्। —नेत्रतंत्र भाग १–८।४०।

मायीय सर्ग के संसारी जीव बनकर अज्ञानवश दुःखी होते हैं और चिति के ही उक्त स्वातंत्र्य से जब उन्हें अपना पूर्ण चित्स्वभाव परामृष्ट होता है तब उनका परिमितीभूत सुख विकसित होकर पुनः महा आनन्द बन जाता है। इस प्रकार प्राणी के समरसतारूप चित्स्वभाव का संकोच ही उसके दुःख का कारण है और इस संकोच-जनित भेद-बुद्धि अर्थात् विषमता के परिहार से समरसतारूप संवित्स्वभाव का पुनः पूर्ण विकास ही 'अथाह सुख' का हेतु है। वस्तुतः चिति का 'अनुग्रह' ही आनन्द के उपर्युक्त 'संकोच' और 'विकास' नामक दो रूपों में प्रकट होता है अर्थात् चैतन्य के ये संकोच और विकास (दुःख और सुख) चिति के अनुग्रह में ही होते हैं। अतः ये उसके अनुग्रह (मंगलेच्छा) से भिन्न न होकर तद्रूप ही हैं और इस कारण शैवों की आनन्दवादी अद्वैत दृष्टि में समभाव से गृहीत हैं, समभाव से आस्वाद्य हैं। कामायनीकार की दृष्टि भी शैवों की उपर्युक्त दृष्टि से भिन्न नहीं। उसके अनुसार विश्व चिति की आनन्द-लीला होने के कारण जब जीवन की प्रत्येक स्थिति में, प्रत्येक विचार और कार्य में, सर्वत्र आनन्द का ही प्रसार है[1] (क्योंकि जितनी भावनाएँ हैं उन सबका उद्गम आत्मन् ही है[2]) तब दुःख भी उससे भिन्न कहाँ रह जाता है? इसीलिए प्रसादजी ने श्रद्धा के द्वारा दुःख को भी भूमा का मधुमय दान कहा है—

यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान[3]।

और इससे यह प्रकट किया है कि जग-जीवन के सुख और दुःख दोनों में समत्व-बुद्धि अर्थात् सामरस्य की अनुभूति ही जीवन की आनन्द-दृष्टि है। कामायनी की रचना से पूर्व 'प्रतिध्वनि' में संगृहीत 'प्रलय' कहानी में भी प्रसादजी अपना यह दृष्टिकोण युवक पात्र के माध्यम से प्रकट कर चुके हैं। 'प्रलय' कहानी का 'युवक' जागतिक प्रलय को भी एक सृष्टि, 'जगत के लय की लीला', मानता है और प्रलय की भयानकता के बीच में भी आनन्द-उल्लसित है। समरसतारूप संविद्-विश्रान्ति के आनन्द के बहुत्व को व्यञ्जित करने के लिए प्रसादजी ने ऊपर उद्धृत पंक्तियों में चिति के स्थान पर औपनिषदिक शब्द 'भूमा' का प्रयोग किया है। काश्मीर शैवदर्शन में चिति शिव का ही पर्याय है और शिव को शैवों ने आनन्द-सागर कहा है, यह पूर्व कहा जा चुका है। अतः

१. इरावती, पृष्ठ १०४।
२. इन्द्रजाल ('सालवती' कहानी), पृष्ठ ११४।
३. कामायनी, श्रद्धासर्ग।

एव शिव के आनन्द-सागरत्व को अभिव्यक्त करने के लिए शिव के स्थान पर यहाँ 'भूमा' शब्द का प्रयोग सर्वथा उचित ही है क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में भूमा को ही आनन्द बतलाया है[1]। 'भूमा' को यहाँ शिव के अर्थ में प्रयुक्त मानने का एक कारण यह भी है कि उपनिषदों में सामान्यतः ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जहाँ सुख और दुःख दोनों को परमेश्वर का मधुमय दान अर्थात् अनुग्रह कहा गया हो। किन्तु काश्मीर शैवदर्शन स्पष्टरूप से सुख और दुःख दोनों को शिव का अनुग्रह मानता है। उसमें बन्धन (दुःख) और मोक्ष (सुख) आनन्दसागर शिव की अनुग्रहेच्छा के हो दो स्वरूपभूत स्पन्द हैं। जैसे सुखरूपा मुक्ति उसका अनुग्रह है वैसे ही जीवों के द्वारा दुःखरूपा मानी जाने वाली यह सृष्टि भी उसका अनुग्रह है। जीवों पर अनुग्रह करने के लिए वह विश्व-रचना करता है। तंत्रालोक में लिखा है कि भोग-इच्छुक जीवों को सुख-दुःख आदि भोगों का भोग कराने के लिए ही शिव अनुग्रहवश अघोरेशरूप से मायीय जगत् की सृष्टि करता है[2] और इस मायीय जगत् के सर्जन में शिवरूप चिति की इच्छा ही परम कारण है[3]। शैवों की भाँति प्रसादजी भी स्पष्टरूप से यह मानते हैं कि अज्ञानी जीव जिसे दुःख समझते हैं वह तो अप्रकटरूप में शिव का विश्व-कल्याणकारी अनुग्रह ही है[4]। सुख-दुःख को शिव की अनुग्रहेच्छा (मंगलेच्छा) से अभिन्न बताते हुए शैवाचार्य रामकण्ठ ने लिखा है कि सुख-दुःख शिव की इच्छा के स्फुरण हैं और पारमेश्वरी इच्छा से उसी प्रकार अभिन्न हैं जिस प्रकार किसी इच्छुक व्यक्ति की इच्छा से उसका इष्यमाण भाव अभिन्न होता है[5] अथवा सागर से तरंगें अभिन्न होती हैं। शिव की यह इच्छा उसका कल्पना-स्वातन्त्र्य है, जिससे वह प्रत्येक क्षण सुख-दुःख आदि प्रमेयों और उनके प्रमाताओं की कल्पना करता है और अपने अद्वैत-स्वरूप में ही उन्हें आभासित एवं तिरोहित करता है। इस प्रकार यह प्रमातृ-प्रमेयात्मक विश्व शिव की कल्पना-सृष्टि है[6]।

---

१. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्।
—छान्दोग्य उपनिषद्—७।२३।

२. तंत्रालोक टीका भाग ६, पृष्ठ ५६।

३. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।
—प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र २।

४. देखिए यही अध्याय, पृष्ठ १७७।

५. स्पन्दकारिका विवृति, पृष्ठ ५।

६. स्तवचिन्तामणि, श्लोक ११२।

काश्मीर शैवदर्शन के उपर्युक्त स्वातंत्र्यमूलक अद्वैत-सिद्धान्त को समझाते हुए श्रद्धा जीवात्मा मनु से कहती है कि यह दृश्यमान जगत् एवं इसके हर्ष-शोक सभी कल्पित हैं—

> यह लोचन-गोचर सकल लोक,
> संसृति के कल्पित हर्ष-शोक[1] ।

किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि श्रद्धा यहाँ इस लोक को एवं इसके हर्ष-शोक को उस अर्थ में कल्पित नहीं बता रही है जिस अर्थ में शशविषाण या आकाशकुसुम कल्पित माने जाते हैं अथवा शांकर-वेदान्त में जगत् माना जाता है। यहाँ 'कल्पित' शब्द का प्रयोग लोक-व्यवहृत अर्थ में न होकर एक व्यापक अर्थ में हुआ है। जैसे अनन्त तरंगें सागर के द्वारा सागर में ही कल्पित हैं अर्थात् अभेद में भेदवत् रचित हैं वैसे ही हर्ष-शोकमय यह समस्त लोक चितिरूप शिव के अन्तर्गत शिवेच्छा के ही द्वारा कल्पित है।

सुख दुःख शिवेच्छा-कल्पित पर असत् (मिथ्या) नहीं

प्रसादजी काशी के निवासी थे और वह नगरी उस वेदान्तदर्शन का गढ़ है जो अपने 'जगन्मिथ्यात्व' सिद्धान्त से भारत को सर्वाधिकरूप से प्रभावित किए हुए है। ऐसी दशा में इस 'लोचन-गोचर सकल लोक' और इसके हर्ष-शोक को कल्पित कहने से किसी को यहाँ मिथ्यात्वकथन की भ्रान्ति न हो जाए, इसी विचार से प्रसादजी ने विश्व को 'चिति की लीला'[2] 'चिति का नित्य स्वरूप'[3] 'चिति का विराट वपु'[4] आदि कहकर पुनः पुनः जगत् का सत्यत्व प्रकट करते हुए कामायनी में काश्मीर शैवदर्शन के स्वातंत्र्यमूलक अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की है। यहाँ शंका की जा सकती है कि प्रसादजीने कामायनी में कहीं तो 'चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्' और 'जीवनधारा सत, सतत प्रकाश' कह कर जीवन और जगत् को 'सत्' बताया है और कहीं 'यह लोचन-गोचर सकल लोक, संसृति के कल्पित हर्ष-शोक' कहकर जगत् को कल्पित बतलाया है। इस प्रकार जगत् सत्य भी है और कल्पित भी है, यह विरोध-कथन कैसे? किन्तु यह शंका सर्वथा असंगत है। इसका कारण यह है कि काश्मीर शैवदर्शन

---

१. कामायनी, दर्शन सर्ग, पृष्ठ २३५।

२. कामायनी, पृष्ठ ५३।

३. वही, पृष्ठ २४१।

४. वही, पृष्ठ २८८।

के अनुसार परमशिव अपनी परता में अक्षुण्ण रहते हुए ही अपने स्वातंत्र्य-स्वभाव से शक्तिदशा से विद्या (शुद्धविद्या) और माया दशाओं पर अवरोहण करता है और फिर मायादशा से पुनः विद्या और शक्ति दशाओं पर आरोहण करता है। उसका यह अवरोहण एवं आरोहणका-क्रम अनन्तरूपों में नित्य चलता रहता है, किन्तु यह अवरोहण-आरोहण कोई भौतिक क्रिया नहीं है। यह तो उसकी स्वात्मरूप में ही अवरोहण-आरोहण की कल्पनामात्र है। परमशिव अपने आपको ही माया-दशा के संकुचित-प्रमातृरूप में कल्पित करता है और तद्रूप में आभासित करता है। फिर वही परिगृहीतजीवभाव शिव पुनः अपने शुद्ध संवित्स्वभाव को पहचानकर परमशिवरूप हो जाता है।

उपर्युक्त आरोहण-अवरोहण को ही भगवान् शिव का स्पन्दशक्ति का उन्मेष-निमेष कहा गया है।[1] उन्मेष या बाह्यस्पन्द उसका वेद्य-विमर्श है और निमेष या आन्तर स्पन्द उसका आत्म-विमर्श है।

शिवेच्छा-कल्पित जगत् का सत्यत्व

इस प्रकार अवरोहण शिव की वेद्यकल्पना है और आरोहण उसकी आत्म-कल्पना है। आत्म-कल्पना की सत्ता पारमार्थिक सत्य है और वेद्य-कल्पना अर्थात् नामरूपात्मक भौतिक दृश्य जगत् की सत्ता संवृतिसत्य है। किन्तु यह संवृति-सत्ता भी समुद्र में तरंगों की भाँति पारमार्थिक सत्ता में ही स्थित है[2] क्योंकि अतः स्थित प्रकाश का ही तो बहिः अवभासन होता है, जैसा कि पूर्व कहा चुका है। इस प्रकार संवृतिसत्यत्व भी पारमार्थिक सत्यत्व का ही एक प्रकार है[3]। अतः जगत् शिव के द्वारा स्वात्म-रूप में कल्पित भी है और शिव में अभेदभाव से स्थित होने के कारण शिव के तुल्य सत्य भी है, परन्तु मिथ्या (असत्)कदापि नहीं। शैवाद्वैत दर्शन की इसी मान्यता के अनुसार कामायनी के 'इड़ा'सर्ग में जगत् को मिथ्या कहने वाले शांकर अद्वैत का और काम को दुःख-हेतु स्वीकार कर जीवन के परम पुरुषार्थ की, आनन्द की, सत्ता इस लोक से परे मानने वाले

---

१. स्पन्दनिर्णय।

२. चिन्मयत्वेऽवभासानामन्तरेव स्थितः सदा।
मायया भासमानानां बाह्यत्वाद् बहिरप्यसौ।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग १–१।८।७।

३. एवं च संवृतिः विकल्पबुद्धिः, तद्वशात्, उच्यतां
संवृतिसत्यत्वं सत्यत्वस्यैव तु प्रकारः तत्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ ४२

'श्रेय'-मार्गियों के सिद्धान्तों का स्पष्टरूप से विरोध करते हुए जीवात्मा मनु से कहा गया है—

'कल्याण भूमि' यह लोक यही श्रद्धा रहस्य जाने न प्रजा,
अतिचारी मिथ्या मान इसे परलोक वंचना से भर जा'[1]।

सत्य जगत् को मिथ्या मानकर परलोक-साधना में सुख-प्राप्ति की आशा से अटके रहना निश्चय ही आत्म-वंचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार

सत्य जगत् में मिथ्यात्व-दर्शन : आत्म-वंचना

जगत् को सत्य मानते हुए भी काश्मीर शैवदर्शन और उससे अनुप्राणित कामायनी का प्रतिपाद्य द्वैत न होकर अद्वैत ही है क्योंकि जगत् शिव से भिन्न न होकर उसका ही स्वरूप-स्फुरण है। जगत् आदि के रूप में सहस्रों कल्पनाएँ करता हुआ भी परमशिव निर्विकल्प है और वही एक परमसत्य है।

परमसत्तारूप शिव अपनी परिपूर्णता के विमर्श से नित्य आनन्दभरित रहता है। उसके इस आनन्द-भरित स्वभाव का उल्लासन ही यह अनन्तवैचित्र्यपूर्ण विश्व है, जिसे उसकी आनंदमयी

जगत् के सुख-दुःख : शिव की स्वातंत्र्य-लीला

स्वातंत्र्य-क्रीड़ा कहा गया है। परमशिव की उक्त स्वातंत्र्य-क्रीड़ा को प्रकट करते हुए श्रद्धा जीवात्मा को समझाती है कि यह सुख-दुःख हर्ष-शोक आदि तद्रूप में वस्तुसत्य न होकर सब उसी की स्वभाव-लीला है -

उलझन की मीठी रोक-टोक,
यह सब उसकी है नोक-झोंक[2]।

स्वात्म-पूर्णता के आनन्द-उच्छलन में अन्य-निरपेक्ष होकर रमना उसका स्वभाव है। परन्तु अपने अद्वैतस्वरूप में वह एकाकी रमे कैसे ? इसके लिए वह (शिव) अपने परिपूर्ण अद्वैतस्वरूप में ही सुख-दुःख आदि प्रमेयों और उनके प्रमाताओं की द्वैत-कल्पना करके रमता है। सामरस्यपूर्ण अद्वैत में द्वैत-कल्पना की उसकी यह क्रीड़ा ही उसके शाश्वत आनन्द का रहस्य है क्योंकि सुख-दुःख, सर्ग-प्रलय, की कल्पना में वह पूर्णतया अन्य-निरपेक्ष है। यह अन्य-निरपेक्षता ही स्वात्म-विश्रान्ति है जिसे शैवों ने आनन्द का कारण बतलाया है[3]।

---

१. कामायनी, पृष्ठ १६६। १८०
२. वही, पृष्ठ २३५।
३. देखिए यही अध्याय, पृष्ठ १९२।

क्रीड़ा-अभिनय के लिए स्वकृत 'उलझन की रोक-टोक' से उत्पन्न सुख के साथ दुःख के मधुर लगने का भी यही कारण है कि सुख-दुःख उसकी अपनी स्वाधीन कल्पना है और इन सुख-दुःख आदि के आभासन और विलापन में वह स्ववश भी है। 'कर्तुम्' 'अकर्तुम्' 'अन्यथाकर्तुम्' में जो इस प्रकार अन्य निरपेक्ष अर्थात् स्ववश है उसे ही महाभारतकार ने शाश्वत सुखी बताया है—स्ववशं तु सर्वं सुखम्।

श्रद्धा द्वारा शिव के स्वातंत्र्य-माहात्म्य का उल्लेख

परमशिव के उक्त स्वातंत्र्य-स्वभाव का माहात्म्य प्रकट करते हुए 'कामायनी' में श्रद्धा भी यही कहती है कि जीव-जगत् में दृश्यमान कहीं सृष्टि और कहीं प्रलय, कहीं दुःख और कहीं सुख, कहीं उन्नति और कहीं अवनति, कहां प्रिया-परिष्वंग और कहीं विरह-वेदना, कहीं अनुराग और कहीं विराग—

भावोदधि से किरनों के मग,
स्वाती कन से बन झरते जग,
उत्थान-पतनमय सतत सजग,
झरने झरते आलिंगित नग[1]।

यह सब उसी क्रीड़ाशील शिव के स्वातंत्र्य की 'नोक-झोंक' है। अपनी इस क्रीड़ामयी 'नोक-झोंक' से, आनंदपूर्ण नृत्य से, वह सुख-दुःख का अवभासन करता है। फिर स्वकल्पित सुख-दुःख से 'धूप-छाँह का मधुमय' खेल खेलता है। जैसे रंगमंच पर दुष्यन्त की भूमिका में अभिनय करने वाले सहृदय अभिनेता को शकुन्तला का आलिंगन करने के अभिनय में भी आनन्द आता है और शकुन्तला के वियोग में पीड़ा का अभिनय करते हुए भी सुखानुभव ही होता है,[2] वैसे ही नटराज शिव को भी अपनी सुख-कल्पना के साथ साथ दुःख-

१. कामायनी, पृष्ठ २३५।

२. अभिनेता (नट) में आनंद (आस्वाद) के इस उल्लेख से काव्यशास्त्र का कोई विद्वान् यह शंका कर सकता है कि अभिनेता में रसानुभूति मानने वाला मत तो भट्ट लोल्लट का है, अभिनवगुप्त का नहीं। ऐसी स्थिति में शैव-दर्शन को सिद्धान्त-चर्चा के प्रसंग में और अभिनवगुप्त की शैवदर्शनआधृत रसवादी व्याख्या के समर्थक प्रसाद जी के विचारों के स्पष्टीकरण में प्रस्तुत यह उदाहरण क्या अनुचित नहीं है? इसका उत्तर 'नहीं' में देते हुए अपने उपर्युक्त उदाहरण के औचित्य की पुष्टि में हमारा निवेदन है कि यद्यपि

कल्पना से भी आनन्द-प्रतीति ही होती है। इसी विचार से शिवसूत्रों में आत्मा की 'नर्तक' संज्ञा सार्थक होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'परमार्थसार' में उक्त विचार को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि इस जगद्रूपी रंगस्थल में परमशिव नट की तरह नाना प्रमातृ-भूमियों में क्रीड़ा-अभिनय करते हुए स्थित है। कामायनी में भी विश्व को मानव-कल्याण के सुन्दर कर्मों के सम्पादन का रंगस्थल कहा है—

विश्व : शिव-नर्तक का रंगस्थल

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंगस्थल है[1]।

इस विश्व-रंगस्थल में शिव के सुख-दुःख की आनन्दरूपता के रहस्य को शिशु-जीवन के एक सामान्य उदाहरण से स्पष्ट करते हुए हम यों कह सकते हैं कि जैसे गुड़ियों के खेल में बच्चों को गुड्डा-गुड्डी के विवाह के सुख की कल्पना करने में भी आनन्द का अनुभव होता है और फिर गुड्डी के मरने की कल्पना करने में तथा गुड्डा के द्वारा अपनी उस मृत गुड्डी के लिये रोने के दुःख की कल्पना करने में भी आनन्द का अनुभव होता है, वैसे ही परम-

---

अभिनवगुप्त ने अभिनेता में रस की स्थिति का उल्लेख अभिधा में नहीं किया है तथापि संभवतः लोल्लट के मत से उनका विरोध नहीं था क्योंकि डॉ० पाण्डेय के अनुसार अभिनवगुप्त ने लोल्लट के मत का स्वयं खण्डन नहीं किया। उन्होंने उसका खण्डन शंकुक की ओर से ही दिखाया है। [रस सिद्धान्तः स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ६३] अब रही बात प्रसादजी के संबन्ध में, सो उन्होंने भरत और अभिनवगुप्त के विचारों का उल्लेख करते हुए बताया है कि रसानुभूति केवल सामाजिक में ही नहीं प्रत्युत नट में भी होती है—क्योंकि अन्यमनस्क होने पर विषयोंसे उसका सम्बन्ध ही छूट जाता है। फिर तो क्षिप्रं संजातरोमाञ्चा वाष्पेणावृतलोचना, कुर्वीत नर्तकी हर्षप्रीत्या वाक्यैश्च सस्मितैः (२६-५०) इन रोमाञ्च आदि सात्विक अनुभावों का पूर्ण अभिनय असंभव है। भरत ने तो और भी स्पष्ट कहा है—एवं बुद्धः परं भावं सोऽस्मीति मनसा स्मरन्। वागङ्गलीलागतिभिश्चेष्टाभिश्च समाचरेत्। (३५-१४) तब यह मान लेना पड़ेगा कि रसानुभूति केवल सामाजिकों में ही नहीं प्रत्युत नटों में भी है। [काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ८३]

१. कामायनी, पृष्ठ ७५।

विश्व-रंगस्थल में शिव को सुख : दुःख कल्पना : उसका आनन्द-विनोदन

शिव सुख की कल्पना से भी आनन्दित होता है और दुःख की कल्पना से भी आनन्दित होता है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि सुख की कल्पना से तो आनन्द की अनुभूति होना स्वाभाविक है, किन्तु दुःख की कल्पना से भी आनन्द की ही अनुभूति क्यों होती है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है।

गुड्डी के मरने और उसके लिये गुड्डा के रोने के दुःख की कल्पना करते हुए भी उक्त खिलाड़ी बच्चों का वह 'तत्त्व-बोध' विलुप्त नहीं होता, जिसमें

दुःख की कल्पना से आनन्द को प्रतीति का रहस्य : तत्त्व-बोध की दृढ़ता

वे यह जानते हैं कि गुड्डी वस्तुतः मरी नहीं है, मरने की तो हम कल्पनामात्र कर रहे हैं। अतः तत्त्व-बोध में स्थित रह कर कर्म करते रहने से, अपनी कल्पना को कल्पनामात्र समझते रहने से, उन्हें दुःख की कल्पना से भी आनन्द की ही प्रतीति होती है। यदि किसी कारण से उनकी वह कल्पना, कल्पनामात्र न रहकर यथार्थ प्रतीति के रूप उन्हें प्रत्यव-मृष्ट होने लगे तो दुःख की उपर्युक्त कल्पना से उन्हें सुखानुभूति न होकर वस्तुतः दुःखानुभूति ही होगी। उपर्युक्त विवेचन से परमशिव के सम्बन्ध में भी यही समझा जा सकता है कि वह अपनी परमार्थ-दृष्टि में दृढ़ रहते हुए सुख-दुःख की अपनी कल्पना को कल्पना ही समझता रहता है। अतः बन्धन-रूप दुःख की कल्पना से भी उसे सुख ही होता है, किन्तु जब प्रमातृ-विशेष की भूमिका में स्थित होने पर अज्ञानवश उसकी वह उक्त कल्पना यथार्थतः बन्धन प्रतीत होने लगती है तब उससे वह सुख के स्थान पर दुःख का ही ग्रहण करता है। वस्तुतः शिव की सुख-दुःख की कल्पना उसके आत्म-विनोदन की कल्पना है और इस आत्मविनोदन की कल्पना की तद्रूप प्रतीति उसके लिए दुःख का कारण न होकर केवल आनन्द का ही कारण होती है। संक्षेप में, जैसे एक शिशु बालिका एकाकी ही उपर्युक्त प्रकार की सुख-दुःख की कल्पनाओं से खेल का आनन्द लेती है वैसे चिति अपने अद्वयस्वरूप में ही सुख-दुःख की स्वकल्पित मधुमय धूप-छाँह से आनन्द-खेल खेलती है—

सुख दुख का मधुमय धूप-छाँह[1]।

स्वात्म-भित्ति पर कभी वह जगत् का उन्मीलन करती है और कभी निमी-लन। जगद् के उन्मीलन से अनन्त प्रमाताओं और प्रमेयों का उन्मेष होता है,

१. कामायनी, पृष्ठ २४१।

जिसे हम 'सृष्टि' कहते हैं और जगत् के निमीलन से बाह्य आभासों की जीव-लहरों के पुनः संवित्-सागर में लयीकरण को हम काल-कलना के भेदज्ञान से 'प्रलय' संज्ञा से अभिहित करते हैं। मिताभासों में (देह, प्राण, बुद्धि आदि में) अहन्ताभिमानी जीव उन आभासों के उन्मीलन पर अपना जन्म और उनके निमीलन पर अपनी मृत्यु समझ लेता है और तदनुकूल सुखी एवं दुःखी होता है। यही कारण है कि देह-अनन्ताभिमानी जीव मनु देव-सृष्टि के बाह्य आभासों के चिति में निमीलित होनेपर उन्हें विनष्ट हुआ समझकर दुःखी होता है। किन्तु शिव को ऐसी सुख-दुःख की प्रतीति नहीं होती क्योंकि वह तो उस इन्द्रजालिक के तुल्य है जो अपने कर्तृत्व-स्वभाव के आनन्द में सदा स्थित रहता है। जैसे कोई इन्द्रजालिक न तो अपने इन्द्रजाल-प्रपंचके उदय से हर्षित होता है और न उसके अस्त से दुखित होता है वैसे ही अपने कर्तृत्वस्वभाव के स्वातंत्र्य में स्पन्दमान परमशिव न तो स्वेच्छावश अपने अन्दर अवभासित होने वाली प्रमातृ-प्रमेयात्मक जगत् की सृष्टि से हर्षित होता है और न उसकी विनष्टि(प्रलय)[1] से दुखित होता है क्योंकि वह स्वयं ही तो उनका स्वतंत्र कर्ता है[2]। अतः अपनी ही इच्छा से अपने अन्दर आभासित और तिरोहित अर्थात् सृष्ट और संहृत (जात एवं मृत) मिताभासों से वह कैसे व्यामोहित हो सकता है? सुख-

अपने कर्तृत्व-स्वभाव के विमर्श में स्थित शिव की विश्व के सृष्टि-प्रलय-जन्य सुख-दुख से स्वतन्त्रता

दुःखरूप व्यामोह तो उसे होता है जो सृष्टि (जन्म) और प्रलय (मरण) के मिताभासों को आत्मरूप की क्रीड़ा न समझ कर अपनी अल्पज्ञता से तत्त्वतः वैसा समझता है। किन्तु शिव के साथ ऐसी बात नहीं है क्योंकि सृष्टि-प्रलय की सुख-दुःखमयी कल्पना उसकी अपनी जगत्क्रीड़ा है और अपनी क्रीड़ा के रूप में ही उसे वह परामृष्ट होती है। अतः वह उसके लिए दुःखकारक न होकर आनन्दकारक ही है।

शिव की इसी उन्मेष-निमेषमयी विश्वात्मक क्रीड़ा के वैविध्य को प्रकट करते हुए श्रद्धा जीवात्माओं को समझाती है कि शिव की उस स्वातंत्र्य-क्रीड़ा

शिव की विश्वात्मक क्रीड़ा का वैविध्य

में कभी उषा की रक्तिम आभा में जग जगता है और कभी तमी का तमजाल ओढ़कर निद्रा-मग्न होता है, कभी तारकदल खिलकर

१. प्रलय भी उसकी लीला ही है—"यहीं से यह (प्रलय) लीला देखेंगे।"
—'प्रलय' कहानी।

२. स्वतन्त्रः कर्ता स्वशक्त्यैव स्वभित्तौ सर्वमाभासयतीत्यर्थः।
—स्वच्छन्दतन्त्र टीका, भाग ६, पृष्ठ ३।

निशारानी का रूप खिलाते हैं और कभी झड़ कर उसे शोभाविहीन कर जाते हैं, कभी जन्म-उल्लास होता है और मरण-विषाद, कभी उन्नति से उत्साह होता है और कभी अवनति से खिन्नता—

जग, जगता आँखें किये लाल,
सोता ओढ़े तम नींद-जाल
सुरधनु-सा अपना रंग बदल,
मृति, संसृति, नति, उन्नति में ढल,
अपनी सुषमा में यह झलमल,
इस पर खिलता झरता उडु-दल[1] ।

अपनी स्वरूपभूता सुषमा (चितिरूपत्व) में नित्य 'झलमल' रहते हुए भी अनन्त आभासों के संयोजन और वियोजन से 'मृति, संसृति, नति, उन्नति' आदि के रूप में अवभासित होता हुआ यह जगत् सुरधनु की भाँति रूप बदलता हुआ अर्थात् परिवर्तनमय दिखाई पड़ता है—

परिवर्तनमय यह चिर मंगल[2] ।

जगत् में अवभासित होने वाला यह परिवर्तन चिति के चिर मंगलरूप जगत् के तात्त्विक स्वरूप के परिवर्तन का द्योतक न होकर अनन्त आभासों के संयोग में होने वाला परिवर्तन है, जिसकी चर्चा पूर्व की जा चुकी है। आभासों के संयोजन में होने वाला उक्त परिवर्तन चिति की इच्छा पर निर्भर है। इसे स्पष्ट करते हुए कश्मीर के शैवागम-ग्रन्थों में कहा गया है कि चिति अपनी इच्छामात्र से ही अपने अन्दर विश्व के अनन्त आभासों का परिवर्तन करती रहती है[3] ।

सामरस्य-विश्रान्त शिवयोगी को सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से अनभिभूतता एवं उसके लिए जगद्-व्यवहार की आनन्द-रूपता

चिति के इस जगद्रूप क्रीड़ा-वैचित्र्य में अज्ञानी जीव सर्वत्र समरसता के स्थान पर अपने भेद-विमर्श के कारण कहीं अनुकूलता और कहीं प्रतिकूलता का अनुभव करते हैं। अनुकूलता और प्रतिकूलता का उक्त भेद-विमर्श ही उनके सुख दुःख, उन्नति-अवनति आदि द्वन्द्व-अभिभव का कारण है। जीवों की इस मितप्रतीति के विपरीत जहाँ तक सामरस्य-विश्रान्त ज्ञानी का प्रश्न है, उसे तो इस

१. कामायनी, दर्शन सर्ग, पृष्ठ २३५ ।
२. कामायनी, पृष्ठ २३६ ।
३. कलादिक्षितिपर्यन्तमेतत्संसारमण्डलम् ।
समुद्रादि जगत्कृत्स्नं परिवर्तयतीच्छया ॥
— मालिनीविजयोत्तर तंत्र अधि० १।३३ ।

वैविध्यपूर्ण जगद्-व्यवहार में भी सर्वत्र चिति-क्रीड़ा के सामरस्य की ही आनन्दानुभूति होती है ।अतः वह जगद्-व्यवहार करते हुए भी अल्पज्ञ जीवों की भाँति जगत् के मृति-संसृति, अवनति-उन्नतिरूप मिताभासों से व्यामोहित (कभी सुखी और कभी दुःखी) न होकर सदैव समरसतागत आनन्द-परामर्श में ही प्ररूढ़ रहता है। यही कारण है कि संसृति-मृति, उन्नति-अवनति जैसे मिताभासों से युक्त यह जगत् उसे दुःखमय प्रतीत न होकर 'अवकाश सरोवर के मराल' की भाँति अत्यन्त सुन्दर ही प्रतीत होता है—

अवकाश सरोवर का मराल,
कितना सुन्दर कितना विशाल[1] ।

यहाँ जगत् को 'अवकाश सरोवर का मराल' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि सरोवर का मराल जिस प्रकार सरोवर में ही स्थित रहता है उसी प्रकार यह जगत् अवकाश-स्वरूप चिदात्मा में ही स्थित है। यहाँ 'सरोवर के मराल से तात्पर्य सरोवर में विद्यमान रहने वाले मराल से है, उससे पृथक् रहने वाले मराल से नहीं, क्योंकि उससे पृथक् रहने पर तो वह मराल' 'सरोवर का मराल' न रहकर 'मरालसामान्य' हो जायगा। चिदात्मा के लिए यहाँ 'अवकाश' का प्रयोग भी साभिप्राय प्रतीत होता है क्योंकि 'अवकाश' की सर्वव्यापकता से चिदात्मा की सर्वव्यापकता शीघ्र बोधगम्य हो जाती है। इस दार्शनिक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त एक अन्य तथ्य भी उपर्युक्त वर्णन के द्वारा हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है जो इस प्रकार है—

'सरोवर का मराल' जिस प्रकार सरोवर से पृथक् विद्यमान नहीं रहता उसी प्रकार यह जगत् भी चिदात्मा से पृथक् नहीं तथा मराल में होने वाले सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर एवं स्थूलता-कृशता आदि बाह्य परिवर्तनों से जैसे सरोवर असम्पृक्त रहता है वैसे ही जगदाभास के जन्म-मरण, उन्नति-अवनति आदि परिवर्तनों से चिदात्मा असम्पृक्त रहता है[2]। जगत् को अपने अन्दर आभासित करके भी चिदात्मा जगत् के परिवर्तनों से असम्पृक्त ही रहता है,

---

१. कामायनी, पृष्ठ २३५ ।

२. एवं जातो मृतोऽस्मीति
जन्ममृत्युविचित्रताः ।
अजन्मन्यमृतौ भान्ति
चित्तभित्तौ स्वनिर्मिताः ॥

—तंत्रालोक, भाग ७ आ० ११।१०३ ।

यही काश्मीर शैवदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है,[1] जिसे प्रसादजी यहाँ प्रकट करना चाहते हैं।

सामरस्य-विश्रान्त के लिए विश्व : एक आनन्दनीड़

आभासमान जगत् को सुन्दररूप में देखनेवाले जिस सामरस्य-विश्रान्त ज्ञानी का ऊपर विवेचन किया गया है उसे इस जगत् के संसृति-संहृति, सुख-दुःख, उन्नति-अवनति आदि सभी भाव 'मुसक्याते' हुए प्रतीत होते हैं और सर्वत्र उल्लास-दर्शन से यह जगत् ही उसके लिए आनन्द-नीड़ बन जाता है, इसे स्पष्ट करते हुए श्रद्धा कहती है—

मुसक्याते इसमें भाव सकल,
हँसता है इसमें कोलाहल,
उल्लास भरा-सा अन्तस्तल,
मेरा निवास अति मधुर कान्ति,
यह एक नीड़ है सुखद शान्ति[2]।

इसका कारण यह है कि समरसता-प्राप्त ऐसा शिवयोगी जगत् को अपने स्वातन्त्र्य-स्फुरण के रूप में देखता है और अपने स्वातन्त्र्य-स्फुरण अर्थात् आत्म-शक्ति के रूप में देखने पर जगत् के प्रत्येक व्यवहार में उसे अनन्त सौन्दर्य और अगाध आनन्द की ही प्रतीति होती है—

इसके स्तर-स्तर में मौन शान्ति[3]।

यहाँ यह स्मरणीय है कि उक्त 'मौन शान्ति' निर्विमर्श सुषुप्ति की-सी जाड्य स्थिति नहीं है। 'मौन शान्ति' यहाँ स्वात्म-विश्रान्ति के अनन्योन्मुख वेद्यशून्य आनन्द के अर्थ में प्रयुक्त है। इसी कारण प्रसादजी ने उपर्युक्त छन्द की पूर्व पंक्ति में जगत् के स्तर-स्तर में मौन शान्ति का उल्लेख करके उसी छन्द की अन्तिम पंक्ति में 'मौन शान्ति' के स्थान पर 'सुखद शान्ति' का प्रयोग किया है—

---

१. मणाविन्द्रायुधे भास
इव नीलादयः शिवे।
परमार्थत एषां तु
नोदयो न व्ययः क्वचित्॥ - तंत्रालोक, आ० ११।११०।

२, कामायनी, पृष्ठ २३६।

३. कामायनी, पृष्ठ २३६।

'यह एक नीड़ है सुखद शान्ति' शान्ति का 'सुखद' विशेषण क्षोभशून्य 'परा-स्थिति' के विमर्शरूप सुख (आनन्द) का परिचायक है। जगत् के स्तर-स्तर में आनन्दरूप मौन शान्ति का अनुभव करने वाली कामायनीकार की यह विचारधारा काश्मीर शैवदर्शन से भिन्न नहीं है क्योंकि उक्त दर्शन के अनुसार यह जगत् तत्त्वतः आनन्दरूप ही है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए वहाँ कहा गया है विश्व शिव की शक्ति है[1] और शक्ति से अभिन्न शिव ही आनन्दसागर है[2]। अतएव ज्ञानी को समरसता की तत्त्व-दृष्टि से जगत् में सर्वत्र आनन्द-रूपता का ही दर्शन होता है[3]। किन्तु जिन्हें ऐसा विमर्श नहीं होता वे अज्ञानी हैं और अज्ञानवश जगत् में 'दुःख की आँधी' और 'पीड़ा की लहरी उठती' हुई बतला-कर[4] जगत् की आनन्दपूर्ण शीतलता में दुःख की ताप-कल्पना करना स्पष्टतः उनकी भ्रान्ति है—

है ताप-भ्रान्ति[5] ।

इस प्रकार श्रद्धा अपने तत्त्वोपदेश के द्वारा जीवों के सम्मुख यह स्पष्ट कर देती है कि भेद-बुद्धि त्याग कर समरसता के अद्वैत-विमर्श से जगत् को सत्य एवं चिति की क्रीड़ा मानते हुए, स्वात्म-पूर्णता के विमर्श में दृढ़ होना चाहिए और तदुपरान्त सुख-दुःख को जीवन-दिन की स्वाभाविक धूप-छाँह अनुभव करते हुए जीवन को खेलमात्र समझकर एवं इस खेल का आनन्द लेते हुए ही आयु बिताना जीवन-सौन्दर्य है और यही लोक-यात्रा पूरी करने की सरल राह है जिसे छोड़कर अज्ञानी अपने आनन्दमय जीवन को दुःखमय बना लेता है—

जीवन-धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह,
सुख दुख का मधुमय धूप छाँह,
तूने छोड़ी यह सरल राह[6] ।

---

१. तंत्रालोक टीका, भाग १, पृष्ठ १५५ ।
२. देवमानन्दसागरम् । —स्तवचिन्तामणि, श्लोक ६१ ।
३. शिवशक्तिसामरस्यमयजगदानन्दरूपमित्यर्थः ।
—तंत्रालोक टीका, भाग ११, आ० २९, पृष्ठ ८४ ।
४. देखिए यही प्रबन्ध अध्याय ६, पृ० १५७ ।
५. कामायनी, पृष्ठ २३६ ।
६. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २४१ ।

यही काश्मीर शैवदर्शन की स्वस्थ जीवन-दृष्टि है जिसे अपनाकर मानवता कृतकृत्य हो सकती है। काश्मीर शैवदर्शन की उपर्युक्त पूर्ण जीवन-दृष्टि को स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर डा० गोपीनाथ जी कविराज ने लिखा है कि—

जीवन की सार्थकता

जगत् का त्याग करके नहीं वरं उसको ब्रह्म-शक्ति और उसके विकास-रूप में अनुभव करने, आलिंगन करने से ही जीवन की सार्थकता संभव हो सकती है[1]।

जीवन की इसी सार्थकता के हेतु प्रसादजी ने श्रद्धा के द्वारा जीवात्मा मनु को काश्मीर शैवदर्शन का वह तत्त्वोपदेश दिलाया है जिसके अन्तर्गत जगत् का त्याग विधेय न होकर उसका आत्म-शक्ति के रूप में ग्रहण ही विधेय है।

श्रद्धा के द्वारा मनु को दिया गया शैवाद्वैत दर्शन का उपर्युक्त उपदेश कहीं-कहीं साक्षात् मनु के समक्ष कथित न होकर इड़ा या मनुपुत्र 'मानव' को दिये गये उपदेश के रूप में प्रकट हुआ है। यहाँ कुछ विद्वान यह शंका कर सकते हैं कि श्रद्धा के द्वारा इड़ा या मानव को उपदिष्ट सुख-दुःख आदि का तत्त्व-परिज्ञान मनु के लिए उपदिष्ट कैसे कहा गया ? किन्तु उनकी ऐसी शङ्का निर्मूल है क्योंकि कामायनी एक गद्यरचना न होकर छन्दोबद्ध पद्य रचना है और मूलतः एक सरस काव्यकृति है, दर्शन का सिद्धान्त-ग्रन्थ नहीं है। ऐसी अवस्थामें काव्य की आत्मा रस और उसकी चारु अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को सर्वोपरि रखते हुए पात्र-विशेष से सम्बन्धित सब दार्शनिक विचारों को एक ही स्थान, एक ही अवसर और एक ही प्रसंग में स्वच्छन्दतापूर्वक काव्य-निबद्ध कर सकना न केवल दुष्कर ही है अपितु काव्य को विचार-बोझिल, कल्पना-कृश, कुतूहल-कुण्ठित और सबसे अधिक रस-रिक्त कर देने के विचार से अवांछित भी है, प्रसादजी जैसे काव्य-मर्मज्ञ इस बात से अनभिज्ञ न थे। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इड़ा भी तो मनु की ही भाँति एक संसारी जीव है। अतः मनु को उपदिष्ट की जाने वाली कुछ बातें यदि मनु के सम्मुख कथित न होकर इड़ा के सम्मुख या आगे-पीछे अभिव्यक्त हो गई हैं तो इस प्रतीयमान बाह्य असंगति से कामायनीगत आन्तरिक संगति को कोई हानि नहीं पहुँचती है और एक शोध-कर्ता के नाते इस बाह्य असंगति के अन्तस् में स्थित आन्तरिक संगति को खोज निकलना हमारा परम कर्तव्य हो जाता है। आन्तरिक संगति के अन्वेषण सम्बन्धी हमारे ऐसे कर्तव्य का आधार यह है कि श्रद्धा के द्वारा शैवाद्वैत दर्शन का उपदेश मूलतः मनु को ही लक्ष्य करके दिया गया है। यही कारण है

१. कल्याण-शिवाङ्क।

कि श्रद्धा के उपदेश आदि से केवल मनु ही जीवन्मुक्त होता है, इड़ा या 'मानव' की मुक्ति श्रद्धा के उपदेश से न होकर सामरस्य-विश्रान्त शिवयोगी मनु के उपदेशानुग्रह से होती है, जिसकी विशेष चर्चा ११ वें अध्याय में की जायगी। इस प्रकार श्रद्धा के द्वारा उपदिष्ट शैवाद्वैत दर्शन के तत्त्व-ज्ञान को सर्वत्र मनु के लिए उपदिष्ट कहना सर्वथा युक्तिसंगत ही है।

इस प्रकार श्रद्धा के द्वारा जीवात्मा मनु को शैवाद्वैत दर्शन के तत्त्वोपदेश से जीवन की अखण्ड आनन्द-रूपता का रहस्य समझाने के उपरान्त 'काम' मनु को श्रद्धा द्वारा उपदिष्ट शैवाद्वैत की तत्त्व-दृष्टि में दृढ़ करने के लिए उसे अपनी अज्ञात वाणी से श्रद्धा के अनुग्रहशक्तित्व का परिज्ञान कराता है, क्योंकि लौकिक जीवन (मायीय जगत्) में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि उपदेशक के व्यक्तित्व के महत्त्व के पीछे ही उसके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान का महत्त्व आँका जाता है और तदनुसार ही संसारी जन उसके उस ज्ञान के प्रति आस्था या अनास्था प्रकट करते हैं। जब तक कोई उपदेशक अपरिज्ञातव्यक्तित्व बना रहता है तब तक उसके कल्याणकारी तत्त्व-ज्ञान को सुनकर भी अज्ञानी जन तूलवत् उड़ा देते हैं क्योंकि अज्ञानी जीवों की बुद्धि मूर्त व्यक्तित्व से रहित अमूर्त ज्ञानमात्र पर सहज ही दृढ़ नहीं हो पाती। अज्ञानी जीवों की इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य करके 'काम' जीवात्मा मनु को शैवाद्वैत दर्शन की उपदेष्ट्री श्रद्धा के अनुग्रहशक्तित्व का परिज्ञान कराते हुए कहता है कि जिसकी स्वातन्त्र्य-लीला का विकास यह अनन्तरूपात्मक विश्व है उस विश्व-उन्मेषकारिणी 'मूलशक्ति' की संज्ञा 'प्रेमकला' है[1]।

विश्व-लीला का विकास करने वाली मूलशक्ति को 'प्रेमकला'कह कर प्रसादजी ने यहाँ दो बातों की ओर संकेत किया है। प्रथम यह कि 'प्रेमकला' का प्रयोग यहाँ भगवान् शिव की विसर्गशक्ति के अर्थ में किया गया है। उनके ऐसे अभिप्राय की व्यञ्जना 'रहस्यवाद' निबन्ध में व्यक्त उनके उस मत से हो जाती है जिसमें उन्होंने सृष्टि के उद्गम में काम के व्यापक प्रभाव का उल्लेख करते हुए 'प्रेम' को प्राचीन वैदिक 'काम' का रूप माना है। 'प्रेम' के व्यापक रूप का समर्थन 'विज्ञानभैरव' की विवृति[2] में प्राप्त 'प्रेमैव ब्रह्म केवलम्' इस उद्धरण से होता भी है। पञ्चस्तवी का मत उद्धृत करते हुए स्वयं प्रसादजी ने भी ब्रह्म को प्रेमरूप स्वीकार किया है —

१. कामायनी, पृष्ठ ७६।
२. पृष्ठ ११७।

"कहीं अंग्रेजी में उन्होंने देखा कि 'गाड इज लव'। फिर क्या ! कहीं भी हिन्दी में ईश्वर के प्रेम-रूप का वर्णन देखकर उन्हें अंग्रेजी के अनुवाद या अनुकरण की घोषणा करनी पड़ती है। उन्हें क्या मालूम कि प्रसिद्ध वेदान्त-ग्रंन्थ पञ्चदशी में कहा है अयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः[१]।"

इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि 'प्रेम' (परमप्रेम) 'आनन्द' (परम आनन्द) का पर्यायवाची है। 'प्रेमकला' का 'कला' शब्द पूर्ण शक्ति की ही दूसरी संज्ञा है। 'कामकलाविलास' में पूर्णकाम शिव की आनन्दशक्ति किंवा विसर्गशक्ति को 'कामकला' कहकर 'कला' को व्यापक शक्ति के ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है[२]। इस प्रकार 'प्रेमकला' का प्रयोग यहाँ विसर्गशक्ति के लिए ही हुआ है। विसर्गशक्ति को ही शैवागम तथा वेदान्त में सृष्टि का कारण माना गया है—

विसर्गशक्तिर्विश्वस्य
कारणं च निरूपिता।
ऐतरेयारव्यवेदान्ते
परमेशेन विस्तरात्[३]॥

और इसी को कामतत्त्व कहा गया है[४]। अतः यही विश्व-लीलाकारिणी मूलशक्ति है जिसकी आनन्द-लीला को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने उसे आनन्द-भैरवी कहा है—

उदयावभासचर्वणलीलां विश्वस्य या करोत्यनिशम्।
आनन्दभैरवीं तां विमर्शरूपामहं वन्दे[५]॥

उसी की लीला का विकास यह विश्व है—'यह लीला जिसकी विकस चली'। कामायनीतर ग्रंन्थों में भी प्रसादजी ने आनन्द को ही विश्व के विकास का रहस्य माना है और कहा है कि "उसके (आनन्द के) अन्यथाभाव में तो वह 'विकास' न होकर दूसरा ही कुछ होता"[६]।

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३०।
२. कामकलाविलासटीका, पृष्ठ ११।
३. तंत्रालोक भाग २–आ० ३।२२६।
४. अतएव विसर्गोऽयमव्यक्तहकलात्मकः।
कामतत्त्वमिति श्रीमत्कुलगुह्वर उच्यते॥—तंत्रालोक भाग २–३।१४६।
५. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, स्तो० ५।
६. एक घूंट, द्वितीय सं०, पृष्ठ १७।

दूसरी बात यह है कि विमर्शरूपा आनन्दशक्ति का विकास या प्रसार होने के कारण यह विश्व भी आनन्दरूप है और उससे अभिन्न है। प्रसादजी की यह विचारधारा स्पष्टतया आगम-अनुयायी कश्मीर के शैवों की विचारधारा से मेल खाती है क्योंकि काश्मीर शैवदर्शन में इस संपूर्ण विश्व को पारमेश्वरी आनन्दशक्ति का विकास बताते हुए सागर से तरंगवत् उससे अभिन्न माना है[१]। जैसे अनन्त तरंगें सागर का स्वरूप है अर्थात् उसका अभिन्न विकास है वैसे ही यह समस्त विश्व भी उस शक्ति का अभिन्न विकास है। यह आनन्दशक्ति या प्रेमकला परमेश्वर का स्वातंत्र्य-स्वभाव है जिससे वह अपने अन्तर्गत ही विश्व के उन्मेष-निमेष की लीला करता है[२]। स्वेच्छामात्र से अपने अन्दर विश्व के उन्मेष-निमेष की ऐसी आनन्द-लीला करना उसकी परमेश्वरता है जिसका स्तवन करते हुए शैवाचार्य उत्पलदेव ने कहा है—

परमेश्वरता जयत्यपूर्वा तव सर्वेश यदीशितव्यशून्या[३]।

परमेश्वर की यह परमेश्वरता ही उसका आनन्द है और यह आनन्द ही उसकी शिवता है। इसी कारण शिवता को प्राधान्य देकर कुछ शैवाचार्यों ने शक्ति को ही मूल सत्ता या परतत्त्व माना है[४]। 'काम' के द्वारा यहाँ शक्ति को प्राधान्य देने का कारण यह है कि वह मनु को उसके शिवत्व का प्रत्यभिज्ञान कराना चाहता है। शिवत्व के प्रत्यभिज्ञान की साधना में शैवों ने शक्ति को ही मूल सम्बल बताया है। परमेश्वर भी अपनी शक्ति को सम्यक् रूप से जानकर (विमृष्टकरके) ही स्व-स्वरूप को प्राप्त होता है, इस बात का स्पष्ट उल्लेख शैव-ग्रन्थों में है[५]।

---

१. आनन्दशक्तिः सैवोक्ता
यतो विश्वं विसृज्यते। — तंत्रालोक २–आ० ३।६८।

२. परिपूर्णत्वेन फलानभिलाषात् लीलया स्वतंत्रक्रीडयैव
सर्वं स्थावरजंगमं जगत् जीवात्मकं निर्मिमीते।
—स्वच्छन्द तंत्र भाग ३, पृष्ठ ४।

३. शिवस्तोत्रावली, स्तो० १६।३०।

४. यस्या निरुपाधिज्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया।
व्यपदेशः परां तां त्वामम्बां नित्यमुपास्महे॥
— शिवदृष्टिवृत्ति, आ० ३, पृष्ठ ९४।

५. परमेश्वरोऽपि स्वाधीनभूतां स्वात्मशक्तिं
सम्यक् अवलोक्य स्वस्वरूपम् अवगच्छिति।
—कामकलाविलास टीका, पृष्ठ ४।

मूलशक्ति को 'प्रेमकला' और विश्व को उसकी आनन्द-लीला का विकास बतलाकर 'काम' मनु को श्रद्धा के शक्तित्व का अभिज्ञान कराते हुए कहता है कि चिति की आनन्द-लीला एवं समरसता की सर्वव्याप्ति आदि का जो अद्वैतोपदेश श्रद्धा ने अभी तुम्हें दिया है वह उसी विश्व-लीलाकारिणी मूलशक्ति का लोक-कल्याणकारी संदेश है जिसे लेकर श्रद्धा जीवों के अनुग्रहार्थ इस संसृति में अवतीर्ण हुई है—

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूलशक्ति थी प्रेमकला,
उसका संदेश सुनाने को
संसृति में आई वह अमला[1]।

श्रद्धा को प्रेमकला (आनन्दशक्ति) का संदेश लेकर लोकानुग्रहवश संसृति में अवतीर्ण हुई बताकर तथा उसे अमला अर्थात् आणव आदि सभी मलों से उत्तीर्णा, शुद्ध स्वातंत्र्यस्वभावा, कहकर प्रसादजी ने यहाँ स्पष्टतया श्रद्धा के अनुग्रह-शक्तित्व को व्यक्त किया है। प्रसादजी के ये विचार संभवतः स्वच्छन्द तंत्र से प्रभावित हैं क्योंकि वहाँ लिखा है कि शरीर, इन्द्रिय आदि सम्बन्धी अहन्ताभिमान से रहित (अमला) भगवती पराशक्ति ही लोकों के अनुग्रहार्थ इस भूतल पर अवतीर्ण होती है और अपने लोकानुग्रहकारी स्वभाव के कारण वही अनुग्रहशक्ति कहलाती है[2]। भगवती 'कामकला' (प्रेम-कला) का अभेद सामरस्यात्मक आनन्दवादी संदेश सुनाने के लिए और तद्रूपेण जीवों पर अनुग्रह करने के लिये संसृति में अवतीर्ण हुई श्रद्धा के कामायनी-निरूपित स्वरूप से भी यही प्रकट होता है कि वह शुद्ध चैतन्य-स्वभावा शक्ति है—

श्रद्धा : पारमेश्वरी अनुग्रहशक्ति

जिसमें चेतनता ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान[3]।

मनु जैसे संसारी जीवों को स्वरूप-ज्ञान का आनन्द-लाभ कराने के लिए श्रद्धा

१. कामायनी, पृष्ठ ७६।

२. न च तत्र असौ केवलमनुग्रहपरा स्थिता
यावत्
अनुग्रहार्थं लोकानां प्रादुर्भूता सनातनी।
सनातनी नित्यं पुंसामनुग्रहार्थं प्रपंचव्याप्त्या नानानामाकृतिरूपा प्रादुर्भूता व्यक्तिं गतेत्यर्थः। —स्वच्छन्दतंत्र, भाग ५ब, पटल१०, पृष्ठ ४०८।

३. कामायनी, पृष्ठ १६३।

ने 'कामायनी' में आनन्दवादी शैवाद्वैत दर्शन का जो उपदेश दिया है उससे भी उसका अनुग्रहशक्तित्व प्रकट होता है। पराशक्ति का अवतार (व्यक्त रूप) होने के कारण ही अनवच्छिन्न-स्वभावा (अमला) श्रद्धा समस्त विश्व को अपना गृह समझती है[1] तथा सुख-दुख को परमेश्वर की स्वातंत्र्य-लीला को 'मधुमय रोक-टोक' कहती है[2] और ऐसे परिपूर्ण विमर्शवश ही विश्व में अगाध आनन्द की सत्ता बतलाकर उसे शान्ति का 'सुखद नीड़' कहती है, जैसा कि पूर्व प्रकट किया जा चुका है। वस्तुतः जब सब कुछ चितिमय ही है और उससे भिन्न दूसरे की सत्ता ही नहीं तब द्वैत के अभाव में क्षोभ का भी अभाव ही रहता है। इसी पूर्ण विमर्श के कारण उसे विश्व के स्तर-स्तर में मौन शान्ति और अगाध शीतलता की प्रतीति होती है[3]। उसके ऐसे सामरस्यमूलक अद्वैत-स्वभाव के ही कारण 'काम' ने उसे आनन्दरूपा बताया है—

शीतलता है शान्तिमयी[4]।

यहाँ एक बात स्मरण रखने योग्य है और वह यह है कि श्रद्धा परमार्थतः अपने उपर्युक्त अद्वैत स्वभाव के सामरस्य-विमर्श में दृढ़ रहते हुए भी यहाँ लोक-व्यवहार के लिए भेदविमर्श को ग्रहण किए हुए है। यह भेदविमर्श अशुद्ध-विमर्श न होकर शास्त्र-उपदेश के लिए श्रद्धा द्वारा स्वपरिग्रहीत शुद्धभेदविमर्श है। इस शुद्ध विमर्श में प्रमेय-चेतना की अवस्थिति के कारण शुद्धविकल्प विद्यमान रहता है क्योंकि निर्विकल्प शुद्धविमर्श में तो प्रमेय-चेतना (इदंरूप प्रमेय के विमर्श) का अभाव होने के कारण शास्त्र-व्यवहार भी संभव नहीं। शास्त्र-व्यवहार के लिए शिवप्रमाता को भी संकोच-कल्पना के द्वारा कम-से-कम मंत्रमहेश्वर प्रमातृदशा पर तो उतरना ही पड़ता है। शैवागमग्रन्थ साक्षी हैं कि इसी कारण भगवान् शिव को स्वयं गुरु-शिष्यपद के व्यवहार में स्थित होकर प्रश्न-उत्तर रूप से तंत्रों की अवतारणा करनी पड़ी[5]। इससे यह निष्कर्ष निकला कि श्रद्धा शिव की अभिन्न अनुग्रहशक्ति होते हुए भी शास्त्रव्यवहार की

लोक-व्यवहार की दशा में स्थित श्रद्धा का प्रमातृस्वरूप : मंत्रमहेश्वर

१. यह विश्व अरे कितना उदार,
मेरा गृह रे उन्मुक्त द्वार। —कामायनी, पृष्ठ २३४।

२. कामायनी, पृष्ठ २३५।

३. वही, पृष्ठ २३६।

४. वही, पृष्ठ, ७७।

५. गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तंत्रं समवतारयत्॥ —विज्ञानभैरवविवृति, पृष्ठ ७।

दशा तक शिवप्रमातृ-पद में स्थित न होकर सदाशिवतत्त्वदशा में स्थित 'मंत्र-महेश्वर' प्रमाता है जिसके शुद्धविमर्श में अहन्ता का प्राधान्य होते हुए भी व्यवहार के लिए इदन्तारूप प्रमेय का भी परिग्रहण है। सर्वत्र चिति-स्वातंत्र्य[1] का प्राधान्य रखते हुए श्रद्धा के द्वारा दिये गये उपदेश से हमारा उक्त निष्कर्ष स्पष्ट हो जाता है। उपर्युक्त मंत्रमहेश्वर प्रमातृ-दशाको इस दर्शन में पूर्ण अभेद-विमर्श की दशा न मानकर भेदाभेद-विमर्श की दशा माना गया है, जिसे हम तीसरे अध्याय में बता चुके हैं। यह भेदाभेद-विमर्श की प्रमातृ-दशा भेद-दशा (जीव-अवस्था) और अभेद-दशा (शिवावस्था) की मध्यवर्ती दशा है[2]। इसी भेदाभेद-दशा की प्रमात्री होने के कारण प्रसादजी ने श्रद्धा को 'काम' के द्वारा 'जड़ चेतनता की गाँठ' कहलाया है—

जड़ चेतनता की गाँठ वही[3]।

काश्मीर शैवदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में 'जड़' का लक्षण प्रकाश की परिच्छिन्नता बताया गया है[4] और प्रकाश (चित्प्रकाश) की परिच्छिन्नता से शरीर आदि प्रमेयों को ही अहं समझने वाले जीवों को 'जड़' कहा गया है[5]। आचार्य अभिनव-गुप्त के निम्नांकित कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

जड़ का लक्षण

जड़ : जीव

स एव खलु संसारो
जडानां यो विभीषकः।[6]

---

१. अपने संविद्रूप के विमर्श का प्राधान्य ही 'अहन्ता' का प्राधान्य है।

२. तत्र भेदप्रधानो नरः भेदाभेदप्रधाना शक्तिः, केवलमभेदप्रधानः शिव इति। —परात्रिंशिकाविवरण (पाद टिप्पणी), पृष्ठ७३।

३. कामायनी, पृष्ठ ७७।

४. परिच्छिन्नप्रकाशत्वं
जडस्य किल लक्षणम्।
जडाद्विलक्षणो बोधो
यतो न परिमीयते॥
—बोधपंचदशिका, श्लोक ८।

५. स्वयमपि मेयभूत एव सन् माता। मेयं ही मीयमानत्वादेव परिमितम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ २०७।

६. बोधपंचदशिका, श्लोक ११।

यहाँ जड़ का तात्पर्य जीव से है न कि पाषाण आदि उन चेतनाशून्य पदार्थों से, जिन्हें लोक-व्यवहार में साधारणतया जड़ कहा जाता है क्योंकि चेतनारहित पाषाण आदि पदार्थों को संसार की विभीषकता की अनुभूति (विमर्श) नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह है कि 'जड़' जीव का पर्याय है।

जीव : नर

जीव में चित्प्रकाश की परिच्छिन्नता के विमर्श के कारण भेद-धी का प्राधान्य रहता है और भेद-धी के प्राधान्य से युक्त ऐसे जीव को ही इस दर्शन में 'नर' कहा है[1]। प्रसादजी ने भी त्रिकदर्शन के आधार पर जीव को 'नर' संज्ञा दी है—

उस ज्योतिमयी को देव ! कहो
कैसे कोई नर पाता है।[2]

अब "जड़ चेतनता की गाँठ वही" में प्रयुक्त 'चेतनता' के स्वरूप पर विचार करेंगे। 'चेतनता' चिदात्मा या परमशिव की द्योतक है क्योंकि शिवसूत्रों

चेतनता : चिदात्मा

में "चैतन्यमात्मा" कहकर आत्मा (परमशिव) को चैतन्य या चेतनता कहा है, यह पूर्व कहा जा चुका है। इस चेतनता (आत्मा) में पूर्ण अभेद-विमर्श रहता है। प्रसादजी ने भी कामायनी में 'शिव' के लिए ही "चेतनता" का प्रयोग किया है—

वह चेतन पुरुष पुरातन
निज शक्ति तरंगायित था[3]।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि लोकानुग्रह के लिए संसृति में अवतीर्ण श्रद्धा ही अपने पराशक्ति-स्वरूप से जड़-चेतनता के मध्य की वह कड़ी (गाँठ) है

शक्ति के द्वारा जीव के शिवत्व का प्रत्यभिज्ञान

जो 'जड़' (नर) को 'चेतनता' (आत्मा) से संबद्ध करती है अर्थात् नर (जीव) पारमेश्वरी शक्ति के ही द्वारा चेतनता (शिवत्व) का साक्षात्कार करता है। विज्ञानभैरव में ऐसा कहा भी है कि जैसे दीपक के आलोक और भास्कर की किरणों से दिक् विभागादि जाने

---

१. तत्र भेदप्रधानो नरः।
—परात्रिंशिकाविवरण (पाद टिप्पणी) पृष्ठ ७३।

२. कामायनी, पृष्ठ ७७।

३. वही, पृष्ठ २८६।

जाते हैं वैसे ही शक्ति के द्वारा ही प्राणी के शिवस्वरूप की अभिव्यक्ति होती है[1]।

कामायनी में जीव मनु 'नर' है और श्रद्धा अनुग्रहस्वभावा शक्ति है, यह ऊपर प्रकट किया जा चुका है और कामायनी के दार्शनिक प्रतिपाद्य का जो विवेचन आगे किया जायगा उससे यह भी सिद्ध होता है कि जीव मनु को श्रद्धा के द्वारा ही 'आत्म-चेतनता' अर्थात् अपने शिवस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान होता है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि मनु (नर) को श्रद्धा (शक्ति) के द्वारा शिवत्व का साक्षात्कार होने से कामायनी में शिवस्वरूप की साधना में काश्मीर शैवदर्शन की "नर-शक्ति-शिव"[2] रूपवाली त्रिक-प्रक्रिया अपनाई गई है।

इस प्रकार कामायनी में वर्णित श्रद्धा का शक्तिस्वरूप और तदनुकूल प्रदर्शित उसके महत् अनुग्रह कार्य उसके जिस असाधारण दिव्य व्यक्तित्व को प्रकट करते हैं वह निश्चय ही श्रद्धा का पराशक्ति रूप है।

श्रद्धा : पराशक्ति अपने इसी पराशक्तिरूप से श्रद्धा 'दर्शन सर्ग' में मनु को शिव के सृष्टि-संहारादि ऐश्वर्य-कृत्यों का साक्षात् दर्शन कराती है और मनु की रहस्यात्मक साधना में उसका प्रधान सम्बल बनकर "उदित महाचेतना" में दिखाई पड़े तीन आलोक-बिन्दुओं के शक्तित्व-कथन के द्वारा मनु को आत्म-प्रत्यभिज्ञान कराती है तथा अपनी मुस्कानमात्र से ही त्रिपुरों की भेद-प्रतीति को भस्म कर देती है। श्रद्धा के ऐसे पराशक्ति-रूप को स्पष्ट करने के लिए प्रसादजी ने उसे "पूर्ण-काम की प्रतिमा" कहा है—

वह विश्व-चेतना से पुलकित
थी पूर्ण-काम की प्रतिमा[3]।

---

१. शक्तिरेव तज्ज्ञप्तावुपायः, यदुक्तं।
यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये।
—तंत्रालोक टीका, भाग १, पृष्ठ २२९।

२. नर-शक्ति-शिवात्मकं हि इदं सर्वं त्रिकरूपमेव।
—परात्रिंशिकाविवरण, पृष्ठ ७३।

एतेन चोद्यसमाधानाभ्यामुपक्रान्तं नरशक्तिशिवात्मकं
तत्त्वत्रयमेव प्रातिभविज्ञानात्मकतां यायात्।
—तंत्रालोक टीका भाग ८, पृष्ठ ११९।

३. कामायनी, पृष्ठ २९०।

इससे पूर्व काम के पूर्ण स्वरूप के प्रसंग में 'श्रद्धा' सर्ग में उन्होंने श्रद्धा से मनु को मंगल एवं श्रेय से समन्वित काम को ग्रहण करने का उपदेश दिलाया था और श्रेय के साधन केवल तप को अपूर्ण सत्य ठहराया था। उससे यह व्यंजित है (और श्रद्धा की जीवन-चर्या से स्पष्ट भी है) कि श्रद्धा स्वयं भी काम के 'जड़' और 'चेतन' उभय रूपों को समरस दृष्टि से, जीवन की पूर्णता के उभय पक्षों के रूप में, ग्रहण किए हुए है। और अधिक स्पष्ट शब्दों में इसे यों समझाया जा सकता है कि जड़ता जीव का लक्षण है। जीव में भोग-प्रवृत्ति का प्राधान्य होता है और जीव की भोग-प्रवृत्ति का सम्बन्ध देह से है। अतः देह से संबंध रखने वाला काम (प्रजननात्मक काम) जड़ता का द्योतक है। यह काम व्यष्टि-आनन्द की भावना है। इसके विपरीत, 'चेतनता' में विश्व-चेतना का भाव है। इसी कारण 'जगती के पागल सुख' के उभार में 'विश्व-चेतना से पुलकित' श्रद्धा की चेतना (विश्व-सुख की चेतना) का तिरोभाव प्रकट करने के लिए प्रसाद जी ने कहा है—

वह पागल सुख इस जगती का
आज विराट बना था।
× × ×
कामायनी जगी थी कुछ-कुछ
खोकर सब चेतनता[1]।

अतः चेतनता का सम्बन्ध विश्व-सुख या विश्व-रति से है। विश्व-रति ही काम की व्यापक भावना है। इसमें आत्म-तृप्तिवशात् विश्व-मंगल के सम्पादन की ललक रहती है। इसलिए यह काम समष्टि-आनन्द की भावना है। श्रद्धा काम के इन दोनों (जड़ और चेतन) रूपों को अपने व्यक्तित्व के सामरस्य में निभाती है। मनु की पत्नी बन कर वह काम के प्रजननात्मक (भोगात्मक) रूप को और मनु की 'आनन्द-विश्रान्ति' में पथ-प्रदर्शिका बन कर सब को आनन्दित (सुखी) करते हुए (क्योंकि वह अभेद-बुद्धि से 'संसृति सेवा' में दृढ़ विश्वास रखती है[2]) काम के लोकमंगलकारी श्रेय-रूप को प्रकट करती है। इस तरह वह जीवन को पूर्ण बनाने वाले उसके दोनों छोरों को अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस् को सामरस्य-दृष्टि में जोड़ने वाली गाँठ है। ऐकान्तिक रूप में भिन्न-भिन्न पथों के लक्ष्य बने हुए काम के उक्त द्विविध रूपों को एक जीवन-पथ में समन्वित कर देने वाली यही समरसता की

---

१. कामायनी, पृष्ठ १२६।

२. वही, पृष्ठ १३६।

पूर्ण दृष्टि है। इसी से श्रद्धा को 'पूर्णकाम की प्रतिमा' कहना सार्थक होता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि श्रद्धा को जब पूर्ण काम की प्रतिमा कहा गया है और ऋग्वेद के समय से ही सृष्टि के उद्गम में काम का व्यापक प्रभाव बताते हुए 'काम' शब्द को 'प्रेम' शब्द से अधिक व्यापक माना गया है[1] तब श्रद्धा को 'काम' (या 'कामकला') का संदेश सुनाने के लिए आई हुई न कह कर 'प्रेमकला' का 'संदेश सुनाने को संसृति में आई' क्यों कहा गया ?

इसका उत्तर मेरे मत में यह हो सकता है कि वैसे तो प्रेमकला कामकला का ही पर्याय है जैसा कि पूर्व विवेचन से प्रकट किया जा चुका है, किन्तु सृष्टि के उद्गम में काम का व्यापक प्रभाव होते हुए भी लोक-जीवन में अनुरक्तिपूर्ण अभेद-बुद्धि जाग्रत करने में प्रेम ही सर्वाधिक प्रभावकारी है। प्रेम ही वह प्रबल शक्ति है जो प्राणिमात्र के हृदय को जाग्रत कर सकती है। हृदय की जागृति का तात्पर्य है पराये समझे जाने वालों में अपनेपन के बोध का उदय अर्थात् भेद में अभेद की अनुभूति। (प्रेम से लोगों के हृदय को न पा सकने (जाग्रत न कर सकने) के कारण ही तो श्रद्धा ने इड़ा को यह उपालम्भ दिया था कि कि 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय'।) इसका अभिप्राय यह है कि प्रेम ही हृदय-सत्ता किंवा आत्म-सत्ता को जगाता है और सामरस्यमयी अभेद की अनुभूति कराता है। हृदय-सत्ता अर्थात् आत्म-सत्ता के पूर्ण विकास को ही भूमा कह कर सुखरूप बताया गया है। भूमा की उपदेष्ट्री श्रद्धा स्वयं भूमा की प्रतिमा-सी बनी हुई है। श्रद्धा के परिचय की 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार' यह पंक्ति और स्वयं श्रद्धा का यह मनोभाव कि 'कुतूहल खोज रहा था व्यस्त, हृदय-सत्ता का सुन्दर सत्य' इस विषय में कोई संदेह नहीं रहने देते कि श्रद्धा का व्यक्तित्व हृदय-सत्ता का व्यक्त सत्य है। जिसका 'हृदय रत्ननिधि स्वच्छ' सबके लिए 'खुला' है उसी प्रेमज्योति (श्रद्धा) से सब में आनन्दमयी अभेद की अनुभूति जाग्रत होती है—

प्रतिफलित हुईं सब आँखें
उस प्रेम ज्योति विमला से,
सब पहचाने से लगते
अपनी ही एक कला से[2]।

प्रेम के ऐसे ही महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए महाकवि सूरदास ने कहा था

प्रेम प्रेम सों होय प्रेम सों पारहि जैए।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैए[3]॥

---

१. प्रसाद का 'रहस्यवाद' निबन्ध।
२. कामायनी, आनन्द सर्ग। ३. भ्रमतरगीसार।

स्पष्ट है कि प्रेम के द्वारा ही जीवन के दुःखों को जीता जा सकता है अर्थात् प्रेम के द्वारा ही दुःखों के मूल कारण मितप्रमातृत्व (भेद-बुद्धि) का विगलन और आत्म-सीमा का विस्तार किया जा सकता है। प्रेमज्योति से सब को अपना बना लेने पर, सब को आत्म-सीमा में ले आने पर, भेदजनित कलह-कोलाहल की इति हो जाती है और दुःखों की तद्रूपता समाप्त हो जाती है। कामायनी के 'आनन्द' सर्ग की निम्नांकित पंक्तियाँ इसी आशय को प्रकट करती हैं—

सुख सहचर दुःख विदूषक
सब की विस्मृति के पट में
छिप बैठा था अब निर्भय[१]।

कामायनी-इतर ग्रन्थों में इस बात को प्रसाद ने और भी स्पष्टता से कहा है।

"मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते हैं कि संसार दुःख-मय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है[२]।

× × ×

मैं दुःख का अस्तित्व ही नहीं मानता। मेरे पास तो प्रेम अमूल्य चिन्ता-मणि है[३]।"

'जनमेजय का नागयज्ञ' के प्रथम अङ्क में श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में श्रीकृष्ण के मुख से भी प्रसाद ने यही कहलाया है कि अन्धकार की, दुःख की सत्ता नहीं है। सत्ता केवल प्रकाश की, सुख की है। उनकी यह मान्यता शैवागम-अनुप्राणित उनके आनन्दवादी सिद्धान्त के सर्वथा अनुरूप ही है।

हृदय के भीतर आनन्दवादी सिद्धान्त के प्रति अटूट आस्था और बाहर क्रियाओं में, जीवन-व्यवहारों में, प्रेम के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति ही उनका प्रतिपाद्य रहा है जो श्रद्धा के जीवन में साकार हुआ है।

आनन्दवाद की प्रतिष्ठा में प्रसाद प्रेम का अनिवार्य योग मानते हैं। उनका निम्नोद्धृत कथन मेरे इस कथन की पुष्टि करता है—

---

१. कामायनी, आनन्द सर्ग।
२. एक घूँट, पृष्ठ १६।
३. वही पृष्ठ ३८।

"उपनिषद् में आनन्द की प्रतिष्ठा के साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना हो गयी थी जो आनन्द-सिद्धान्त के लिए आवश्यक है।"[१]

प्रसाद की इस चिन्तना का विकास हमें उनकी कामायनी-पूर्व की रचनाओं में विस्तार से मिलता है और ऐसा लगता है कि कामायनी से पूर्ववर्ती रचनाओं में अभिव्यक्त अपने 'प्रेम' संबंधी विश्वासों और धारणाओं को उन्होंने 'कामायनी' में आकर श्रद्धा के व्यक्तित्व में आकार प्रदान किया है। श्रद्धा का यह कथन कि "हूँ प्रेम-पत्नी"[२] संक्षेप में इसी तथ्य को समाहृत करता है। प्रसाद की प्रेमविषयक चिन्तना के उक्त विकास की स्पष्टता के लिए यहाँ इतना संकेत भर कर देना पर्याप्त होगा कि 'कानन-कुसुम' में 'पिला दो स्वच्छ प्रेममय नीर' की कामना की परिणति में 'पूरन-काम' हो सकने का भी विश्वास व्यक्त किया गया है[3] क्योंकि प्रसाद के अनुसार विश्वेश शिव के विश्वमय होने का और विश्व का कल्याण करने का रहस्य उसका प्रेम ही है—

शिव समष्टि का होता है, इच्छा उसकी पूरी होती है।
अप्रत्याशित, अप्रकटित, कल्याण विश्व का करता है,
क्योंकि विश्वमय है विश्वेश रहस्य प्रेम के ये उसके[४]।

अतः निर्मल प्रेममय नीर पीकर अर्थात् प्रेम से हृदय का विकास करके ही 'उस सौन्दर्य-सुधासागर के कण हम' उस 'प्रेम-निधि' शिव में सामरस्यभाव से मिल सकते हैं[५]। सामरस्यभाव से उसमें हमारा यह 'अक्षय सम्मेलन' ही 'पूरन कामता' (अखण्ड आनन्द) है। संक्षेप में आनन्द की खोज में लगे संसार के 'प्रेमपथिक' बनने पर ही अक्षय आनन्द की उपलब्धि संभव है।

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ५२।
२. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृ० २४३।
३. 'विनय' कविता, पृ० ५८।
४. प्रेम-पथिक, पृ० २९।
५. उस सौन्दर्य-सुधासागर के कण हैं हम।
मिलो उसी आनन्द-अम्बुनिधि में मन से प्रमुदित होकर,
एक सिन्धु में मिलकर अक्षय सम्मेलन होगा सुन्दर।

× ×

चलो मिलें सौंदर्य-प्रेमनिधि में,
जहाँ अखण्ड शान्ति रहती है।—प्रेम-पथिक पृ० ३१-३२।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि जीवन में आनंदवाद की स्थापना के लिए जीवन-व्यवहारों में प्रेम का व्यापक प्रभाव है और काम प्रेम के द्वारा (सृष्टिरूप में) अपना प्रसार या विकास करता है[1] तथा प्रेम के माध्यम से ही काम की पूर्णता की उपलब्धि हो सकती है या 'पूर्णकाम' हुआ जा सकता है। यही प्रसादजी का मत है। उन्होंने मनु के 'पूर्णकाम' न होने का कारण उसके द्वारा श्रद्धा के 'प्रणय-प्रकाश' का ग्रहण न किया जाना बताया है—

तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया[2]।

और 'पूर्णकाम' होने का मार्ग बताया है अपनी इस अभिलाषा के द्वारा कि —

पिला दो स्वच्छ प्रेममय नीर
× ×
बना लो हृदय-बीच निज धाम
करो हमको प्रभु पूरन-काम[3]।

यही कारण है कि प्रसादजी ने 'पूर्ण काम की प्रतिमा' श्रद्धा को 'प्रेमकला' का संदेश सुनाने के लिए (कि संसृति प्रेमपूर्ण हो और प्रेम से पूर्णता प्राप्त करे) संसृति में आई कहा है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि प्रेम का उद्गम वैदिक साहित्य में है और शैवाद्वैत दर्शन में भी प्रेम की

---

१. वह मूलशक्ति उठ खड़ी हुई
अपने आलस का त्याग किये,
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े
जिसका सुन्दर अनुराग लिये।
कुंकुम का चूर्ण उड़ाते से
मिलने को गले ललकते-से;
अंतरिक्ष के मधु उत्सव के
विद्युत्कण मिले झलकते-से।
वह आकर्षण, वह मिलन हुआ
प्रारंभ माधुरी छाया में;
जिसको कहते सब सृष्टि बनी।

—कामायनी, काम सर्ग।

२. कामायनी, इड़ासर्ग, पृ० १६३।

३. कानन-कुसुम ('विनय' कविता)।

स्थिति के संबंध में शैवाद्वैतदर्शन के मर्मज्ञ एवं निष्णात पंडित डॉ० गोपीनाथ जी कविराज का मत है कि "त्रिकदर्शन अद्वैत में माधुर्य प्रेम को भी भक्ति में आभासरूप में स्वीकार करता है"[1] तथापि प्रसाद-साहित्य के प्रमाण-बल पर यह मानना होगा कि प्रेम का जिस व्यापकता से और जिस रूप में पल्लवन प्रसाद ने किया है वह किसी दर्शनविशेष के प्रभाव का व्यंजक न होकर उनकी स्वतंत्र चिन्तना का फल है।

पूर्वोक्त सम्भावित प्रश्न के उपर्युक्त उत्तर के अनन्तर पुनः विवेच्य विषय के सातत्य में निवेदन है कि श्रद्धा को जिस 'पूर्ण-काम' की प्रतिमा कहा है उस पूर्ण-काम को काश्मीर शैवदर्शन के आगम-गुरुओं ने कामेश्वर कहकर शिव का पर्याय माना है[2] और उस कामेश्वर (पूर्णकाम) संज्ञक शिव की शक्ति को कामेश्वरी कहा है[3]। कामेश्वरी और पराशक्ति एक ही पारमेश्वरी शक्ति के दो नाम हैं। श्रद्धा को पूर्णकाम की प्रतिमा कहकर कामायनी के कवि ने भी यहाँ यही प्रकट किया है कि श्रद्धा कामेश्वरी अर्थात् पराशक्ति का लोक-अवतीर्ण व्यक्त स्वरूप है।

इस सम्बन्ध में विद्वानों का बहिःसाक्ष्य भी उपलब्ध है। डॉ० रामलालसिंह ने लिखा है—

---

१. 'कल्याण' (शिवाङ्क)

२. पर्यङ्कस्य भजामः पादान्बिम्बाम्बुदेन्दुहेमरुचः ।
अजहरिरुद्रेशमयाननलासुरमारुतेशकोणस्थान् ॥
फलकं सदाशिवमयं प्रणौमि सिन्दूररेणुकिरणाभम् ।
आरभ्यांगेशीनां सदनात्कलितं च रत्नसोपानम् ॥
तस्योपरि निवसन्तं तारुण्यश्रीनिषेवितं सततम् ।
× × ×
काश्मीरपंकिलांगं कामेशं मनसि कूर्महे सततम् ॥
—दुर्वासामुनिरचित 'ललितास्तवरत्न' श्लोक १५१–१५९

३. कामेश्वरीप्रधानाः कलये देवीः समस्तजनवन्द्याः ।
× × ×
तस्यांकभुवि निषण्णां तरुणकदम्बप्रसूनकिरणाभाम् ।
× × ×
कामेश्वरांकनिलयां कामपि विद्यां पुरातनीं कलये ॥
—वही, श्लोक १४३, १६०,१८१ ।

> श्रद्धा के दर्शन से मनु को शिव का ताण्डव-नृत्य दिखा कर तथा त्रिपुरों को मिलाकर प्रसाद ने उसे (श्रद्धा को) परात्पर शक्ति के रूप में प्रकट किया है[१] ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त परात्पर शक्ति पराशक्ति का ही पर्यायवाची है और दोनों में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा ही मत महाकवि 'दिनकर' का है। उन्होंने लिखा है—

> कवि को आरम्भ से ही यह अभीष्ट था कि श्रद्धा की परिणति पराशक्ति के रूप में की जाय। श्रद्धा का यह रूप दर्शनसर्ग में ही खुल पड़ता है और रहस्य सर्ग में पहुँचकर श्रद्धा जिस अधिकार के साथ त्रिपुर का वर्णन करती है, उससे तो श्रद्धा के पराशक्तित्व में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता[२] ।

ऊपर उद्धृत दो बहिःसाक्ष्यों के अतिरिक्त यदि कोई विद्वान् स्वयं प्रसादजी का अन्तःसाक्ष्य भी देखना चाहे तो कामायनी की निम्नांकित पंक्तियाँ पर्याप्त होंगी—

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित,
वह चेतन पुरुष पुरातन[३] ।

उपर्युक्त पंक्तियों में 'प्रकृति' संज्ञा "चेतन पुरुष पुरातन" अर्थात् शिवस्वरूप मनु की अभिन्न शक्ति 'श्रद्धा' के लिए प्रयुक्त है और शिव की इस अभिन्न शक्ति-प्रकृति–को ही प्रसादजी ने 'चित्राधार' की 'प्रेम-राज्य' शीर्षक कविता में पराशक्ति संज्ञा से व्यपदिष्ट किया है—

अग्निनयन तीसरो, रहत पलकन आड़े ही।
पराशक्ति वह प्रकृति, अङ्क मँह अति छवि पावत[४] ।

अतः यह स्पष्ट है कि 'पराशक्ति' के अर्थ में 'श्रद्धा' के लिए 'प्रकृति' संज्ञा का प्रयोग करके प्रसादजी ने यहाँ श्रद्धा को पराशक्ति के रूप में ही प्रकट किया है।

पराशक्ति की अपर संज्ञा अनुग्रहशक्ति

उक्त पराशक्ति को उसके नित्य अनुग्रहकारी स्वभाव के कारण काश्मीर शैवदर्शन में अनुग्रहशक्ति भी कहा गया है—

---

१. कामायनी अनुशीलन, पृष्ठ १७१।

२. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरणगुप्त, पृष्ठ ८४।

३. कामायनी, पृ० २८६।

४. चित्राधार (प्रेमराज्य), पृष्ठ ८२।

सा शांभवी शक्तिरनुग्रहकरी सदा[1] ।

पराशक्ति श्रद्धा भी जीवों पर अनुग्रह करने के लिए ही संसृति में आई है और मनु जैसे जीवों को दुःख के हेतु, भवबन्धन, से मुक्त तथा स्वात्मानन्द में विश्रांत करके उसने अपने नित्य अनुग्रहकारी स्वभाव को पूर्णतया स्पष्ट भी कर दिया है। निश्चय ही, लोकानुग्रह के अतिरिक्त स्वात्म-पूर्ण पराशक्ति के संसृति में अवतार का और उद्देश्य ही क्या हो सकता है ? पराशक्ति श्रद्धा के ऐसे ही अनुग्रहकारी स्वभाव को लक्ष्य करके कामायनीकार प्रसादजी ने उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सार को आनन्द सर्ग की इन पंक्तियों में रख दिया है—

वह कामायनी (श्रद्धा) जगत की,
मंगल कामना अकेली[2] ।

पराशक्ति श्रद्धा के संसृति-अवतार के अभिप्राय एवं उसके 'कामायनी'-निरूपित अनुग्रहकर्तृत्व को लक्ष्य करके हमने श्रद्धा को अनुग्रहशक्ति कहा है क्योंकि कामायनी काव्य के दार्शनिक स्वरूप में श्रद्धा के इसी रूप का प्राधान्य है।

श्रद्धा के मनु-पत्नीत्व का कारण

अनुग्रहशक्ति श्रद्धा को मनु की पत्नी बनाकर उसके द्वारा शैवाद्वैत दर्शन का तत्त्वोपदेश दिलाते हुए मनु को जो आत्म-प्रत्यभिज्ञा कराई गई है, उसके पीछे वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में उपलब्ध श्रद्धा और मनु सम्बन्धी ऐतिहासिक आख्यान की प्रेरणा है और संभवतः 'त्रिपुरा-रहस्य' का प्रभाव भी। ऐतिहासिक आख्यान के सम्बन्ध में प्रसाद का कथन है कि "शतपथ ब्राह्मण में मनु को श्रद्धादेव कहा गया है—श्रद्धादेवो वै मनुः" (का० १प्र० १४-१५)। भागवत में इन्हीं वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है।

"ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत
श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्।" (९-१-११)

× × ×

(ऋग्वेद में) श्रद्धावाले सूक्त में सायण ने श्रद्धा का परिचय देते हुए लिखा है, 'कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका'। श्रद्धा काम गोत्र की बालिका है, इसीलिए श्रद्धा नाम के साथ उसे कामायनी भी कहा जाता है[3]।" इस उद्धरण से श्रद्धा

१. शिवसूत्रवार्त्तिक (भास्कराचार्यकृत) २।२३।
२. कामायनी, पृष्ठ २९०।
३. कामायनी का आमुख।

का मनु-पत्नी होना और ऋषिका होने से उसे 'आत्म-तत्त्व' की प्रत्यक्ष अनुभूति होना सिद्ध होता है (क्योंकि आत्म-तत्त्व के प्रत्यक्ष दर्शन से ही तो ऋषित्व की उपलब्धि होती है—ऋषिर्दर्शनात्)।

'त्रिपुरा-रहस्य' के प्रभाव की सम्भावना के सम्बन्ध में हमारे अनुमान का आधार यह है कि 'त्रिपुरा-रहस्य' में शुद्धविद्या का मूर्तरूप[1] हेमलेखा मनु के-से भोगेच्छुक राजकुमार हेमचूड़ की पत्नी बन कर उसे सुख-दुःखादि का रहस्य समझाते हुए अद्वैतोपदेश देती है और राजकुमार हेमचूड़ हेमलेखा के उक्त उपदेशानुग्रह से अपने शुद्ध चित्स्वभाव को पहचान कर जीवन्मुक्त हो जाता है[2]। कामायनी में भी हम देखते हैं कि श्रद्धा ने मनु की पत्नी बनकर (अर्थात् हृदय के समर्पणपूर्वक उसकी सहचरी बन कर) अद्वैतवादी शैवदर्शन के सामरस्य-उपदेश के साथ सुख-दुःखादि का आनन्द-रहस्य प्रकट करते हुए मनु पर जो अनुग्रह किया है उसी से वह जीवन्मुक्त होता है, जैसा कि आगे प्रकट किया जाएगा। इसके अतिरिक्त जैसे हेमलेखा को वहाँ पराचिति की सन्तति बताया गया है[3] वैसे ही यहाँ कामायनी में भी श्रद्धा 'काम' की सन्तान कही गई है[4]। यह 'काम' मायोत्तीर्ण 'शुद्ध अध्वा' का विश्वात्मप्रमाता होने के कारण 'पूर्ण-काम' है। इसी 'पूर्ण-काम' की प्रतिमा श्रद्धा है। यह 'पूर्णकाम' शिव का पर्याय है क्योंकि सामरस्य और श्रद्धा के शक्तित्व का (ज्ञाता) उपदेशक[5] 'काम' अपनी ऐसी पूर्णदृष्टि के कारण शिव ही हो सकता है, 'कामना' का पर्याय 'काम' नहीं।

कामायनी की निम्नोद्धृत पंक्तियों में निहित तथ्य की ध्वनि भी यही है—

अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के
अन्तर में उसकी चाह रही।

× × ×

---

१. त्रिपुरारहस्य, सम्पादक डॉ० गोपीनाथ कविराज, ज्ञानखण्ड, भाग १, पृ० ५५।

२. वही, ८।२६।

३. त्रिपुरारहस्य ८।२६।

४. कामायनी, पृ० ७७।

५. समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।
—कामायनी, इड़ा सर्ग, पृ० १६२।

उस प्रकृति लता के यौवन में
उस पुष्पवती के माधव का;
मधु हास हुआ था वह पहला
दो रूप मधुर जो ढाल सका[१]।

प्रथम पंक्ति की 'अव्यक्त प्रकृति' 'परा प्रकृति' है[२]। उसके 'उन्मीलन के अन्तर में' अर्थात् विश्व-रचना के प्रति उन्मुख होने के मूल में एक से अनेक होने (एकोऽहं बहुस्याम्) की आनन्द-चेतना (जिसे यहाँ 'अनादि वासना रति' कह कर प्रकट किया है) की स्फुरत्ता ('चाह') प्रधान हेतु रही है। इसी बात को 'एक घूंट' में और अधिक स्पष्टता से प्रकट करते हुए प्रसाद ने लिखा है कि "(अव्यक्त) विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य आनंदमयी प्रेरणा है[३]।" पूर्व उद्धरण में 'अव्यक्त प्रकृति' प्रयोग 'अव्यक्त विश्व-चेतना' का पर्याय है और इसी प्रकार 'उन्मीलन' 'आकार धारण करने की चेष्टा का' तथा उक्त 'चेष्टा' में ('उन्मीलन के अन्तर में') हेतुभूता 'उसकी चाह' 'आनंदमयी प्रेरणा' का पर्याय है, इसमें कोई संदेह नहीं। उक्त आनंदमयी प्रेरणा की 'चेष्टा' ही पराप्रकृति की स्वात्मोच्छलत्ता या किंचिच्चलत्तात्मक स्पन्दरूपता है जिसे ऋग्वेद में 'काम' कहा है— "कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्"। 'रेतः' शब्द यहाँ सूक्ष्म गति को ही ध्वनित करता है क्योंकि यह गत्यर्थक रिङ् धातु से व्युत्पन्न है। इससे उक्त 'काम' निर्विवादरूप से किंचिच्चलत्तात्मक स्पन्द ही है। यही परमशिव या चिति का शिव-शक्ति या शक्ति-शक्तिमान् भाव से परस्पर औन्मुख्यात्मक (अद्वैत में ही) 'यामलरूप' (संघट्ट) है[४]। इसी तथ्य की सशक्त व्यंजना के लिए

---

१. कामसर्ग।

२. परा प्रकृति से परे नहीं जो हिला मिला है,
सन्मानस के बीच कमल-सा नित्य खिला है।
चेतन की चित्कला विश्व में जिसकी सत्ता,
जिसकी ओतप्रोत व्योम में पूर्ण महत्ता।
स्वानुभूति का साक्षी है जो जड़ का चेतन,
विश्व-शरीरी परमात्मा-प्रभुता का केतन।

—कानन-कुसुम ('मकरन्दबिन्दु', पृ० ९२)

३. दूसरा संस्करण, पृ० १५।

४. तंत्रालोक भाग २–३।६८।

प्रसाद ने 'अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन' वाली पूर्वोद्धृत दो पंक्तियों के तुरन्त बाद में लिखा है—

हम दोनों का अस्तित्व रहा
उस आरम्भिक आवर्त्तन सा,
जिससे संसृति का बनता है
आकार रूप के नर्तन सा[1]।

'हम दोनों का अस्तित्व' प्रयोग यहाँ अद्वैत समरस स्थिति में ही परमशिव के 'प्रकाश' या 'विमर्श' के प्राधान्य से 'शक्तिमत्' और 'शक्ति' भाव की द्वैतसंज्ञात्मक आत्म-कल्पना है जिसमें न शक्तिमान् शक्ति से रहित है और न शक्ति शक्तिमान् (शिव) से—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद्व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव[2] ॥

उक्त 'पदार्थद्वय[3]' के स्पन्द से ही इच्छाशक्तिमय सदाशिवतत्त्व का आभासन होता है जो विश्व-सृष्टि की आद्या दशा है।[4] यहीं अहन्ता के साथ इदन्ता (संसृति) का सर्वप्रथम उन्मेष होता है। विश्व-सृष्टि की उक्त आद्या दशा की ही व्यंजना के लिए कामायनी में कहा गया है—

मधु हास हुआ था वह पहला
दो रूप मधुर जो ढाल सका।

सृष्टि के आरम्भ में ये ही दो मधुर रूप काम और रति थे, जिनकी सन्तान श्रद्धा कही गई है। इस प्रकार 'काम' शुद्ध अध्वा का विश्वात्मप्रमाता या पूर्ण प्रमाता है। सम्भवतः यही कारण है कि प्रसाद जी ने काम को मनु के द्वारा 'देव[5]' संज्ञा से सम्बोधित कराया है। निष्कर्ष यह है कि शक्तिरूपा श्रद्धा को जिस 'काम' (पूर्णकाम) की सन्तान बताया गया है वह अपनी सामरस्यात्मक अद्वैत दृष्टि (पूर्ण बोध) के कारण कामना का पर्याय न होकर शिव का

---

१. कामायनी, काम सर्ग।
२. बोधपंचदशिका।
३. देखिए यही प्रबन्ध, पृ० ७२।
४. देखिए यही प्रबन्ध, पृ० ७३।
५. उस ज्योतिमयी को देव ! कहो कैसे कोई नर पाता है ?
—कामायनी, काम सर्ग, पृ० ७७।

ही पर्याय है। प्रसाद ने 'परम प्रकाश' परमेश्वर को 'पूर्णकाम' कहा भी है[1] यहाँ यह भी उल्लेख कर देना प्रसंगानुकूल होगा कि प्रसाद-साहित्य की एक शोधयित्री विदुषी ने कामायनी पर विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—" 'काम' प्रसाद के अनुसार आकांक्षा का ही पर्याय है और आकांक्षा के अन्दर संयोगेच्छा भी सम्मिलित है[2]।" किन्तु उक्त विदुषी का यह ऊपर उद्धृत मत पूर्णतया असंगत है और इसकी असंगति हमारे उपर्युक्त विवेचन में प्रकाशित प्रसाद के कामविषयक दृष्टिकोण से भली प्रकार स्पष्ट है।

'त्रिपुरारहस्य' की उक्त पराचिति (हेमलेखा जिसकी सन्तति कही गई है) और कामायनी के 'पूर्णकाम' या कामेश्वर (श्रद्धा जिसकी सन्तान बताई गई है) में भेद की शंका नहीं की जानी चाहिए क्योंकि ये एक ही परम तत्त्व के दो रूप हैं। शिव और शक्ति में अभेद और अविनाभाव सम्बन्ध माना गया है। इसीलिए पराचिति या चिति के लिए कोई भैरव या शिव संज्ञा का व्यवहार करता है और कोई भैरवी या शक्ति संज्ञा का।[3]

'पूर्ण-काम' अर्थात् कामेश्वर शिव के द्वारा श्रद्धा के शक्तिरूपत्व का पूर्वोक्त उपदेश देने पर भी जब तक जीवात्मा मनु को श्रद्धा के अनुग्रह-शक्तित्व की प्रतीति नहीं होती तब तक वह उसकी भोग्या "सुन्दर जड़ देह मात्र" को ही श्रद्धा समझकर[4] उसके द्वारा उपदिष्ट शैवदर्शन के कल्याणकारी वचनों के प्रति अनास्था रख कर उनकी उपेक्षा ही करता रहता है। श्रद्धा के द्वारा उपदिष्ट शैवाद्वैत शास्त्र के वचनों के प्रति उसकी उक्त उपेक्षा का कारण काश्मीरिक शैवों के अनुसार यह है कि जब तक उपदेश्य जीव में आस्था नहीं होती तब तक वह शास्त्रों के सज्ज्ञान से लाभान्वित नहीं होता। श्रीमद् भगवद्गीता से भी यही विदित होता है कि आत्म-ज्ञान की प्राप्ति अनास्थावान् को न होकर आस्थावान् (श्रद्धावान्) को ही होती है[5]। ऐसा ही मत शैव ग्रन्थों का है। तंत्रालोक

---

१. जीवन जगत के, विकास विश्ववेद के हो,
परम प्रकाश हो, स्वयं हो पूर्णकाम हो।
—झरना (सातवाँ संस्करण) पृ० ६३।

२. प्रसाद का काव्य और दर्शन, पृष्ठ ३८८। (अप्रकाशित)

३. विज्ञानभैरव, पादटिप्पणी, पृ० २१।

४. जिसमें चेतनता ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान।
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र।
—कामायनी, पृष्ठ १६३।

५. श्रीमद् भगवद्गीता ४।३९।

में लिखा है कि शैवशास्त्रों को सुनकर भी जो पशु (जीवात्मा) भेदवृत्ति को नहीं छोड़ता, उसे शिव की वामाशक्ति दृढ़ता से जकड़ लेती है[1] और उसे नीचे से नीचे अर्थात् विकट से विकटतर दुःखों में गिरा देती है[2]। कामायनी में भी हम यही देखते हैं कि श्रद्धा के द्वारा उपदिष्ट शैवाद्वैत दर्शन का ज्ञान सुनने पर भी जब जीवात्मा मनु ने भेद-वृत्ति का परित्याग नहीं किया तो "भेद से भरी भक्ति" उसके जीवन को बाधामय पथ पर ले चलती है[3] और वामाशक्ति नियतिरूपेण भीषण अभिनय करती हुई[4] भेद-बुद्धि में दृढ़ विषय-भोगेच्छुक मनु को अपने विकर्षणकारी कार्यों के द्वारा दुःख की घनी परिस्थितियों में डालकर व्याकुल बना देती है[5]।

इस प्रकार श्रद्धा के द्वारा उपदिष्ट शैवशास्त्रों के कल्याणकारी वचनों की उपेक्षा करने के कारण वह (मनु) निरन्तर दुःखों को भोगता रहता है। भोगवैरस्य या निर्वेद के उदय से मल के क्षयोन्मुख होने पर जब उसे श्रद्धा में अनुग्रहशक्तित्व का अभिज्ञान होता है तभी उसमें अनुग्रहशक्ति श्रद्धा के प्रति पूज्यबुद्धि (भक्ति) उदित होती है। यह भक्ति ही उस पर परमशिव के शक्तिपात का प्रारम्भ है, जो आगे के अध्याय का शोध-विषय है। अतः स्पष्ट है कि मनु पर शक्तिपात का प्रारम्भ होने पर ही उसमें श्रद्धा के अनुग्रहशक्तित्व की प्रतीति उदित होती है और श्रद्धा में अनुग्रहशक्तित्व के दर्शन और उसके प्रति गृहीत भक्तिभाव से ही मनु आगे के अध्याय में "शैव दीक्षा" का अधिकारी बनता है।

---

१. स हि भेदैकवृत्तित्वं शिवज्ञाने श्रुतेऽप्यलम्।
नोज्झतीति दृढं वामाधिष्ठितस्तत्पशूत्तमः॥

—तंत्रालोक भाग ८, आ० १३।३१४-३१५।

२. विषयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून्।
रुद्राणून्याः समालिंग्य घोरतर्यो पराः स्मृताः॥

— स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ३७।

३. कामायनी, पृष्ठ १६५।

४. इस नियति-नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही।

—कामायनी, पृष्ठ १५८।

५. नियति विकर्षणमयी, त्रास से सब व्याकुल थे।

—कामायनी, पृष्ठ २००।

अध्याय ८

जीवात्मा मनु पर गुरुरूपा श्रद्धा का शक्तिपात

जीवन का तात्त्विक स्वभाव : स्वातंत्र्य

गत अध्याय में काश्मीर शैवदर्शन के सिद्धान्तों के समानान्तर प्रसाद का मत उद्धृत करते हुए हमने यह प्रकट किया था कि एक नर्तक आत्मा ही अपने अप्रतिहत स्वातंत्र्य से 'अनेक-रूपी बनकर' अभेद-रूपता में भेदरूपधा की विश्व-लीला करता है। अपने उक्त स्वातंत्र्य से विश्व का 'वह कर्ता' ही 'संसार का फलभोक्ता' बन जाता है अर्थात् अपने स्वातंत्र्य से वह स्वयं अपने आपको जीवरूपों में बाँध देता है और स्वयं ही उन बद्धरूपों से अपने को मुक्त कर लेता है[2]। उसके इस स्वातंत्र्य की ही यह महिमा है कि स्वात्म-गोपन की क्रीड़ा से (स्वेच्छा से) अणु बनकर भी वह स्वयमेव पुनः अपने 'परिशुद्ध' रूप को प्रकट कर लेता है[3]। इस प्रकार तत्त्वतः तो जीव आत्म-रूप या शिव-रूप ही है, किन्तु शिव के तिरोधानकारी कृत्य से आवृतस्वरूप होकर, अपने यथार्थ (शिव-) स्वरूप के विस्मृत हो जाने से, अणुतामय रूप को ही अपना यथार्थ स्वरूप समझ लेता है। यही उसका ('संकुचित' प्रमाता जीव का) बन्धन है जिसके कारण जीव सुख की खोज में भटकते हैं और परिणामतः दुःखी होते हैं[4]। शिव की उक्त 'तिरोधानकरी' शक्ति (माया) की प्रभुता प्रकट करते हुए प्रसादजी ने भी यही कहा है—

---

१. कानन-कुसुम ('मंदिर')।

२. स्वयं बध्नाति देवेशः स्वयं चैव विमुञ्चति।

—तंत्रालोक भाग ८, आ० १३।१२३।

३. स्वातंत्र्यमहिमैवायं देवस्य यदसौ पुनः।
स्वं रूपं परिशुद्धं सत्स्पृशत्यप्यणुतामयः॥

—वही, आ० १३।१०५।

४. वही, आ० १३।१२६।

५. अनादि तेरी अनन्त माया,
जगत को लीला दिखा रही है। —कानन-कुसुम ('प्रभो')।

हे शिव, धन्य तुम्हारी माया।

जेहि बस भूलि भ्रमत है सब ही सुर अरु असुर निकाय[1]।

अतः दुःखों के हेतु उक्त बन्धन से मुक्त होकर अपने परिशुद्ध रूप अर्थात् पूर्ण संवित्स्वभाव को स्पर्श करना या अनुभव-प्रकाश में लाना ही मितात्मा का चरम साध्य है क्योंकि वही उसका आनंदमय तात्विक स्वभाव है। काश्मीरिक शैवों की भाँति प्रसाद जी ने स्पष्टतः माना है कि 'मानव जीवन की मूल सत्ता में आनन्द है', किन्तु आवृतस्वरूप मानव को उक्त आनंद का विमर्श नहीं होता।

जीव के पूर्ण संवित्स्वभाव के प्रकाशन में उपायों की निष्फलता

मानव को उस आनंद का अर्थात् अपने यथार्थ संवित्स्वभाव का विमर्श परमेश्वर के शक्तिपात के अतिरिक्त उपासना आदि किसी भी उपाय से संभव नहीं। इसका कारण यह है कि ध्यान, धारणा, योग, जप, तप, पूजा, अर्चा आदि जितने भी आन्तर या बाह्य उपाय हैं वे सभी माया (भेद-धी) के भीतर ही व्यवहार के लिए परमेश्वर के द्वारा आभासित हैं[2]। अतः वे सभी मायीय उपाय हैं। परमशिव मायोत्तीर्ण शुद्ध चित्स्वरूप है। ऐसी स्थिति में इन मायीय उपायों के द्वारा प्राणी के अमायीय शुद्ध स्वातंत्र्यमय (आनन्दमय) संवित्स्वभाव का प्रकाशित होना कैसे संभव है[3]? घट को प्रकाशित करने वाला सूर्य घट के द्वारा कैसे प्रकाशित हो सकता है[4]? अतएव काश्मीर शैवदर्शन में जीव के परिपूर्ण चित्स्वभाव के प्रकाशन में परमेश्वर का शक्तिपात ही परम कारण माना गया है—

सर्वत्र पारमेश्वरः शक्तिपात एव स्वसंविदाभिव्यक्तौ निमित्तम्[5]।

अर्थात् परमेश्वर का शक्तिपात ही संकुचित प्रमाता के संवित्स्वभाव की अभि-

---

१. 'चित्राधार' (तृतीय संस्करण), पृ० ३६।

२. उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः।

—तंत्रालोक भाग १, आ० २, पृ० ३।

३. न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते॥

—शिवस्तोत्रावली, स्तो० १।१८।

४. उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद् घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः

—तंत्रसार, पृष्ठ ९।

५. तन्त्रालोक टीका, भाग ८, पृष्ठ ३६।

व्यक्ति का निमित्त है। जीव के स्वरूप-प्रत्यभिज्ञान में शक्तिपात का महत्त्व प्रकट करते हुए स्वच्छन्दतंत्र में

जीव के संवित्स्वभाव की अभिव्यक्ति का निमित्त : पारमेश्वर शक्तिपात

लिखा है कि जैसे एक कोशकार कीट अपने आपको जाल-आवेष्टित कर लेता है, किन्तु पुनः अपने आपको उस जाल से स्वयं उद्वेष्टित करने में अशक्त रहता है वैसे ही संसारी जीव अज्ञानवश स्वकल्पित मिथ्याविकल्परूप बन्धनों से अपने आपको परिबद्ध कर लेता है, किन्तु कोशकार कीट की भाँति पुनः स्वयं अपने आपको उन स्वविकल्पित बन्धनों से मुक्त करने में समर्थ नहीं होता। अतः परमशिव उस पर अपनी अनुग्रहशक्ति का निपात करता है और शिव के इस शक्तिपात से जीवात्मा पाश-बन्धन से मुक्त होकर अपने सुनिर्मल स्वरूप को पहचान लेता है[1]। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शक्तिपात परमेश्वर के अनु-

शक्तिपात की परिभाषा

ग्रह की पारिभाषिक संज्ञा है। यह शक्तिपात जीवों के कर्मों या उनकी योगादि साधना से सर्वथा निरपेक्ष माना गया है[2]।

शैवों के इस शक्तिपात को वैष्णवों का अनुग्रह नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वैष्णवों के अनुग्रह का फल भक्त की स्वात्म–प्रकाश की अद्वैत-प्रतीति न होकर भगवान् के नित्यलीला-धाम में

शैवों के शक्तिपात का वैष्णवों के अनुग्रह से अन्तर

प्रवेशमात्र है और भगवान् की नित्य-लीला-सृष्टि में मिलने वाले इस प्रवेश को ही वहाँ जीव की सबसे उत्तम गति मानी गई है[3]। वैष्णवों के अनुग्रह से जीव को स्वर्ग, गोलोक आदि के सुखों की

१. कोशकारो यथा कीट आत्मानं वेष्टयेद् दृढम्।
न च उद्वेष्टयितुं शक्त आत्मानं स पुनर्यथा॥
तथा संसारिणः सर्वे बद्धाः स्वैरेव बन्धनैः।
न च मोचयितुं शक्ताः पशवः पाशबन्धनाः॥
स्वयमेव स्वमात्मानं यावद्वै नेक्षते शिवः। अनुग्रहशक्त्या॥
यतः शिवशक्तिनिपातात्तु मुच्यन्ते पाशबन्धनात्॥
अन्यथा नैव जानन्ति स्वरूपं यत्सुनिर्मलम्।
—स्वच्छन्दतन्त्र, भाग ५अ, पटल १०।३६९-३६४।

२. अनुग्रहनिमित्तं शक्तिपातो निरपेक्ष एव–कर्मादि—
नियत्यपेक्षणात्।—तन्त्रसार, आ० ११, पृष्ठ १२५-१२६।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १५१।

प्राप्ति होती है। किन्तु स्वर्ग आदि भी मायोत्तीर्ण न होकर माया में ही स्थित हैं। अतः वैष्णवों का अनुग्रह शैवों के शक्तिपात से अवरकोटि का माना गया है[1]।

स्वच्छन्दतन्त्र के टीकाकार क्षेमराज ने पारमेश्वर शक्तिपात पर विचार करते हुए लिखा है कि मलों के क्षय से शक्तिपात होता है और शक्तिपात से ही मलों का क्षय होता है और इनमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है[2]। किन्तु शैवाचार्य अभिवगुप्त का मत क्षेमराज से थोड़ा भिन्न है। उनका कहना है कि शक्तिपात से ही मलक्षय होते हैं और शिवभाव का प्रकाश होता है—

शक्तिपात से मल-क्षय

> पत्युः परस्माद्यस्त्वेष शक्तिपातः स वै मलात्।
> अज्ञानाख्याद्वियोक्तेति शिवभावप्रकाशकः[3]।

आचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में इस शक्तिपात के तारतम्य-प्रकाश का भी उल्लेख किया है[4]। इससे स्पष्ट है कि शक्तिपात के उदय से जीव का मल क्षयोन्मुख होकर गलने लगता है और भोगोन्मुखता भी क्षीण होने लगती है। जब जीव को भेदमय संसार के भोगों से विरसता होने

शक्तिपात का तारतम्यप्रकाश

---

१. (क) इह या नाम काचन परमेश्वरे विष्ण्वादिरूपता
सा स्वयमुल्लसिताद्भेदयोगवशान्मायापदमध्यमध्यास्त इति
विष्ण्वादिरूपतामवलम्ब्य स्थितोऽपि सन् शक्तिपातस्तावन्तं
तदधिकारोचितमेव भोगमादध्यात्, न तु अन्ते शिवतामपि,
येनास्य पारमेश्वराच्छक्तिपातादवरत्वम्॥
—तन्त्रालोक टीका, भाग ८, पृष्ठ १६६।

(ख) वैष्णवादीनां तु राजानुग्रहवत् न मोक्षान्तता इति न इह विवेचनम्।
—तन्त्रसार, आ० ११, पृष्ठ १२४।

२. शक्तिपातो मलक्षयात् स च शक्तिपातादितीतेरतराश्रयः।
—स्वच्छन्दतन्त्र, भाग ४, पटल ५, पृष्ठ ८१।

३. तन्त्रालोक भाग ८, आ० १३।२७९-२७७।

४. तारतम्यप्रकाशो यस्तीव्रमध्यममन्दताः।
ता एव शक्तिपातस्य प्रत्येकं त्रैधमास्थिता॥
—तन्त्रालोक भाग ८, आ० १३।१२९-१३०।

लगती है और वह भोगवैरस्य के आधिक्य से विषय-भोगों से जुगुप्सा करने लगता है तब उसे 'बुध्यमान' प्रमाता की संज्ञा से अभिहित किया जाता है[1]। इस 'बुध्यमान' प्रमातृभाव की प्राप्ति स्वच्छन्दतन्त्र में शक्तिपात से बताई गई है—

आयात शक्तिपातो बुद्ध्यमानः।[2]

शक्तिपात का प्रारम्भ और जीव मनु का बुध्यमान प्रमातृत्व

कामायनी के 'निर्वेद' सर्ग के अन्त में भोग्यभाव से अभिलषिता इड़ा और उससे सम्बन्धित भोग्यउपकरणों के प्रति जहाँ मनु में घृणा और तीव्र विराग का उदय होता हुआ दिखाई देता है, वहाँ उसे बुध्यमान प्रमाता की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है क्योंकि शैवशास्त्रों के अनुसार बुध्यमान प्रमाता वही कहलाता है जिसमें भोग-वैरस्य के परिणामस्वरूप विषय-भोगों के प्रति ललक न होकर जुगुप्सा होती है, यह ऊपर कहा जा चुका है। विषय-भोगों के प्रति वैरस्य और जगत् के प्रति वैराग्य के साथ यहाँ जीव मनु में अपनी अबोधरूपता तथा अपनी भोग-भ्रमित बुद्धि पर तीव्र खीझ के भी दर्शन होते हैं—

किन्तु अधम मैं समझ न पाया
उस मंगल की माया को,
और आज भी पकड़ रहा हूँ
हर्ष शोक की छाया को,
मेरा सब कुछ क्रोध-मोह के
उपादान से गठित हुआ,

---

१. बुध्यमानं लक्षयति

तदेवानिष्टरूपेण यदा भावयते पुमान्।
बुध्यमानस्तु स तदा तदेवेति विषयभोगादि ॥

एतदेव विभजति

यदा जुगुप्सते भोगान् शुभांश्चैवाशुभांस्तथा।
कृत्रिमानेव मन्येत परं वैराग्यमाश्रितः॥
मायाद्यवनिपर्यन्तमिन्द्रजालं तु बुध्यते।

मायेत्यादिना तत्तत्तत्वभुवनभोगेष्वपि भेदमयेषु अस्य विरक्तिर्दर्शिता ॥

—स्वच्छन्दतन्त्र, भाग ६, पटल ११।११२-११४।

२. स्वच्छन्दतन्त्र टीका, भाग ६, पटल ११, पृष्ठ ७९।

ऐसा ही अनुभव होता है
किरणों ने अब तक न छुआ।[1]

'किरणों ने अब तक न छुआ' कथन में मनु अपने में स्वरूप-ज्ञान की उन चिन्मयी किरणों का अभाव अनुभव करने लगा है जिनके स्फुरित होने पर ही वह समस्त दुखों से मुक्त हो सकता है। क्रोध-मोह-रूप अपने पारिमित्य के कारण क्षोभ-पूर्वक पारमार्थिक ज्ञान के प्रति मनु की यह उन्मुखता उसमें उदीयमान सज्ज्ञान की द्योतक है, जिसे शक्तिपात का अस्फुट-सा प्रारम्भ कहा जा सकता है।

वस्तुतः यह मनु पर पारमेश्वर शक्तिपात का सुस्पष्ट प्रारम्भ न होकर शक्तिपात के उषःकाल का प्रथम प्रकाश-सा प्रतीत होता है, क्योंकि यहाँ तक गुरुरूपा श्रद्धा के प्रति मनु की भक्ति का स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। शक्तिपात के स्फुट होते हुए इस प्रकाश में जीवात्मा मनु को श्रद्धा के द्वारा उपदिष्ट वचनों के प्रति आस्था होने लगी है—

तुमने हँस-हँस मुझे सिखाया
विश्व खेल है खेल चलो[2]।

यही नहीं, वह अपनी उस अबोधता के लिए पश्चाताप भी प्रकट करता है जिसके कारण वह श्रद्धा के द्वारा दी जाने वाली पारमार्थिक दृष्टि को ग्रहण न कर सका—

नहीं पा सका हूँ मैं जैसे
जो तुम देना चाह रही,
क्षुद्र पात्र! तुम उसमें कितनी
मधु-धारा हो ढाल रही[3]।

श्रद्धा के वचनों के प्रति मनु की अब तक की अनास्था का कारण यह है कि श्रद्धा मनु को जो 'निर्मल दृष्टि' देना चाह रही थी वह भक्त की अद्वैत दृष्टि थी, जिससे यह संसार-सागर आनन्द का 'क्रीड़ा-महासर' दिखाई पड़ता है[4]। किन्तु मनु का हृदय उस समय 'बुद्धि-तर्क के छिद्रों' से छिद्रित और भक्ति-

---

१. कामायनी, निर्वेद सर्ग, पृष्ठ २२७।

२. वही, पृष्ठ २२६।

३. कामायनी, निर्वेद सर्ग, पृष्ठ २२८।

४. जयन्ति ते जगद्वन्द्या दासास्ते जगतां विभो।
संसारार्णव एवैष येषां क्रीडामहासरः॥
—शिवस्तोत्रावली स्तो० ३।१५।

रहित था। अतः वह श्रद्धा के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व-दृष्टि को स्वगत न कर सका—

सब बाहर होता जाता है
स्वगत उसे मैं कर न सका,
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका[1]।

इस सम्बन्ध में शैव ग्रन्थों का भी स्पष्ट मत है कि तत्त्वोपदेश सुनने पर भी उसके प्रति ईश-कृपारूप भक्ति के बिना जीव की प्रवृत्ति नहीं होती और प्रवृत्ति के अभाव में जीव उपदिष्ट ज्ञान को स्वगत नहीं कर पाता[2]।

शक्तिपात से मनु में भक्ति का उदय

इसके विपरीत श्रद्धा के पूर्व उपदिष्ट वचनों में मनु को अब जो महत्त्व की प्रतीति हो रही है वह उसमें श्रद्धा के प्रति उदित होती हुई भक्ति का परिणाम है। श्रद्धा के प्रति मनु की भक्ति का स्पष्ट प्रमाण वहाँ मिलता है जहाँ वह श्रद्धा को भोग्या नारी मात्र न समझकर सर्वमंगला शक्तिरूप में पहिचानता है तथा उसे महती कहकर उसके प्रति अपनी भक्ति इन शब्दों में प्रकट करता है—

मनु के द्वारा श्रद्धा में शक्तितत्व-दर्शन

हे सर्वमंगले ! तुम महती,
सबका दुःख अपने पर सहती।
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा-निलय में हो रहती॥
मैं भूला हूँ तुमको निहार
नारी-सा ही, वह लघु विचार[3]।

श्रद्धा के प्रति मनु में भक्ति का यह उदय प्रसाद ने अपनी मान्यता के अनुसार ही यहाँ दिखाया है क्योंकि भक्ति के संबन्ध में उनका मत है कि 'भक्ति बिना पहचाने होती नहीं[4]।"

---

१. कामायनी, पृष्ठ २२८।

२. विना प्रसादादीशस्य
ज्ञानमेतन्न लभ्यते।
—स्वच्छन्दतंत्र, भाग ५ब, पटल १०।७०३।

३. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २४९।

४. चित्राधार ('भक्ति'), पृष्ठ १३८।

जीवात्मा मनु में श्रद्धा के प्रति भक्ति का यह उदय परमेश्वर के शक्तिपात का प्रारम्भ है क्योंकि काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार जीव में भक्ति का उदय परमेश्वर के शक्तिपात से होता है[1]। इसी कारण वहाँ भक्ति को शक्तिपात का प्रथम चिह्न कहा है—

भक्तिर्हि नाम शक्तिपातस्य प्रथमं चिह्नम्[2]।

डॉ० फतहसिंहजी ने श्रद्धा के प्रति मनु की उपर्युक्त भक्ति को शुद्ध भक्तिभाव की स्थिति माना है[3]। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि शुद्ध-भक्ति तो काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार भक्ति की वह पूर्ण दशा है जहाँ भक्ति और ज्ञान का समन्वय हो जाता है—

ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा।
त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तदर्शिता[4]॥

यही नहीं, वहाँ इस पूर्णा भक्ति को मोक्षरूप में स्वीकृत किया गया है[5]। पराकाष्ठा को प्राप्त यह मोक्षरूपा शुद्धभक्ति ही वहाँ शक्तिपात का परम प्रकाश कहलाती है[6]। परन्तु यहाँ ऊपर मनु में जिस प्रकार की भक्ति का स्वरूप उपलब्ध हो रहा है उससे वह (भक्ति) साध्यावस्था की अद्वैत भक्ति न होकर साधनावस्था की ही भक्ति है। साधनावस्था की इस भक्ति का उदय परमेश्वर के शक्तिपात का परम प्रकाश न होकर प्रारम्भ ही है। इस तथ्य का उल्लेख करते हुए तंत्रालोक में लिखा है कि भक्ति शक्तिपात का प्रथम चिह्न है, जिसे हम ऊपर प्रकट कर चुके हैं। इससे यही प्रतीत होता है कि उक्त विद्वान् शब्द

---

१. तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।
—मालिनीविजयवार्तिक, प्रथमकाण्ड, श्लो० ६९७।

२. तंत्रालोक टीका, भाग ८, पृष्ठ ५०।

३. कामायनी (अभिभाषण), पृष्ठ १८।

४. शिवस्तोत्रावली, स्तो० ६।१।

५. भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते।
—तंत्रालोक टीका, आ० १३, पृष्ठ १३७।

६. यत्परिमितेऽप्यात्मनि परिपूर्णचिदात्मतया यः परमः प्रकाशः, स परमः शक्तिपात उच्यते यतोऽवच्छेदवर्जितस्तत्तदुपाधिविगलनादनवच्छिन्न-संविदेकस्वभाव इत्यर्थः।
—तंत्रालोकटीका, भाग ८, पृष्ठ १५८।

मनु की भक्ति का स्वरूप

की गहराई में न जाकर 'शुद्ध भक्ति' के प्रयोग के द्वारा यहाँ संभवतः मुमुक्षु की भक्ति की ओर संकेत करना चाहते हैं और हमारी इस संभावना की पुष्टि उन्हीं के आगे के कथन से हो भी जाती है जहाँ वे मनु में आनन्द तत्त्व के प्रति तीव्र उत्कण्ठा का उल्लेख करते हैं[1]। आनन्द तत्त्व के प्रति तीव्र उत्कण्ठा के उल्लेख से मनु की यह उपर्युक्त भक्ति साधनावस्था की ही भक्ति प्रतीत होती है क्योंकि साध्यावस्था की 'शुद्धभक्ति' तो अभेद अवस्था की भक्ति होती है जिसमें स्वात्म-पूर्णता के परामर्श के कारण अन्य के प्रति उत्कण्ठा का अभाव रहता है।

आचार्य अभिनवगुप्त के 'परमार्थसार' में लिखा है कि दुःख-चक्रों में परितप्त एवं परमेश्वर के शक्तिपात से समुत्पन्न वैराग्य वाले जीव के भक्त-हृदय में परमार्थोपदेश पाने की अभिलाषा जाग्रत होती है। मनु के अब तक के जीवस्वरूप पर विचार करने से कामायनी में भी हम यही पाते हैं कि मनु दुःख-चक्रों से संतप्त है—

हाँ भाव-चक्र में पिस-पिसकर
चलता ही आया हूँ बढ़कर[3]।

गुरुरूपा श्रद्धा के प्रति मनु की मानस-पिपासा : मन्दतीव्र-शक्तिपात

दुःखों के संताप-आधिक्य के कारण संसार से विरक्त होकर जीव मनु शक्तिपात के उदय से दुःख-मुक्ति और परमार्श-लाभ की आकांक्षा-वश गुरुरूपा श्रद्धा के प्रति 'मानस-पिपासा' अर्थात् उन्मुखता प्रकट करता है—

लघुता मत देखो वक्ष चीर,
जिसमें अनुशय बन घुसा तीर[4]।

---

१. कामायनी (अभिभाषण), पृष्ठ १८।

२. (क) गर्भाधिवासपूर्वकमरणान्तकदुःखचक्रविभ्रान्तः।
आधारं भगवन्तं शिष्यः पप्रच्छ परमार्थम्।
—परमार्थसार, कारिका २।

(ख) एवं च यः समुत्पन्नवैराग्यः परमेश्वरानुग्रहशक्तिविद्धहृदयः
परमेश्वराकारं समुचितमपि गुरुं समासाद्य
परमाद्वयज्ञान अभिलषते।
—परमार्थसारटीका, पृष्ठ ८।

३. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५०।

४. वही, पृष्ठ २५०।

गुरु के प्रति मनु के मन की इस यियासा का स्पष्टतर रूप आगे देखा जा सकता है[1]। गुरुरूपा श्रद्धा के प्रति गृहीत शिष्यभाव मनु की यह यियासा 'मन्दतीव्र-शक्तिपात' का परिणाम है क्योंकि शक्तिपात के तारतम्य-प्रकाश की चर्चा करते हुए तंत्रालोक में तरतम-भाव से शक्तिपात के जिन नौ प्रकारों का[2] उल्लेख किया है उनमें 'मन्दतीव्र शक्तिपात' का स्वरूप-निरूपण करते हुए कहा गया है कि इससे शिष्यभाव-परिगृहीत जीव में गुरु के प्रति यियासा जागृत होती है[3]। यहाँ कामायनी में प्रसादजी ने शिष्य के बदले गुरु (श्रद्धा) को ही अनुग्रहवश शिष्य के पास पहुँचा दिया है। अतएव यहाँ मनु में स्थूल गत्यात्मक गुरु-यियासा दिखाई नहीं पड़ती क्योंकि गुरु जब निकट ही है तब ऐसी यियासा निरर्थक भी है। किन्तु गुरु के निकटस्थ होने पर भी जब तक शिष्य में गुरु के प्रति 'मानस-यियासा' अर्थात् गुरु-उन्मुखता नहीं होगी तब तक अपृष्ट गुरु के द्वारा तत्त्वकथन कराना भी अनुचित है। इसी कारण प्रसादजी ने यहाँ शिष्यभाव गृहीत मनु में गुरु-रूपिणी श्रद्धा के प्रति 'मानस-यियासा' प्रकट कराई है, जो ऊपर प्रकट की जा चुकी है।

संसारी जीव मनु के उद्धारार्थ गुरुभाव से श्रद्धा का अनुग्रह

जीवात्मा मनु की उपर्युक्त गुरु-उन्मुखता (मानस-यियासा) देखकर श्रद्धा गुरुभाव से उस पर पारमेश्वर शक्तिपात को प्रकट करते हुए कहती है —

तब चलो जहाँ पर शान्ति प्रात,
मैं नित्य तुम्हारी, सत्य बात[4]।

---

१. यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल।
—कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५४।

२. (क)—तारतम्यप्रकाशो यस्तीव्रमध्यममन्दताः।
ता एव शक्तिपातस्य प्रत्येकं त्रैधमास्थिताः॥
—तंत्रालोक, आ० १३। १२९-१३०।

(ख)—तीव्रतीव्रादिरूपतया अस्य (शक्तिपातस्य) नव प्रकाराः।
तंत्रालोकटीका, भाग ८, पृष्ठ ८६।

(ग)-स चायं शक्तिपातो नवधा। तंत्रसार, आ० ११ पृष्ठ ११९।

३. मन्दतीव्रात् शक्तिपातात् सद्गुरुविषया यियासा भवति।
—तंत्रसार आ० ११. पृष्ठ १२२।

४. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृ० २५०।

इसका कारण यह है कि जीवात्मा मनु की ऐसी ही अभिलाषा है, जिसे वह पहले यह कहकर प्रकट कर चुका है—

तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको
जहाँ, खोजता जाऊँगा[1]।

मनु की इस शान्तिखोज की अभिलाषा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए एक शोधकर्ता विद्वान् ने लिखा है कि "प्रातिभज्ञान और निर्वेद भावना के उदय होने पर मनु को श्रद्धा के उपदेशों का महत्त्व समझ में आता है और वे सबको खोजकर शान्ति खोजने लगते हैं[2]।" किन्तु इस मत में अनेक असंगतियाँ हैं। प्रथम तो यह कि उक्त शान्ति-खोज के अभिलाषी मनु में यहाँ प्रातिभज्ञान के उदय का उल्लेख असंगत है क्योंकि प्रातिभज्ञान जीव का सामान्य विकल्पात्मक ज्ञान न होकर वह पूर्णज्ञान है जिससे प्राणी को मुक्ति लाभ होता है[3], परन्तु मनु यहाँ अभी मुक्त न होकर मायीय जगत् का ही बद्ध जीव है। यदि वह मुक्त होता तो फिर अपने से बाहर अन्यत्र कहीं 'शान्ति खोजने जाने' की बात नहीं कहता क्योंकि मुक्त तो स्वात्म-पूर्ण होने के कारण निराशंस एवं अन्य-निरपेक्ष होता है। यदि थोड़ी देर के लिए उक्त विद्वान् के अनुसार मनु में यहाँ प्रातिभज्ञान का उदय मान भी लें तो प्रातिभज्ञान वाले मुक्तात्मा मनु की वह रहस्यात्मक साधना निरर्थक एवं असंगत होगी, जिसे वह रहस्य सर्ग में गुरुरूपा श्रद्धा के सहयोग से पूरी करता है। दूसरे, काश्मीरिक शैवों के अनुसार प्रातिभज्ञान का उदय दीक्षा के अनन्तर होता है[4], किन्तु उक्त शान्ति खोज का अभिलाषी मनु अभी अदीक्षित है। उनकी दीक्षा 'निर्वेद' सर्ग में उसके द्वारा अभिव्यक्त उपर्युक्त शान्तिखोज की अभिलाषा के पूर्व न होकर उससे आगे के 'दर्शन' नामक सर्ग में होती है, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी। तीसरे, शैवदर्शन के अनुसार शान्तिखोज की अभिलाषा का हेतु

१. कामायनी, निर्वेद सर्ग, पृ० २३०।

२. महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ६०८।

३. प्रातिभज्ञानमुत्तमम्।
यदा प्रतिभया युक्तस्तदा मुक्तश्च मोचयेत्॥
प्रातिभोऽस्य स्वभावस्तु केवलीभावसिद्धिदः।
—तंत्रालोक, भाग ८, आ० १३।१६६, १६९।

४. दीक्षासिच्छिन्नपाशत्वाद्भावनाभावितस्य हि।
विकासं तत्त्वमायाति प्रातिभं तदुदाहृतम्॥
—तंत्रालोक, आ० १३।१७४-१७५।

बताई जाने वाली उपर्युक्त निर्वेद भावना भी मनु के मलों की क्षयोन्मुखता का ही परिणाम है और मलों का क्षयोन्मुख होना परमेश्वर के शक्तिपात पर निर्भर है[1]। इस प्रकार मनु की भोगवैराग्यरूपा यह निर्वेद भावना भी परमेश्वर के शक्तिपात का ही फल है। निष्कर्ष यह है कि जीवात्मा मनु की उपर्युक्त शान्ति-खोज की अभिलाषा परमेश्वर के शक्तिपात के हल्के से प्रकाश से उदयोन्मुख (मनु की) सद्बुद्धि का फल है, किन्तु इस सद्बुद्धि को मुक्तिकारक प्रातिभज्ञान कहना सर्वथा अनुचित है।

शक्तिपातवश शान्ति-अभिलाषी बनकर मनु के उक्त-प्रकार से गुरु-उन्मुख होते ही श्रद्धा उसे दीक्षित करती है[2] क्योंकि शैवागमों के अनुसार भगवान् शिव की स्पष्ट आज्ञा है कि आयात-शक्तिपात जीव की दीक्षा के प्रति गुरु अवज्ञा न करे—

आयातशक्तिपातस्य दीक्षां प्रति न दैशिकः।
अवज्ञां विदधीतेति शंभुनाज्ञा निरूपिता[3] ॥

शैवशास्त्रों के अनुसार परमेश्वर के शक्तिपात का फल शिष्यभाव-गृहीत भक्त जीव को गुरु-अनुग्रह के द्वारा प्राप्त होता है और यह गुरु-अनुग्रह परमेश्वर के शक्तिपात का ही व्यावहारिक रूप है, क्योंकि कल्याणमूर्ति शिव ही

१. (क)—यः पुंसि परिमितात्मनि अपूर्णख्यातिरूपो बोधः
सैवाज्ञानरूपता। तन्निवृत्तौ च पारमेश्वर शक्तिपात
एव निमित्तम्।
—तंत्रालोकटीका, आ० १३, पृष्ठ १३५।

(ख)—वैराग्यं, भोगवैरस्यं धर्मः कोऽपि विवेकता
सत्संगः परमेशानपूजाद्यभ्यासनित्यता ॥
एतदुदयेऽपि ईशेच्छैव कारणम्।
—स्वच्छन्दतंत्र टीका, पटल ५, पृ० ९४।

२. दीक्षा दो प्रकार की मानी गई है—वैज्ञानिकी तथा प्राकृती। जैसे,
वैज्ञानिकी प्राकृती वा आचार्यस्य यदृच्छया।
.... दीक्षा भवति।
विज्ञानहेतुका वैज्ञानिकी। तिलाज्याहुतिहेतुका प्राकृती।
—स्वच्छन्दतंत्र, भाग २, पटल ४।५०६।
मनु की दीक्षा वैज्ञानिकी है।

३. तंत्रालोक, भाग ९, आ० १५।३५-३६।

संसारी जीवों के उद्धार के लिये गुरु के रूप में प्रकट होता है[1]। श्रद्धा भी जीवों पर अनुग्रह करने के लिए ही संसृति में अवतीर्ण होकर यहाँ गुरुभाव का व्यवहार करती है। अपने स्वातंत्र्य से गुरुरूप में अवतीर्ण होकर परमशिव ही उपदेश्य-उपदेशक भाव का लोक-व्यवहार चलाता है[2]। स्मरण रहे, संज्ञाभेद को छोड़कर शिव और शक्ति एक ही हैं। अतः गुरु के रूप में शिव के प्रकट होने या शक्ति के प्रकट होने में कोई अन्तर न होकर एक ही बात है। उपदेश्य-उपदेशक भाव के उपर्युक्त लोक-व्यवहार के व्युच्छिन्न हो जाने पर तो परमाद्वय ज्ञान के शास्त्र भी निष्प्रयोजन हो जायेंगे और फिर तो अज्ञानी जीवों में न कभी सन्मार्ग के प्रति प्रवृत्ति होगी और न कभी उनका उद्धार ही हो सकेगा।

गुरु : परमशिव का पार्थिवविग्रह

ऐसी स्थिति में परिपूर्णत्व की साधना के परिणाम में अनुभूत क्या तो निम्नांकित ऋषिवचन का मूल्य रह जायेगा—'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः[3]' और क्या इस अपूर्ण मानव जीवन का उद्देश्य रह जायेगा? इससे भी बढ़कर जो अनिष्टकारी बात होगी वह यह होगी कि इस उपदेश्य-उपदेशक भाव की लीला के बिना परमेश्वर के बन्धन और मोचनकारी स्वातंत्र्य-स्वभाव का प्रकाश (अभिव्यक्ति) ही नहीं हो सकेगा और स्वभाव के अप्रकाश की स्थिति में वह महेश्वर न रहकर घट-तुल्य हो जायगा[4]। उष्णत्वस्वभाव के प्रकाश के बिना क्या

---

१. (क)—यस्मान्महेश्वरः साक्षात्कृत्वा मानुषविग्रहम्।
कृपया गुरुरूपेण मग्नाः प्रोद्धरति प्रजाः।
—तंत्रालोक टीका, भाग ३, आ० ४ पृ० ८७८।

(ख)—शिव आचार्यरूपेण लोकानुग्रहकारकः।
—स्वच्छन्दतंत्र भाग २, पटल ४।४११।

२. गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्।
—विज्ञानभैरवविवृति, पृष्ठ ७।

३. छान्दोग्य उपनिषद् ७।२३।

४. यदि नाम महेश्वर प्रतिनियतेन केनचिद् रूपेण अवतिष्ठेत,
तदास्य घटादिन्यायेन माहेश्वर्यं संविद्रूपत्वं च न
स्यात्, एतदेव हि अस्य माहेश्वर्यं सविद्रूपत्वं च—
यत् तत्तदनियतवाच्यवाचकात्मना परिस्फुरेत् इति।
—तंत्रालोक टीका, भाग २, पृष्ठ १०९।

कभी अग्नि अपनी सत्ता का ज्ञान करा सकती है ? निश्चय ही नहीं। प्रश्न किया जा सकता है कि जब सत्ता है तब उसके स्वभाव के प्रकाश या अप्रकाश का क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्न का उत्तर हम 'प्रत्यभिज्ञा' का विवेचन करते समय आगे के अध्याय में देंगे।

गुरु-अनुग्रह के द्वारा जीव पर परमेश्वर का शक्तिपात

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुरु के अनुग्रह (शक्तिपात) के द्वारा ही जीव को परमेश्वर का अनुग्रह-लाभ होता है और परमेश्वर के पार्थिवविग्रह गुरु के अनुग्रह के व्यावहारिक रूप को ही शैव-शास्त्र की शब्दावली में दीक्षा कहते हैं। दीक्षा की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि आत्मज्ञानी गुरु के अनुग्रह के जिस व्यावहारिक रूप से शिष्य में पशु-वासना (जीवता) क्षीण होती है और उसकी शिवता का विमर्श उदित होता है उसे 'पाशक्षपण' और 'शिवपददानरूप' होने के कारण दीक्षा कहा गया है—

दीक्षा की परिभाषा

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता[1]॥

तन्त्रालोक में इस ज्ञानमयी (वैज्ञानिकी) दीक्षा के भेदों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि आत्मज्ञानी गुरु शक्तिपात के भाजन शिष्य को कभी अपने अवलोकनमात्र से, कभी अपने कथनमात्र से और कभी शास्त्रसम्बोधनादि से ही शिवस्वरूप का साक्षात्कार करा देता है[2]। तत्त्वदर्शी गुरु के उक्त अनुग्रह स्वरूप की व्याख्या करते हुए तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने लिखा है कि अनुग्रहभाजन शिष्य पर अपने तीव्र अनुग्रह के कारण गुरु अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति को उसमें संक्रान्त करता है। शिष्य में गुरु की आत्मशक्ति के इस संक्र-

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र टीका, भाग ३, पटल ५, पृष्ठ ७६।

२. (क)—सा चेयमनेकप्रकारा दीक्षेत्याह—

अस्या भेदा हि कथनात्संगमादवलोकनात्।
—तंत्रालोक आ० १३।२२७।

(ख)— एवं यियासुः गुरोः ज्ञानलक्षणां दीक्षां प्राप्नोति, अत्र अवलोकनात् कथनात् शास्त्रसंबोधनात् ········इत्यादयो भेदाः।
——तंत्रसार आ० ११, पृ० १२३।

मण से शिष्य का 'संवेदन' (बोध) भी तद्रूप हो जाता है और वह सर्वत्र शुद्ध चिन्मय आत्मस्वरूप का दर्शन करने लगता है[1]।

गुरुरूप-गृहीता पराशक्ति श्रद्धा के द्वारा मनु की 'कथन-दीक्षा'

शैवाद्वैतदर्शन के इसी उपर्युक्त आधार पर कामायनी में शक्तिपात के पात्र मनु पर अपने तीव्र अनुग्रह के कारण गुरुरूप-गृहीता पराशक्ति श्रद्धा अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति को मनु में संक्रान्त करती है और गुरुभाव से मनु से कहती है—

सब मुक्त बनें, काटेंगे भ्रम,
उनका रहस्य हो शुभ संयम ।
गिर जायेगा जो है अलीक,[2]

श्रद्धा के इस 'कथन मात्र' से ही उसकी संवित् शक्ति मनु में संक्रान्त होकर मनु की संवित्ति को भी निम्नांकित नीति से तद्रूप कर देती है—

दीपाद्दीपमिवोदितम्[3] ।

इसके फलस्वरूप मनु को सर्वत्र एक ही प्रकाशरूपा परासत्ता स्वात्मानन्द में स्पन्दित दिखाई पड़ती है—

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण-पटल की ग्रन्थि खोल[4] ।

क्षण भर में ही मनु को यहाँ परा सत्ता के स्पन्दन का जो दर्शन हुआ है वह मनु पर परमेश्वर के तीव्र शक्तिपात का द्योतक है। मनु पर अपने तीव्र शक्तिपात को अभिव्यक्त करने के लिए श्रद्धा पारमेश्वरी शक्ति होते हुए भी यहाँ गुरु की भूमिका में स्थित होकर तत्त्व-कथन के व्यवहार के द्वारा मनु में अपनी संवित् शक्ति को संक्रान्त करती है जिसके परिणाम-स्वरूप मनु को तत्क्षण परासत्ता को दर्शन होते हैं। गुरु-शिष्य-भाव के व्यवहार के द्वारा अभिव्यक्त यह शक्तिपात संज्ञक तीव्र अनुग्रह ही मनु की शैवदीक्षा है जिसे

---

१. तत्संवित्संक्रमाद्...... दीपाद्दीपमिवोदितम् ।
इति वक्ष्यमाणनीत्या निरुपायसमावेशभाक्त्वेन तत्सदृक्षा एव भवन्ति । —तन्त्रालोक आ० २, पृष्ठ ३४ ।

२. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५१ ।

३. तन्त्रालोक टीका आ० २, पृष्ठ ३४ ।

४. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५२ ।

पारमेश्वरी शक्ति श्रद्धा ने गुरुरूप ग्रहण करके सम्पन्न किया है। गुरुरूप श्रद्धा के कथन से होने वाली मनु की उक्त दीक्षा की पारिभाषिक संज्ञा "कथन-दीक्षा" होगी क्योंकि यहाँ श्रद्धा के कथन मात्र से ही जीवात्मा मनु के अलीकत्व अर्थात् स्वरूप-अख्याति-रूप पशुत्वाभिमान का क्षय और शिवत्व का उदय हुआ है। पारिभाषिक शब्दावली में मनु के पशुत्वाभिमान का क्षय दीक्षा का उपर्युक्त 'पाशक्षपण' है और शिवत्व का दर्शन (साक्षात्कार) शिवपद दर्शन या 'शिवपद-दान' है जिनसे यह दीक्षा कहलाती है। स्मरण रहे, ऊपर कहीं परमेश्वर के शक्तिपात और कहीं पारमेश्वरी शक्ति के शक्तिपात का उल्लेख होने पर भी यहाँ कोई सिद्धान्त-भेद नहीं है क्योंकि परमेश्वर (शिव) और पारमेश्वरी (शक्ति) एक ही परतत्त्व की दो संज्ञाएँ हैं। अतः परमेश्वर का शक्तिपात कहने में अथवा पारमेश्वरी शक्ति का शक्तिपात कहने में कोई अन्तर न होकर एक ही बात है।

श्रद्धा के द्वारा—"गिर जायेगा जो है अलीक" कहलाने में 'अलीक' शब्द कामायनीकार के दार्शनिक शब्द-प्रयोग के कौशल का परिचायक है क्योंकि परमार्थतः तो मनु भी चित्स्वरूप शिव ही है, किन्तु चित्स्वरूप होते हुए भी अचित्स्वरूप को अपने स्वरूप-भाव में ग्रहण कर वह संकुचित प्रमाता बना हुआ है। यही उसके अपने चित्स्वरूप की अख्याति है। यह 'अख्याति' उसका वस्तुस्वरूप न होकर माया द्वारा आपतित है। अतः यह परिमितरूपत्व (जीवत्व) उसका सत्यस्वरूप न होकर असत्यस्वरूप है। प्रमाता के ऐसे असत्यरूप विमर्श (अनात्म में आत्माभिमानरूप मिथ्याविकल्प) को 'अलीक' कहना निश्चय ही प्रसादजी के कथन की एक दार्शनिक विशेषता है।

मनु की उक्त दीक्षा में गुरु के कथनमात्र से हुए इस प्रथम तत्त्वदर्शन को देखकर यदि किसी को सिद्ध गुरुओं के ऐसे संवित्स्वातंत्र्य की सत्यता में अविश्वास की गन्ध आती हो तो वे दूर न जाकर इसी १९ वीं शताब्दि (ईस्वी) के बौद्धिकयुग की विभूति परमहंस श्री रामकृष्ण के जीवन पर ही दृष्टिपात करें। उनके जीवन की विचित्र घटनाओं से योग की शक्तियों की सत्यता नास्तिकों को भी माननी पड़ेगी। प्रामाणिक सूत्रों से संगृहीत श्री रामकृष्ण की जीवनी में नरेन्द्रनाथ (विवेकानन्द) की स्पर्श-दीक्षा के सम्बन्ध में स्वयं नरेन्द्रनाथ का ऐसा कथन है कि उनकी तीव्र जिज्ञासा के कारण श्री रामकृष्ण ने सामान्य ढंग से क्षणमात्र के लिए अपने हाथ से उनके (नरेन्द्रनाथ के) वक्षस्थल का स्पर्श कर दिया और श्री रामकृष्ण के इस स्पर्शमात्र से नरेन्द्रनाथ को अद्वैत

पद की प्राप्ति हो गई और उन्हें सर्वत्र भोज्यपदार्थों, मकानों, वृक्षों आदि सभी वस्तुओं में प्रकाशात्मा ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई देने लगा[1]।

इस स्पर्श-दीक्षा से कश्मीर के शैव भी अनभिज्ञ न थे। उनके यहाँ भी स्पर्श-दीक्षा का विधान है[2]। महामाहेश्वराचार्य श्री अभिनवगुप्त के शब्दों में तथ्य तो यह है कि जीव पर परमेश्वर का शक्तिपात होने पर जिस किसी भी अनुग्रह-उपाय से (दीक्षा से) गुरु उसका उद्धार करता है वही जीवात्मा के शिव-साक्षात्कार का कारण बन जाता है—

शक्तिपातोदये जन्तोर्येनोपायेन दैशिकः।
करोत्युद्धरणं तत्तन्निर्वाणायास्य कल्पते॥
उद्धर्ता देवदेवो हि स चाचिन्त्यप्रभावकः।
उपायं गुरुदीक्षादिद्वारमात्रेण संश्रयेत्[3]॥

'कथन-दीक्षा' से दीक्षित मनु को प्रथम परतत्त्व-दर्शन

श्रद्धा ने अपने तीव्र शक्तिपात से मनु के अज्ञानान्धकार को विगलित करते हुए उसे परासत्ता का जो स्वरूप-दर्शन कराया है उसका वर्णन कामायनीकार ने ऐसे ढंग से किया है जैसे कि वह किसी की साक्षात् तत्त्वानुभूति का वर्णन हो। परमहंस श्री रामकृष्ण के उक्त क्षणिक स्पर्श की भाँति आत्मदर्शी गुरु श्रद्धा का यह कहना भर था—"गिर जायेगा जो है अलीक"—कि आकाश से पृथिवी पर्यन्त घना अन्धकार बन कर फैला हुआ जो अनन्त शून्य दिखाई दे रहा था वही प्रकाश-उन्मेष के लिए भूमिका बन गया—

वह शून्य असत या अन्धकार,
अवकाश पटल का वार-पार।
बाहर-भीतर उन्मुक्त सघन,
था अचल महा नीला अञ्जन।
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन[4]॥

---

१. लाइफ आफ श्री रामकृष्ण
(कम्पाइल्ड फ्राम वेरियस औथेन्टिक सो'रसेज) पृष्ठ, ३४४।

२. स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मंत्रवीर्यप्रकाशकः।
दृष्टाः संभाषितास्तेन स्पृष्टाश्च प्रीतचेतसा॥
नराः पापैः प्रमुच्यन्ते सप्तजन्मकृतैरपि।
—जन्ममरणविचार में उद्धृत, पृष्ठ ५।

३. तंत्रालोक भाग १०, आ० २५।२२-२४।

४. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५१।

'अनन्तशून्य' की इस 'स्निग्ध मलिन भूमिका' पर मनु के, जिज्ञासा भरे निर्निमेष नेत्रों से, देखते-ही देखते तत्क्षण अव्यक्त के आवरण-पटल को विगलित कर परा सत्ता का चित्प्रकाश स्पन्दित हो उठा। उक्त 'शून्य' की भूमिका पर उन्मिषित चित्प्रकाश 'तम जलनिधि' में आ मिली 'ज्योत्स्ना-सरिता'-सा प्रतीत होने लगा। चित्प्रकाश की उस ज्योत्स्ना-सरिता से आलिंगित होकर उपर्युक्त भूमिका संज्ञक 'शून्य, असत या अंधकार' मथित होने लगा और उस मंथन के परिणामस्वरूप वह (अंधकार) चित्प्रकाश के साथ समरसीभूत (प्रकाशरूप) हो गया। चित्प्रकाश की ऐसी समरसता से एकरस 'आलोक पुरुष' (शक्तिमान् शिव या महेश्वर) का आविर्भाव हुआ—

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रंथि खोल,
तम-जलनिधि का बन मधु मंथन,
ज्योत्स्ना सरिता का आलिंगन,
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन
आलोक पुरुष! मंगल चेतन![1]

यह पद पूर्व उद्धृत पद के ठीक बाद में आया है और इसका यह अनुक्रम दार्शनिक सिद्धान्त की अभिव्यक्ति की प्रेरणावश ही है। उपर्युक्त पद की प्रथम पंक्ति के आरंभ में जिसे 'सत्ता' कहा गया है वह पारमार्थिक चित्सत्ता है और उसी के अव्यक्त, अनुत्तर स्वरूप की पूर्ण व्यंजना कवि ने उसे पूर्वोद्धृत पद में 'शून्य असत या अंधकार' कह कर की है, किन्तु इसके साथ यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रस्तुत प्रसंग मनु के प्रथम तत्त्व-दर्शन का है, उसकी शैवी दशा का है। इसलिए सत्ता के अव्यक्त दशा से व्यक्त दशा में आने को दोहरे अर्थ में ग्रहण करना होगा क्योंकि ऐसा किए बिना हम कवि के मूल विचार को नहीं पकड़ सकेंगे। चित्सत्ता परा दशा नामक अपनी अव्यक्त अवस्था से विश्वोन्मीलन में भी व्यक्त होती है और मायीय सृष्टि के जीवों में अनभिव्यक्त (अव्यक्त) रहती हुई उनकी आत्म-प्रत्यभिज्ञा (स्वात्मशक्तिविकस्वरता) में भी व्यक्त होती है। अव्यक्त से व्यक्त होने की पहली (विश्वोन्मीलनरूपा) दशा शिव की अवरोहणमूलक क्रीड़ा है, जिसे विमर्शका उन्मेष और प्रकाश का निमेष कहा जाता है और दूसरी (चित् शक्ति की अभिव्यक्तिरूपा) दशा आरोहण मूलक क्रीड़ा है।

---

१. कामायनी, दर्शन सर्ग, पृ० २५२।

इसे प्रकाश का उन्मेष और विमर्श का निमेष कहा जाता है[1]। इसी विचार से भगवान् शिव की शक्ति को 'युगपदेव उन्मेषनिमेषमयी' कहा है। सारांश यह है कि सत्ता दोनों ही अवस्थाओं में अव्यक्त से व्यक्त होती है। इसलिए 'शून्य', 'असत्' और 'अन्धकार' यहाँ प्रसग के अनुरोध से दोनों अर्थोंकी व्यंजना करते हैं। परा दशा के संदर्भ में (अपने पारिभाषिक सामर्थ्य से) ये सत्ता के अव्यक्त, संविन्मात्र, तुर्यातीत रूप को प्रकट करते हैं। तंत्रालोक में इस सम्बन्ध में लिखा है कि शुद्ध, सविन्मात्र, तुर्यातीत परतत्त्व, संपूर्ण प्रमेयात्मक भावों से रहित होकर विविक्त नभ के सदृश निरावरणरूप में स्थित रहता है। यही परा-संवित् का शून्यरूपत्व है[2]। इसे ही निष्कल परमशिव या चिति संज्ञा से अभिहित किया का जाता है[3]। वस्तुतः यह स्वात्म-विश्रान्ति की परा दशा है जिसका परमार्थतः न उपदेश दिया जा सकता है और न भावना की जा सकती है क्योंकि यह केवल 'अन्तः स्वानुभवानन्द गोचरा'[4] है। उक्त परादशा को सम्पूर्ण प्रमेयात्मक भावों के प्रक्षीण या अहन्तया दन्तर्भूत होने के कारण शून्य कहा जाता है,[5] अन्यथा वह परमार्थतः शून्य न होकर स्वप्रकाशरूप सत्ता ही है[6]। ऐसा लगता है कि कामायनी की पूर्वोक्त पंक्ति में 'शून्य' शब्द का प्रयोग शैवों के पारिभाषिक अर्थ में निष्कल परमशिव के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'असत्'

---

१. शिवादेः क्षित्यन्तस्याशेषस्य तत्त्वग्रामस्य प्राक्सृष्टस्य संहर्तृरूपा या निमेषभूरसावेवोद्भविष्यद्दशापेक्षया स्रष्टृरूपोन्मेषभूमिस्तथा विश्वनिमेषभूश्चिद्घनतोन्मेषसारा चिद्घनतानिमज्जनभूमिरपि विश्वोन्मेषरूपा।

—स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ ४।

२. संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाशपरमार्थकम्।
तन्मेयमात्मनः प्रोज्य विविक्तं भासते नभः॥
तदेव शून्यरूपत्वं संविदः परिगीयते।

—तंत्रालोक भाग ४, आ० ६।९-१०।

३. चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परा संवित्।

—तंत्रालोक टीका भाग ३, पृष्ठ ४०४।

४. विज्ञानभैरव १५।

५. अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः। —स्वच्छन्दतंत्र ४।२९१।

६. शून्यं न शून्यं परमार्थतः।

—तंत्रालोक टीका भाग ४, पृष्ठ ९।

(असत्) शब्द का प्रयोग भी उसी के लिए है। ऋग्वेद में कहा गया है कि देवों के पूर्व युग में असत् से सत् का जन्म हुआ—

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत।[1]

इसका अभिप्राय यह है कि आरंभ में कोई एक असत् (अव्यक्त) तत्त्व था जिससे सत् (व्यक्त) का आविर्भाव हुआ। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि "ऋग्वेद में सृष्टि के मूल कारण को 'आपः' या 'सलिलम्' कहा है—

तम आसीत्तमसा गूह्लमग्रे
अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

नासदीय सूक्त, ऋ. १०।१२९।३

प्राक् सृष्टिकालीन अवस्था में तम को तम ने छिपा रखा था। यहाँ पहला तम केन्द्रस्थ गुहातत्त्व या अव्यक्त का उपलक्षण है। उसे 'स्वयंभू' भी कहते हैं। दूसरा तम शब्द उस परमेष्ठी के लिए है, जो 'विराज्' भी कहा जाता है और जिसे रूपरहित अभिव्यक्ति कह सकते हैं। 'विराज्' ऐसी समष्टि की संज्ञा है, जिसमें केवल भाव विज्ञान या अर्थ की सत्ता की कल्पना की जा सकती है, किन्तु व्यष्टि या केन्द्र के रूप में जो अभी प्रकट नहीं हुआ है। यही तम के भीतर गूढ तम या अव्यक्त के भीतर लीन समष्टि का रूप है। पहला तम अनुपाख्य है,अर्थात् जिसके विषय में किसी प्रकार का कथन नहीं किया जा सकता"[2] काश्मीर शैवदर्शन के आचार्यों का मत भी इससे भिन्न नहीं है। उन्होंने उक्त अनुपाख्य तम या अप्रतर्क्य दशा को ही अनुत्तर कहा है—

उत्तरं च शब्दनं तत् सर्वथा "ईदृशं तादृशं" इति व्यवच्छेदं कुर्यात्। तद् यत्र न भवति अव्यवच्छिन्नमिदमनुत्तरं[3]। अर्थात् अनुत्तर परमार्थतः अकथ्य है। उसे 'ईदृश', 'तादृश' आदि किसी भी विशिष्टता से युक्त नहीं कहा जा सकता।

प्रसादजी ने भी तम के पर्यायवाची शब्द अंधकार का प्रयोग यहाँ 'सत्ता' की एकरस, अभेदमयी, अव्यक्त दशा की व्यंजना के लिए किया है। इसका कारण यह है कि अंधकार या रात्रि में सब रूप विलीन हो जाते हैं और अंधकार की एकरसरूपता ही शेष रहती है। अतः उससे सम्पूर्ण प्रमेयात्मक भावों से रहित, पूर्ण संवित् के चिद्घन या अव्यक्तभाव का बोध सहज ही कराया जा सकता

---

१. ऋग्वेद १०।७२।२।
२. 'हिरण्यगर्भ' लेख।
३. परात्रिंशिका विवरण, पृ० १९।

है। उपर्युक्त अव्यक्त चेतना के लिए अन्धकार की भावना को बढ़ाकर प्रसादजी महारात्रि तक ले गये हैं, जो सृष्टि और प्रलय की संध्या है, जिसमें सारे नामरूपों का लय हो जाता है--

चेतना लहर न उठेगी जीवन समुद्र थिर होगा।
संध्या हो सर्ग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा॥[१]

'देवरथ' कहानी में तो उन्होंने अव्यक्त सत्ता का स्वरूप बोध कराने के लिए स्पष्टतः ही लिखा है--

"नीलाम्बुधि का महान संभार किसी वास्तविकता की ओर संकेत कर रहा था। सत्ता की सम्पूर्णता धुंधली संध्या में मूर्तिमान् हो रही थी[२]।" निष्कर्ष यह है कि 'सत्ता की सम्पूर्णता' या परमभाव को प्रकट करने में वाणी अशक्त है क्योंकि परमभाव शब्दातीत है। अतएव उसके पूर्ण या अव्यक्त रूप को समझाने के लिए प्रसादजी ने यहाँ अद्वैत दर्शन-गृहीत 'शून्य', 'असत्' और 'अंधकार' जैसे प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। ये तीनों शब्द सत्ता की निस्तरंग महोदधिकल्पता को प्रकट करते हैं।

उपर्युक्त निस्तरंग महोदधिकल्प परमशिव वस्तुतः चित् और आनन्द अथवा प्रकाश और विमर्श के सामरस्य का परम भाव है। आनन्द या विमर्श की ही संज्ञा स्पन्द है। यह स्पन्द परासत्ता या परमशिव की स्वातंत्र्यशक्ति है, उसका कर्तृत्व-स्वभाव है और अपने इस स्वभाव में ही उसकी महेश्वरता है। स्पन्दरूप कर्तृत्व-स्वभाव के बिना तो वह स्फटिक आदि की भांति जड़ ही है। स्वातन्त्र्यात्मक स्पन्दशक्ति से रहित शिव जैसे सामरस्यवादी शैवों को मान्य नहीं[३] वैसे ही प्रसादजी भी कर्तृत्वशून्य शिव या ब्रह्म को निरर्थक मानते हैं--

ऐसो ब्रह्म लेइ का करिहैं ?
जो नहिं करत, सुनत नहिं जो कछु, जो जन पीर न हरिहै[४]॥

उनका परमेश्वर तो नित्य 'शक्तिमान' है, कर्तृत्वशक्ति से पूर्ण है--

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पन्द्रहवाँ संस्करण, पृ० ६४९।

२. इन्द्रजाल, द्वि० सं०, पृष्ठ ६८।

३. नपुंसकमिदं नाथ परं ब्रह्म फलेत्कियत्।
त्वत्पौरुषी नियोक्त्री चेन्न स्यात्त्वद्भक्तिसुन्दरी॥
—स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ १८।

४. चित्राधार ('मकरन्द बिन्दु' कविता), पृ० १८६।

संसार को सदय पालत जौन स्वामी ।
वा शक्तिमान परमेश्वर को नमामी[1] ॥

यही कारण है कि उन्होंने पूर्वोद्धृत पद में 'सत्ता' के साथ उसके 'स्पन्दन' (स्पन्द)—स्वभाव का भी उल्लेख किया है—'सत्ता का स्पन्दन चला डोल'। 'स्पन्दन' के साथ 'चला डोल' क्रिया का प्रयोग भी यहाँ सार्थक तथा महत्त्वपूर्ण है। 'चला डोल' क्रिया स्पन्दशक्ति के विश्व-रचना के प्रति अत्यन्त सूक्ष्म अभिलाषाभर के औन्मुख्य को व्यंजित करती है। यह सामरस्य की स्थिति में ही विश्रान्त परमशिव का आनंद-उच्छलन है जिससे परमशिव के लिए 'शक्ति' और 'शक्तिमत्' इन दो स्वरूप-व्यंजक संज्ञाओं का प्रयोग होता है। 'शक्तिमत' प्रकाश का पर्याय है और 'शक्ति' विमर्श का। शिव की प्रकाशरूपता को व्यंजित करने के लिए यहाँ जैसे उसे 'आलोक पुरुष' और 'रजत गौर' कहा गया है वैसे ही उसकी विमर्शरूपता को व्यञ्जित करने के लिए 'स्पन्दन' और 'उज्ज्वल जीवन' जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। उपर्युक्त 'जीवन' शब्द उसकी 'जीवन-क्रिया' का द्योतक है क्योंकि जीवन ही जीवन-कर्तृत्व है और जो जीवन-कर्तृत्व है वह ज्ञानक्रियात्मक है। शैवाचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि जो जानता है (जानाति) और करता है (करोति) वही जीवित कहलाता है[2]। 'जीवन' शब्द से पहले 'उज्ज्वल' विशेषण के प्रयोग द्वारा कामायनीकार ने यह भी प्रकट किया है कि शिव या 'आलोक पुरुष' का उक्त जीवन कर्तृत्व अर्थात् उसकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति संकुचित प्रमाता की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की भाँति अवच्छिन्न न होकर अनवच्छिन्न है। यह अनवच्छिन्नता ही उसकी शुद्ध ज्ञातृ-कर्तृरूपता है। शिव की इस शुद्ध ज्ञातृ-कर्तृरूपता को प्रकट करने के लिए ही पूर्वोक्त पंक्ति में जीवन (जीवन-कर्तृत्व) से पूर्व 'उज्ज्वल' विशेषण का प्रयोग किया गया है। उक्त शुद्ध ज्ञातृत्व-कर्तृत्वरूप स्वातंत्र्य से शिव स्वात्मपूर्ण होता है। स्वात्म-पूर्णतावश उसमें रहने वाली निराशंसता ही उसकी अन्य-निरपेक्षता है, जिसे शैवों ने आनन्द कहा है।[3] इस आनन्द में स्थित शिव अपने कर्तृत्व-स्वभाव (स्वातंत्र्यशक्ति) से जीवों पर अनुग्रह करने के लिए जगत्-लीला करता है क्योंकि ऐसा करना उसका नित्य (अनुग्रहकारी) स्वभाव

---

१. चित्राधार ('विनय') पृ० १५५ ।

२. जीवनं च जीवनकर्तृत्वं तच्च ज्ञानक्रियात्मकं, यो हि जानाति च करोति च स जीवति इत्युच्यते ।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग १, पृ० ४३।

३. अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः ।—वही, पृ० २०७ ।

है। शिव के उक्त अनुग्रहकारी स्वभाव को प्रकट करने के लिए प्रसाद जी ने यहाँ 'चेतन' के साथ 'मंगल' शब्द का साभिप्राय प्रयोग किया है—

आलोक पुरुष ! मंगल चेतन ![1]

कामायनीतर रचनाओं में भी उन्होंने शिव के ऐसे कल्याणकारी स्वभाव का उल्लेख किया है।[2] अन्धकार की भूमिका पर 'आलोक पुरुष' का आविर्भाव सत्ता की अव्यक्त अवस्था से व्यक्त होने की अवस्था है जिसमें वस्तुतः अनाभासरूप परमशिव उपदेश और भावना में प्रकाश-विमर्शरूप से भासमान हो रहा है। प्रकाश के प्राधान्य के विचार से उसे शिव या शक्तिमान् कहा जाता है, किन्तु प्रकाश विमर्श से रहित नहीं। इसलिए विमर्श के प्राधान्य के प्रयोजन से उसे ही शक्ति कहा जाता है। शक्ति और शक्तिमान् एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। अपनी अभिन्न शक्ति से युक्त शक्तिमान् ही महेश्वर या नटराज शिव है। उक्त नटराज शिव ही यहाँ मनु को निज शक्ति से स्पन्दमान प्रकाश-जलधि बना हुआ दृष्टिगोचर हुआ है—

केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु किरणों की थी लहर लोल[3]।

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली से भी यह तथ्य सुस्पष्ट है कि यहाँ महेश्वर या नटराज शिव का शक्ति से समरस स्वरूप प्रकट किया गया है। 'केवल प्रकाश का था कलोल' पंक्ति से 'बोधजलधि' तुल्य शक्तिमान् का और 'मधु किरणों की थी लोल लहर' पंक्ति से आनन्दमयी 'चेतना लहर'-तुल्य शक्ति का स्वरूप-द्योतन करते हुए शक्तिसामरस्य में स्पन्दमान नटराज शिव का अद्वैतस्वरूप प्रकट किया गया है। यह अद्वैतरूप शिवत्व या महेश्वरत्व ही प्राणी का यथार्थ शुद्ध स्वभाव है, किन्तु सब को इसकी अनुभूति नहीं होती। उक्त महेश्वरत्व की स्व-स्वभावरूप में पूर्ण अनुभूति होने पर ही प्राणी अखिल विश्व को आत्म-शक्ति के विकासरूप में आलिंगित करके पूर्ण अहन्ता के अखण्ड आनन्द में विश्रान्त होता है। यही प्राणी की 'स्ववश' रहने वाली आनन्द की स्थिति है जो 'इरावती' में भी ब्रह्मचारी के कथन में अत्यन्त स्पष्ट हो गई है—

"चारों ओर उजला उजला प्रकाश जैसा; जिसमें त्याग और ग्रहण अपनी स्वतंत्र सत्ता अलग बनाकर लड़ते नहीं। विश्व का उज्ज्वल पक्ष अन्धकार की

१. कामायनी, दर्शन सर्ग।

२. देखिए यही प्रबन्ध, पृ० १५०।

३. कामायनी, दर्शन सर्ग।

भूमिका पर नृत्य करता सा दीख पड़े, सब को आलिंगित करके आत्मा का आनंद, स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहे यह स्थिति क्या अच्छी नहीं ?"[1]

यहाँ यह विशेषरूप से लक्ष्य करने की बात है कि 'शून्य, असत या अन्धकार' की भूमिका पर 'सत्ता का स्पन्दन चला डोल' के उल्लेख के अनुक्रम में 'केवलप्रकाश का था कलोल' इस स्वरूप वाले जिस 'रजत-गौर, उज्ज्वल जीवन, आलोक पुरुष' को 'नृत्य-निरत' दिखाया गया है वह नटराज शिव है। उसी का स्वरूप उपर्युद्धृत गद्यांश में स्पष्ट किया गया है और साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि उसे स्वात्म-स्वरूप में विमृष्ट करने पर ही 'आत्मा का आनन्द' स्ववश रहता है। यहाँ यह उल्लेख करना भी महत्त्वपूर्ण है कि श्रद्धा के तीव्रशक्तिपात से मनु के 'प्रथम तत्त्वदर्शन' में उसे अन्धकार की भूमिका पर जिस उज्ज्वल जीवन, आलोक पुरुष का साक्षात्कार हुआ है वह उसका (मनु का) अपना पारमार्थिक स्वभाव—महेश्वरत्व—है। इसी कारण अपनी आत्म-प्रत्यभिज्ञा से वह स्वयं उक्त महेश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है, शिवरूप हो जाता है। उसके उस शिवरूप को ही मूर्तिमान् करने के लिए उसे 'आनन्द' सर्ग में 'निज शक्ति तरंगायित आनन्द-अम्बु निधि' कहा है—

चिर-मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति तरंगायित था
आनंद-अंबु-निधि शोभन।[2]

'दर्शन' सर्ग में नटराज शिव के स्वरूप-चित्रण में प्रयुक्त 'चेतन' और 'पुरुष' (आलोक पुरुष) शब्दों का यहाँ मनु के लिए ('वह चेतन पुरुष पुरातन') प्रयोग निर्विवाद रूप से यह सिद्ध करता है कि 'दर्शन' सर्ग के नटराज शिव और 'आनन्द' सर्ग के प्रत्यभिज्ञातात्मा मनु में कोई भेद नहीं है। यही शैवों का अद्वैतवाद और सामरस्यवाला आनन्दवादी विचार है जिसमें त्याग और ग्रहण, निवृत्ति और प्रवृत्ति में से किसी एक की साधना व प्राप्ति को महत्त्व न देकर इन दोनों के सामरस्य में ही जीवन की पूर्णता मानी गई है। यही श्रद्धा के उपदेश का सार है। 'इरावती' की भी पूर्वोद्धृत पंक्तियों में यही भाव प्रकट हुआ है।

---

१. पृ० १०४।
२. पृष्ठ २८६।

उपर्युक्त 'आलोक पुरुष' के स्वरूपोन्मेष के वर्णन में नटराज शिव की उन पाँचों शक्तियों का भी स्पष्ट संकेत मिलता है जिनसे वह नित्ययुक्त रहता है और पञ्चकृत्यमहानाट्य की क्रीड़ा करता है।

शिव की पाँचों शक्तियाँ

'रजत-गौर, आलोक पुरुष' शब्दों के प्रयोग से उसे प्रकाशरूप बताया गया है। उसकी यह प्रकाशरूपता ही उसकी चित् शक्ति है।[1] 'सत्ता का स्पन्दन चला डोल' चरण में प्रयुक्त स्पन्दन या स्पन्द शब्द के द्वारा शिव के स्वातंत्र्य का उल्लेख हुआ है क्योंकि काश्मीर शैवदर्शन में शिव के स्वातंत्र्य की ही संज्ञा 'स्पन्द' है। इस स्पन्द अर्थात् स्वातंत्र्य को ही शिव की आनंदशक्ति कहा गया है[2]। शिव का आनन्द उसके स्वातंत्र्य के विमर्श पर निर्भर है और स्वातंत्र्य के उक्त विमर्श को ही 'शिवदृष्टिवृत्ति' में 'चमत्कार' कहा है[3] तथा चमत्कार को ही 'तंत्रसार' में शिव की इच्छाशक्ति बताया गया है[4]। उक्त इच्छाशक्ति 'स्पन्द' या स्पन्दशक्ति का ही प्रविकास है जिसे प्रस्तुत प्रसंग में 'चला डोल' क्रिया से अभिव्यक्त किया है। आलोक पुरुष (शिव) के लिए 'उज्ज्वल जीवन' का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि वह 'जीवन' अर्थात् जीवनकर्तृत्व से युक्त है और जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, इस जीवनकर्तृत्व को आचार्य अभिनवगुप्त ने ज्ञान-क्रियात्मक बताया है। यह ज्ञान-क्रियात्मक जीवनकर्तृत्व 'आलोक पुरुष' का मायोत्तीर्ण जीवनकर्तृत्व है, इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए 'जीवन' से पूर्व 'उज्ज्वल' विशेषण का प्रयोग किया गया है। उपर्युक्त 'उज्ज्वल' (मायोत्तीर्ण) 'जीवन' के ज्ञान-क्रियात्मकस्वरूप से शिव की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की व्यञ्जना होती है। इनका स्पष्ट रूप शिव के ताण्डव-नृत्य में मिल भी जाता है। अपनी इन पाँच मुख्य शक्तियों से समरसीभूत शिव नित्य आनन्दपूर्ण रहता है, इसी तथ्य की पूर्ण एवं सशक्त अभिव्यक्ति के लिए ताण्डव-नृत्य में प्रकटित पञ्चविध कृत्यों को करते हुए भी नटराज शिव को समरस कहा गया है—

समरस अखण्ड आनन्दवेश[5]।

---

१. प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः।—तंत्रसार, पृष्ठ ६।

२. स्वातंत्र्यं आनन्दशक्तिः।—वही।

३. चिद्रूपस्य शिवभट्टारकस्य धर्मः स्वभावो यो विभवः पंचविधकृत्यनिर्वृ-त्तियोग्यता, तस्यामोदश्चमत्कारस्तथास्वरूपपरामर्शरूपः।—पृष्ठ १०।

४. तच्चत्कार इच्छाशक्तिः।—तंत्रसार, पृष्ठ ६।

५. कामायनी, पृष्ठ २५४।

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, मनु को यहाँ श्रद्धा के तीव्रशक्तिपात से नटराज शिव के दर्शन हुए हैं। शिव के दर्शन कराने के लिए गृहीतगुरुरूपा पारमेश्वरी शक्ति श्रद्धा ने अपनी संवित् शक्ति को जीवात्मा मनु की परिमितीभूत संवित् में संक्रान्त किया, जिससे मनु की संवित् भी तद्रूप हो गई। ऐसा होने पर ही उसे सर्वत्र एक चित्प्रकाश की, 'आलोक पुरुष' या नटराज के रूप में परिव्याप्ति के दर्शन हुए हैं। सर्वत्र एक चित्सत्ता के दर्शन होने का तात्पर्य यह है कि ऐसे दर्शन कराने वाली मनु की विमर्श शक्ति या संवित् शक्ति, ऐसे दर्शन होते समय, परिमित रूप वाली संवित् शक्ति न होकर पूर्णरूपा संवित् शक्ति ही है, यद्यपि मनु की संवित् शक्ति को यह पूर्णता-लाभ श्रद्धा के तीव्रशक्तिपात से हुआ है। यदि मनु की संवित् परिमित ही बनी रहती तो उसके द्वारा सर्वत्र चित्प्रकाश की परिव्याप्तिके दर्शन करना संभव न था। इससे यह निष्कर्ष निकला कि अनुग्रहातिरेकवश श्रद्धा के द्वारा अपनी संवित् शक्ति को मनु में संक्रान्त करने पर मनु की परिमित संविद्रूपता में समयविशेष के लिए जो पूर्णता का उन्मेष हुआ उसी से उसे शिव के दर्शन हुए हैं। मनु की संवित् के इस पूर्णता के सूक्ष्मतम उन्मेष-क्रम को समझने में भी 'आलोक पुरुष' के आविर्भाव से सम्बन्धित उपर्युक्त वर्णन सहायक होता है।

गत पृष्ठों में हम यह संकेत कर चुके हैं कि शून्य या अंधकार जीवात्मा मनु के शुद्ध संवित्स्वभाव के व्यक्त होने से पूर्व की, उसके उक्त स्वभाव की अव्यक्त किंवा अनभिव्यक्त दशा का (और तद्वशात् दुःख की दशा का) भी प्रतीक है। इस तथ्य का संकेत प्रसादजी ने 'इरावती' में नटराज शिव के ताण्डव नृत्य के प्रसंग में भी किया है। उन्होंने वहाँ अंधकार को दुःख का रूप मानकर उसे नटराज के अग्नि-ताण्डव से जलता हुआ दिखाया है—

उसी दिन से वह (इरावती) अपने ऊपर विचार करने लगी। वह सुनने लगी—"दुःख का अंधकार, नटराज के अग्नि-ताण्डव से जल रहा है। देखो, सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभव और अनुग्रह की नित्य लीला से समस्त अवकाश भर उठा है। आत्मशक्ति के विस्मृत विद्युत्कण! अपने स्वरूप में चमक उठो! उठो, मंगलमय जागरण के लिए विषाद-निद्रा से उठो।[1]" (यहाँ 'दर्शन' सर्ग में भी तो अंधकार का विगलन नटराज के 'ताण्डव' के प्रसंग में ही उपस्थित हुआ है)

सृष्टि, स्थिति आदि पंचविधकृत्यों की नित्य लीला में शिव के महैश्वर्य को सर्वत्र मूर्तिमान् दिखाते हुए 'आत्मशक्ति के विस्मृत विद्युत्कण' को उस महै-

१. इरावती (च० सं०), पृष्ठ ५०।

श्वर्य को आत्म-शक्ति के रूप में पहचान कर 'अपने स्वरूप में चमक उठने' का जो उद्बोधन ऊपर किया गया है वह कामायनी के आलोच्य विचारों की ही विवृति प्रतीत होती है।

यहाँ प्रसंग मनु के अज्ञान के क्षय और संवित्स्वभाव के उदय का है। अतः 'चेतनपद' से अवरूढ मनु के (श्रद्धा के तीव्रशक्तिपात से) पुनः उक्त पद पर आरोहण के प्रसंग को दृष्टिगत रख कर विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि जिस व्यापक अन्धकार या अनन्त शून्य का ऊपर उल्लेख हुआ है और जिसके लिए 'भूमिका' शब्द का प्रयोग किया गया है वह श्रद्धा के (मनु को लक्ष्य कर के) "गिर जायेगा जो है अलीक"[1] यह कहते ही 'जाग्रत्' और 'स्वप्न' दशाओं के विकल्पों को क्षीण कर के उदित हुई मनु के चित्त की शून्यभूमिका है। इस भूमिका में मनु को केवल शून्य का ही दर्शन हो रहा है—

मनु के संवित् स्वभाव का उदय

इतना अनन्त था शून्य सार,
दीखता न जिसके परे पार।

केवल 'शून्य' की ही प्रतीति वाली मनु की इस प्रमातृदशा को शून्यप्रलयाकल की-सी शून्यप्रमातृ-अवस्था कहा जा सकता है। मनु के चित्त की इस शून्य भूमिका का तुरीया की ओर ऊर्ध्वोन्मेष होने पर इस पर संविद्रूप स्वात्म-सत्ता का स्पन्द होता है। संवित्सत्ता के इस स्पन्द (विमर्श) से मनु के चित्स्वरूप की अख्याति (अज्ञान) का आवरण-पटल विगलित हो गया, जिसके ज्ञापनके लिए प्रसाद जी ने"खुल गया"प्रयोग किया है। उक्त अख्यातिरूप आवरण-पटल मायाजनित था, जो चित्प्रकाश (सत्ता) का स्पन्द होते ही विगलित हो गया। इस सिद्धान्त की ही ओर संकेत करने के लिए कामायनीकार ने यहाँ 'ग्रन्थि'[2] शब्द का प्रयोग किया है—

मनु के चित्त की शून्य भूमिका पर चित्प्रकाश का स्पन्द

आवरण-पटल की ग्रन्थि खोल।

शैवदर्शन की शब्दावली में 'ग्रन्थि' माया का वह ग्रन्थ्यात्मक स्वरूप है जिसे

---

१. कामायनी, पृष्ठ २५१।
२. वही, पृष्ठ २५२।

पाश या कंचुक कहते हैं[1]। पाशों या कंचुकों की ग्रन्थि तभी खुलती है जब प्राणी में संविद्रूप स्वात्म-सत्ता का स्पन्द या स्पन्दन होता है या प्रसादजी के शब्दों में जब प्राणी 'अपने स्वरूप में चमक उठता है'। 'सत्ता' के स्पन्द (विमर्श) से किंचिज्ज्ञत्वरूप ग्रन्थि के खुलने पर ही मनु को सर्वत्र प्रकाशमय शिव (आलोक पुरुष) के दर्शन हुए हैं। यह दूसरी बात है कि यह ग्रन्थि गुरु-अनुग्रहवश चाहे क्षण भर के लिए ही विगलित हुई हो। किन्तु यह निश्चित है कि माया-प्रसूति कंचुकों की 'ग्रन्थि' विगलित हुए बिना न तो मनु को 'सत्ता' का स्पन्द (विमर्श) हो सकता था और न सर्वत्र प्रकाश के सामरस्य-रूप नटराज शिव के दर्शन हो सकते थे। प्रसाद जी के द्वारा 'अन्धकार' संज्ञा से व्यपदिष्ट आवरण-रूप मायादि कंचुकों का उक्त विगलन ही श्रद्धा के शब्दों में "अलीक का गिरना" है क्योंकि अलीक (स्वरूप-अख्याति) के विगलित होते ही मनु को सर्वत्र पूर्ण प्रकाश का विमर्श हुआ है—

केवल प्रकाश का था कलोल[2]।

'आलोक पुरुष' के आविर्भाव सम्बन्धी उपर्युक्त वर्णन को मनु की संविद्रूपता के उन्मेष-वर्णन के रूप में समझने पर ही 'ज्योत्स्ना-सरिता' और 'तम-जलनिधि के मंथन से उद्भूत केवल प्रकाश की सत्ता का रहस्य समझ में आ सकता है। प्रसादजी ने ज्योत्स्ना-सरिता का तम-जलनिधि से आलिंगन करा कर अन्धकार और प्रकाश के मधुमंथन से केवल प्रकाश का आविर्भाव दिखाया है—

तम-जलनिधि का बन मधु मंथन,
ज्योत्स्ना सरिता का आलिंगन
वह रजत-गौर, उज्ज्वल जीवन,
× × ×
केवल प्रकाश का था कलोल[3]।

काश्मीर शैवदर्शन में सरिता का सागर से आलिंगन दिखा कर सागर और सरिता के सागरभाव के सामरस्य से जीव और शिव के सामरस्य को प्रकट किया जाता है[4] और ऐसा ही प्रसादजी मानते हैं। उन्होंने जीव को व्याप्य और शिव को व्यापक अम्बुनिधि माना है और व्याप्य के व्यापक में एकात्म्य-

१. देखिए यही प्रबन्ध, अध्याय ३।
२. कामायनी, पृष्ठ २५२।
३. वही।
४. देखिए यही प्रबन्ध, अध्याय ७।

भाव से लीन होने को ही सामरस्यभाव का 'अक्षय सम्मेलन' कहा है[1]। अवच्छिन्न सरिता अनवच्छिन्न सागर में समरस भाव से लीन होती है क्योंकि सागर व्यापक है और सरिता व्याप्य है। किन्तु उपर्युक्त वर्णन में काश्मीर शैवदर्शन से अन्तर दिखाई पड़ता है। यहाँ ज्योत्स्ना (संवित्) को सागर के बदले सरिता कहा है और अप्रकाश को 'तम-जलनिधि' कहा है और उनके मन्थन से शेषरूपता प्रकाश की बताई गई है। यहाँ दो प्रश्न उठ सकते हैं—प्रथम तो यह है कि व्यापक 'तम-जलनिधि' व्याप्य सरिता के रूप को कैसे ग्रहण कर सकता है? दूसरा यह कि सामरस्य में तो किसी भी पदार्थ के स्वभाव का क्षय नहीं होता। परन्तु यहाँ तो 'तम–जलनिधि' अपने अन्धकार–स्वभाव को त्याग कर ज्योत्स्ना-सरिता के प्रकाश-स्वभाव को ग्रहण करता है। अतः ऐसा दिखाने में सामरस्य के पक्षपाती प्रसादजी क्या यहाँ अपने सिद्धान्तसे डिग नहीं गये? इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—

यहाँ अन्धकार (तम-जलनिधि) जीवात्मा मनु के अज्ञान का प्रतीक है क्योंकि जीवात्मा परिच्छिन्न प्रकाशरूप होता है। अतः उसमें अज्ञान व्यापक और ज्ञान परिच्छिन्न (परिमित) होता है। दूसरे, काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार सर्वत्र चित्प्रकाश ही ओत-प्रोत है। अन्धकार की उससे भिन्न सत्ता ही नहीं—

नाप्रकाशश्च सिद्ध्यति[2]।

वह तो प्रकाशरूप चिदात्मा का ही स्वातन्त्र्य-विजृम्भण है। अतः उसके स्वरूप का प्रश्न ही नहीं उठता। केवल अज्ञानी जीवों को ही उक्त प्रकार की प्रतीति हो सकती है कि 'अज्ञान का ज्ञानरूप में प्रकाशन होने से उसने (अज्ञान ने) अपना स्वरूप त्याग कर अन्य का स्वरूप ग्रहण कर लिया है'। व्यापक के द्वारा व्याप्य का रूप ग्रहण करने वाले प्रथम प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है कि प्रकाश से भिन्न अप्रकाश की जब सत्ता नहीं तब अन्धकार के द्वारा प्रकाश का रूप ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ जो अन्धकार का प्रकाश में लय दिखाया है उसका तात्पर्य यह है कि जीवात्मा मनु के अज्ञान–अन्धकार में श्रद्धा के शक्तिपात से जब संवित् किरण का उन्मेष हुआ तब उस संवित्–किरण के प्रसार से अज्ञान-आवरण विगलित हो गया और पूर्ण प्रकाश का विमर्श उदित हो गया, जिससे शुद्ध प्रमाता बने मनु को सर्वत्र चित्प्रकाश की सत्ता के ही दर्शन हुए। निष्कर्ष यह है कि जब संवित्सत्ता से पृथक् अज्ञान की सत्ता ही नहीं, तब न उसके स्वरूप-

१. प्रेमपथिक, पृ० ३१।
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग १,३।५।३।

त्याग का प्रश्न उठता है और न दूसरे के स्वरूप को ग्रहण करने का। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनु के 'चेतनपद' पर आरोहण की दृष्टि से सत्ता के स्पन्दन के पूर्व का बाह्य अन्धकार जीवात्मा के अंतस्थ अज्ञान का प्रतीक मात्र है, जिसके गुरु-प्रसादवश विगलित होने पर मनु को अपने पूर्ण संवित्स्वभाव का विमर्श हुआ है। अपने पूर्ण संवित्स्वभाव के इस विमर्श के ही कारण उसे सर्वव्याप्त चित्प्रकाशरूप शिव में ही सृष्टि-संहारादि होता हुआ परामृष्ट हुआ है और पूर्ण संविद्रूपता के उक्त विमर्श से ही उसे आनन्दमूलक सामरस्य की तत्त्वानुभूति हुई है जिसका स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे।

अतः ज्योत्स्ना-सरिता के 'तम जलनिधि' से मिलने पर अन्धकार के विगलन से केवल प्रकाश की सत्ता बताकर प्रसादजी ने यहाँ आत्म-स्वरूप के प्रकाश से अज्ञान-अन्धकार का ध्वंस दिखाया है। प्रसादजी का यह विचार आचार्य उत्पलदेव के निम्नांकित विचार से पूर्णतया मिलता है—

स्वप्रभाप्रसरध्वस्तपर्यन्तध्वान्तसन्ततिः[1]।

उक्त अज्ञानान्धकार के विगलित हो जाने पर जो चित्स्वरूप नित्यसत्ता शेष रह जाती है वही प्रकाशरूप चिदात्मा है, जिसे यहाँ 'केवल प्रकाश का था कलोल' कह कर प्रकट किया गया है। गुरु-प्रसादवश पूर्ण प्रकाशरूपता के विमर्श के ही कारण मनु को यहाँ केवल प्रकाशरूपता से स्पन्दमान शिव के के दर्शन हुए हैं। शुद्ध विमर्श के अभाव में जो वस्तुएँ पहले अचित्-भाव में विमृष्ट होने के कारण भिन्न प्रतीत हो रही थीं वे ही शुद्ध विमर्श के उदय से मनु को 'सर्वांग ज्योतिर्मय' शिव के विराट् शरीर का चिन्मय अंग बनी हुई दिखाई देती हैं—

बन गया तमस था अलक-जाल
सर्वांग ज्योतिर्मय था विशाल[2]।

सारांश यह है कि चिद्घनता के निमेष और विश्वरूपता के उन्मेष की मित-प्रमातृ दशा में मनु को (माया के प्रभाव से) जहाँ अनन्तरूपात्मक भेद-विमर्श हो रहा था वहाँ अब चिद्घनता की उन्मेष-भूमि (चित्सत्ता की उन्मेष-दशा) में विश्वरूपता के निमज्जित हो जाने के कारण सर्वत्र चिन्मयता का अभेद-विमर्श ही हो रहा है। चित्सत्ता के प्रकाश-प्राधान्य (उन्मेष) में यहाँ 'इदं' रूपात्मक विश्व के प्रकाश का गुणीभाव (निमेष) हो गया है।

---

१. शिव-स्तोत्रावली, स्तो० ६।८।
२. कामायनी, पृष्ठ २५२।

इस प्रकार चिद्घनता की उन्मेष-भूमि में सर्वत्र चिन्मयता के सामरस्य से 'आलोक पुरुष' का आविर्भाव दिखाकर गुरुरूपा श्रद्धा ने मनु को परमशिव के विश्वोत्तीर्ण स्वरूप के दर्शन कराये हैं, जिसकी पाँचों शक्तियों का उल्लेख पूर्व किया जा चुका है। विश्वोत्तीर्ण परमशिव की पंचविधकृत्यात्मक स्वातंत्र्य-लीला ही उसका विश्वात्मक स्वरूप है। इस विश्वात्मक स्वरूप के दर्शन श्रद्धा सृष्टि-स्थिति-संहार आदि के दर्शन के द्वारा आगे कराती है।

शिव की स्वातंत्र्य-लीला का उल्लेख करते हुए शैवों ने कहा है कि स्वात्म-आनन्द के अतिरेक में स्पन्दमान शिव अपने आपको ही विश्वात्मक भाव से उल्लसित करने के लिए अनुन्मुख होते हुए भी जब विश्वरचना के प्रति उन्मुख-सा होता है तब उसकी स्पन्दरूपा इच्छा स्फुट होती हुई सृष्टि-विकास के जिस प्रथम तत्त्व को आभासित करती है उसे सदाशिव तत्त्व कहा गया है[१]। इस सदाशिव को तंत्र ग्रन्थों में नादमय बताया गया है[२]। सृष्टि के विकास में यह सदाशिव (नाद) ही वह पहला तत्त्व है जिससे सत् (सत्ता है) का विमर्श होता है[३] क्योंकि शिव-शक्ति तो एक ही तत्त्व है और उनकी सामरस्य स्थिति में तो सत्-असत् जैसे विकल्प का उदय तक नहीं होता। इसी कारण ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में इसे 'सादाख्य' तत्त्व कहा गया है[४]। सृष्टि-क्रम के उक्त आदितत्त्व सदाशिव की ही चर्चा करते हुए नेत्रतंत्र में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में शिव के अदृष्टविग्रह से ध्वनिरूप स्फोट उत्पन्न होकर जब अखिल जगत् को ध्वनि से आपूरित करते हुए अतिवेग से प्रसृत होता है तब उसे नाद कहा जाता है और जो नाद है वही सदाशिव है[५]। इस प्रकार वहाँ सृष्टि का प्रारम्भ नादमय माना गया है।

---

१. तत्र च शुद्ध चिन्मयमात्र तदा तस्य प्रोन्मं लितमात्रचित्र कल्पभावराशि-विषयत्वेनास्फुटत्वात् इच्छाप्रधानं सदाशिवतत्त्वम्।

—तंत्रालोक टीका, भाग ६, पृष्ठ ५०।

२. स नादो देवदेवशः प्रोक्तश्चैव सदाशिवः।

—विज्ञानभैरव विवृति, पृष्ठ ३८।

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ १९१।

४. सादाख्य तत्त्वमादितः। — ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २–३।१।२।

५. .... विश्वं संहृत्य सृजते पुनः।
ध्वनिरूपो यदा स्फोटस्त्वदृष्टाच्छिवविग्रहात्॥
प्रसरत्यतिवेगेन ध्वनिना पूरयन् जगत्।
स नादो देवदेवेशः प्रोक्तश्चैव सदाशिवः॥

— नेत्रतंत्र भाग २–२१।६२–६३।

शिव की पंचविधकृत्यात्मक स्वातन्त्र्य-लीला का दर्शन

शैवागमों के उक्त आधार पर ही प्रसाद जी ने यहाँ पहले परिपूर्ण समरस प्रकाशात्मा चित्सत्ता का दर्शन कराया है और तदनन्तर स्वस्वातन्त्र्य से उसके विश्व-लीलोन्मुख (सृष्टि उन्मुख) होने पर उससे ध्वनिरूप स्फोट या नाद के प्रसार का उल्लेख किया है—

अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्य–भेदिनी सत्ता चित्[1]।

यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि प्रसादजी की उपर्युक्त मान्यता वैयाकरणों के स्फोटवाद से अनुप्राणित न होकर शैवों की विचारधारा से ही अनुप्राणित है, क्योंकि वैयाकरणों के शब्दाद्वैत के अनुसार 'स्फोटरूप' शब्द ही परा स्थिति है जिसे उन्होंने पश्यन्ती की संज्ञा दी है और अक्षर, शब्दब्रह्म तथा परावाक् को उसके नामान्तर बताये हैं[2]। किन्तु वैयाकरणों की यह परा स्थिति शैवों की परा स्थिति न होकर उससे अवर स्थिति है[3], क्योंकि इस स्फोट (वैयाकरणों की पश्यन्ती) के ध्वनियुक्त होने के कारण इस दशा में अस्फुट वेद्य-विमर्श तो होता ही है। अतः अस्फुट वेद्य-विमर्श की दशा को उस परा सत्ता के समकक्ष कहना उचित नहीं जिसमें वेद्य-विमर्श का लवलेश भी नहीं होता। प्रसादजी ने भी यहाँ प्रथमतः परा सत्ता का वर्णन किया है—

परासत्ता से सृष्टि-आरम्भ में नाद का आविर्भाव

सर्वांग ज्योतिर्मय था विशाल,

और इसके बाद उस सर्वांग ज्योतिर्मय (चित्प्रकाशरूप) शिव की शक्ति के सृष्टि-रचना के प्रति उन्मुखीभाव में उसे 'अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित' कहा है—

अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्य–भेदिनी सत्ता चित्।

इस प्रकार पहले परासत्ता का वर्णन करके पुनः अवरसत्ता का वर्णन किया गया है। अतः प्रसादजी की यह मान्यता शैवों के मत के ही अनुकूल बैठती है।

---

१. कामायनी, पृष्ठ २५२।

२. भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५८८।

३. अथास्माकं······ या सदाशिवरूपता।
वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः॥

—शिवदृष्टि आ० २।१।

४. स्फोट तव हि पश्यन्ती··· । —शिवदृष्टि आ० २।५८।

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार शिव से होने वाला विश्व का उन्मेष शिव की स्वातन्त्र्य-भरित नृत्य-लीला है। अपनी इस नर्तन-क्रीड़ा से नानारूपात्मक विश्व की सृष्टि करने के कारण शिव को ही शिवसूत्रों में नर्तक कहा गया है, यह पूर्व कहा जा चुका है। यह विश्व-क्रीड़ा उसके स्वात्मानन्द की ही अभिव्यक्ति है। काश्मीर शैवदर्शन की सृष्टि सम्बन्धी इस विचारधारा को ध्यान में रखते हुए ही यहाँ कामायनीकार ने नटराज शिव को स्वात्मानन्द के अतिरेक में नृत्य-निरत दिखाया है—

नटराज स्वयं थे नृत्य निरत[1]।

यह जगत्-नृत्य आनन्दभरित शिव का स्वात्म–विलास है[2] और परिपूर्ण स्वतन्त्र का स्वात्म–विलास ही उसकी लीला कहलाती है। इस लीला का उद्देश्य उसका स्वातन्त्र्य-स्वभाव है। इस स्वातन्त्र्य-स्वभाव की ही संज्ञा स्पन्द है जिससे वह नित्य स्पन्दवान् है। शिव के इस स्पन्दवान् स्वरूप का स्तवन करते हुए शैवाचार्य क्षेमराज ने उसके लीलाकारी स्वभाव की ओर संकेत किया है—

प्रथयति च विचित्राः सृष्टिसंहारलीलाः।
स जयति शिव एकः स्पन्दवान्स्वप्रतिष्ठः ॥[3]

अपने पूर्ण अद्वैतस्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हुए भी अनन्तरूपात्मक विश्व-लीला का प्रसार करना ही उसकी परमेश्वरता है।

शिव की जगत् लीला : उसका आनन्द-उल्लास

इस परमेश्वरता का विमर्श ही उसका अनन्योन्मुख पूर्ण आनन्द है, जिसके अतिरेक से वह जगत् की उदय-स्थिति-लयमयी लीला के द्वारा आत्म-विनोदन में लीन रहता है[4]। कामायनी की निम्नांकित पंक्तियों में प्रसादजी ने इसी ओर संकेत करते हुए कहा है—

लीला का स्पन्दित आह्लाद[5]।

---

१. कामायनी, पृष्ठ २५२।

२. शिवादिक्षितिपर्यन्तं विश्वं वपुरुदंचयन्।
पंचकृत्यमहानाट्यरसिकः क्रीडति प्रभुः ॥
—अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका, श्लो० २।

३. स्पन्दसंदोह श्लोक १।

४. सकलभुवनोदयस्थितिलयमयलीलाविनोदनोद्यतः।
अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः ॥
—कामकलाविलास श्लो० १।

५. कामायनी, पृष्ठ २५३।

शिव की लीला : जीवों पर अनुग्रह

अपनी आह्लाद-लीला के द्वारा स्वात्मपूर्ण शिव अनुग्रहवश जीवों को भोग और मोक्ष प्रदान करता है। स्वात्मपूर्णता से निराशंस एवं स्वातन्त्र्य-विमर्श से आनन्द-उच्छलित शिव की लीला का उद्देश्य अनुग्रह के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? चितिरूप शिव के इसी अनुग्रह-स्वभाव को लक्ष्य करके प्रसादजी ने कहा है—

वह प्रभापुंज चितिमय प्रसाद[1]।

कश्मीर के शैव आचार्यों ने जैसे शिव को आनन्द-सिन्धु कहा है वैसे ही उसे सौन्दर्य-राशि भी कहा है—

नमो विततलावण्यवाराय वरदाय ते।[2]

सौन्दर्य-राशि के स्वभाव-प्रकाश में सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति संभव है। शिव सौन्दर्य राशि है और शिव का स्वभाव-प्रकाश ही उसकी विश्व-लीला है। अतः विश्व-लीला भी सौन्दर्य-प्रसार ही है। प्रसाद जी ने स्वयं कहा भी है—"प्रकृति-सौन्दर्य ईश्वरीय रचना का एक अद्भुत समूह है[3]।" इसी आशय से शिवभक्त कवि ने यहाँ शिव की ताण्डव-लीला (नृत्य लीला) को आनन्द-पूर्ण एवं सौन्दर्यमय बताया है—

आनन्द पूर्ण ताण्डव सुन्दर[4]।

पौराणिक विश्वास के अनुसार विश्व-संहार करने के लिए शिव जो नृत्य करते हैं उसे ताण्डव नृत्य कहा जाता है,परन्तु प्रसादजी ने यहाँ सृष्टि के लिए ताण्डव नृत्य दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि शिव जब आनन्दभरित लावण्यराशि है तब उसकी आनन्द-लीला असुन्दर और भयंकर कैसे हो सकती है? द्वैत-विकल्पों से परिबद्ध जीवों को भले ही ताण्डव भयंकर और संहारकारी प्रतीत हो, अद्वैतनिष्ठ शिवभक्त के लिए तो सर्वत्र शिवता की अभेद प्रतीति से 'संहार' और 'सृजन' दोनों समान ही हैं क्योंकि 'प्रलय भी एक सृष्टि है।' इसी विचार से सबको शिवरूप समझने वाले प्रसादजी ने कहा है—

संहार सृजन सम युगल पाद[5]।

---

१. कामायनी।

२. शिवस्तोत्रावली स्तो० २।२१।

३. चित्राधार ('प्रकृति सौन्दर्य'), पृष्ठ १२८।

४. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५३।

५. वही।

प्रसादजी की यह मान्यता तत्त्वदर्शी उत्पलाचार्य की उस मान्यता से साम्य रखती है जिसके अन्तर्गत संहार को भी शिव की 'आनन्दकेलि' कहा गया है[1]। केवल सृष्टि और संहार को ही नहीं वरन् शिव के सभी कृत्यों को काश्मीर शैवदर्शन में उसकी आनन्द-लीला कहा गया है। शिवस्तोत्रावलीकार उत्पलदेव के शब्दों में नृत्य-लीलारत शिव की आनन्द-लीला का प्रसार ही तो यह नाना रूपात्मक विश्व है। आनन्दसिन्धु शिव से झर कर बिखरे हुए आनन्दरस के बिन्दु ही तो सूर्य, चन्द्रमा तथा तारे आदि बने हैं—

आनन्दरसबिन्दुस्ते चन्द्रमा गलितो भुवि।
सूर्यस्तथा ते प्रसृतः संहारी तेजसः कणः[2]॥

इसी विचार से प्रसादजी ने प्रेमपथिक में कहा है—"उस सौन्दर्य-सुधा-सागर के कण हैं हम।" तैत्तिरीयोपनिषद् में भी सृष्टि को आनन्द का ही प्रसार बताया गया है—

आनन्दादेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते[3]।

शिवमहिम्नस्तोत्र में भी यही लिखा है कि परमेश्वर से ही सूर्य, चन्द्र, पवन, अग्नि, जल, व्योम, धरणि आदि विविध रूपों वाले समस्त ब्रह्माण्ड का उद्भव हुआ है[4]।

शैव ग्रन्थों के उक्त आधार पर कामायनीकार ने स्वात्म-आनन्द के

सृष्टि अतिरेक में ताण्डव-नृत्य-निरत शिव के आनन्दविग्रह से झरते हुए श्रम-सीकरों को उज्ज्वल सूर्य, चन्द्र और तारागण बनते हुए दिखाया है—

आनन्दपूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल श्रम-सीकर।
बनते तारा, हिमकर दिनकर[5]॥

शिव के आनन्द-विग्रह से सूर्य, चन्द्र, तारे आदि का उद्भव दिखाकर कवि ने यहाँ शिव के द्वारा होने वाली सृष्टि-लीला का उल्लेख किया है। जैसे यह जगत्-सृष्टि शिव की नृत्य-लीला का प्रसार है वैसे ही संहार भी उसकी नृत्य-

---

१. शिवस्तोत्रावली, स्तो० २।१३।
२. शिवस्तोत्रावली स्तो० १०.५।
३. विज्ञानभैरव कौमुदी टीका में उद्धृत, पृष्ठ २७।
४. महिम्नस्तोत्र श्लोक २६।
५. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५३।

लीला का ही अंग है, क्योंकि जो सृष्टि-संहार आदि पञ्चकृत्यों में स्वतंत्र है वही तो शिव है। शिव के जिस आनन्द-नृत्य से श्रद्धा ने विश्व सृष्टि

संहार

का प्रसार बताया है उसी आनन्द-नृत्य से सृष्ट विश्व का संहार दिखाती है। शिव की इस संहार-लीला में मनु ने भूधरों को धूलि-कणों की भाँति उड़ते हुए तथा अनन्त चेतना परमाणुओं को क्षण भर में बनते और विलीन होते हुए देखा है—

आनन्द पूर्ण ताण्डव सुन्दर,
उड़ रहे धूलि-कण-से भूधर।
× × ×
विद्युत कटाक्ष चल गया जिधर,
कम्पित संसृति बन रही उधर।
चेतन परमाणु अनन्त बिखर,
बनते विलीन होते क्षण भर[1]॥

शिव की इस नृत्य-लीला में ऊपर दिखाई गई विश्व की 'सृष्टि' और 'संहृति' (संहार) के बीच विश्व की 'स्थिति' की झलक भी मिल जाती

स्थिति

है, भले ही उसका स्वरूप यहाँ अत्यन्त धुंधला-सा दिखाई देता है। कवि जहाँ अगणित गोल गोल ब्रह्माण्डों के बिखरे हुए दखाई देने का उल्लेख करता है—

बिखरे असंख्य ब्रह्माण्ड गोल,
युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल[2]।

वहाँ सतयुग, त्रेता, द्वापर आदि में से क्रमशः एक-एक युग समाप्त होता हुआ और दूसरा युग अपने संतुलन को ग्रहण करता हुआ अर्थात् प्रारम्भ होता हुआ दिखाई पड़ता है। यही विश्व की स्थिति का स्वरूप है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना अनिवार्य-सा प्रतीत होता है कि विश्व का संहार सतयुग, त्रेता आदि प्रत्येक युग के बाद न होकर एक ब्राह्म दिन अर्थात् चतुर्युग-सहस्र के बाद होता है[3]। अतः एक ब्रह्म दिन बीतने तक अनेक युग प्रारम्भ और समाप्त

---

१. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५३।
२, वही।
३. ब्रह्मणः स्वदिनान्ते वै कल्पः संहार उच्यते।
कल्पो ब्रह्मदिनं प्रोक्तं चतुर्युगसहस्रकम्॥
—स्वच्छन्दतन्त्र पटल ११।२२४-२३१।

होते हुए विश्व की स्थिति को प्रकट करते हैं। इस प्रकार यहाँ ब्रह्माण्डों में एक युग का क्रमशः आरम्भ और अन्त विश्व की स्थिति का द्योतक है।

इस प्रकार शिव की उपर्युक्त स्वातन्त्र्यरूपा नृत्य-लीला में उसके सृष्टि, स्थिति और संहार नामक कृत्यों के साक्षात्कार के अनन्तर मनु को दिखाई पड़ा कि शिव के शक्ति विग्रह का प्रकाश सर्व शाप-पाप को विनष्ट करके नर्तन-रत शिव के प्रकाश-वपु में लीन हो गया है और ग्राह्य–ग्राहकरूपा संपूर्ण प्रकृति गल कर कान्ति-सिन्धु में मिलकर इस प्रकार समरस हो गई है जैसे नदी सागर में मिलकर समरस हो जाती है। कान्ति-सिन्धु शिव के साथ समरसीभूत हो जाने पर प्रकृति का वह स्वरूप भी कमनीय बन गया, जो पहले भीषण प्रतीत हो रहा था—

अनुग्रह

उस शक्ति शरीरी का प्रकाश,
सब शाप–पाप का कर विनाश।
नर्तन में निरत, प्रकृति गलकर,
उस कान्ति सिन्धु में घुल मिलकर।
अपना स्वरूप धरती सुन्दर,
कमनीय बना था भीषणतर[1]॥

यहाँ मनु को शिव के 'अनुग्रह' नामक कृत्य का दर्शन हुआ है क्योंकि शक्ति-शरीरी के जिस प्रकाश से मनु को यहाँ शाप-पाप का विनाश होता हुआ दिखाई पड़ा है वह शिव का अनुग्रह प्रकाश है, जिसके उन्मेष से जीव भव-बन्धन से मुक्त होकर शिवस्वरूप के सामरस्य में संलीन होते हैं। इसके अतिरिक्त शिव का यह 'अनुग्रह' उसकी शक्ति के द्वारा जीवों पर अभिव्यक्त होता है अर्थात् शिव अपनी शक्ति के द्वारा जीवों को स्वरूप-दर्शन कराता है, यह हम पूर्व कह चुके हैं। इसी सिद्धान्त की प्रतीति कराने के लिए प्रसादजी ने यहाँ शिव को प्रकाश कहने के स्थान पर 'शक्ति शरीरी का प्रकाश' कहा है। शिव के उपर्युक्त अनुग्रह से ही जीव को समरसता-विश्रान्ति का आनन्द-लाभ होता है और समरसतारूप अपने संवित्स्वरूप में विश्रान्त हो जाने पर समस्त विश्व उसे आत्म-स्वरूप में अभिन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार समरसता-प्राप्त प्राणी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से नित्य अनभिभूत रहता है और सबको आत्ममय देखने के कारण उसे कुछ भी भीषण प्रतीति नहीं होता। पूर्व प्रतीति की भीषणतर वस्तुएँ भी सामरस्य विश्रान्ति से कमनीय प्रतीत होने लगती हैं—

१. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५४।

कमनीय बना था भीषणतर[1] ।

समरसता-विश्रान्ति से जगत् को आत्मरूप देखने वाले ज्ञानी के नित्य-सुख को व्यक्त करते हुए शैवाचार्य उत्पलदेव ने ऐसा कहा भी है—

स्वात्ममात्रपरिपूरिते जग-
त्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम्[2] ।

इसके अतिरिक्त कान्ति-सिन्धु में घुल-मिलकर सबके कमनीय बन जाने का जो विचार कामायनीकार ने यहाँ व्यक्त किया है वह काश्मीर शैवदर्शन का ही सामरस्य सम्बन्धी विचार है। उसके अनुसार जीवरूपी नदी के शिवरूपी सागर में समरसीभूत हो जाने पर अखण्ड आनन्द का विमर्श होता है। सामरस्य-विश्रान्त ज्ञानी के ऐसे महा आनन्द को कामायनी के दार्शनिक कवि ने इन शब्दों से अभिव्यंजित किया है—

उल्लसित महा हिम धवल हास[3] ।

आनन्द की व्यंजना के लिए ही यहाँ 'उल्लसित' शब्द का साभिप्राय प्रयोग किया गया है क्योंकि काश्मीरिक शैवों की भाँति प्रसाद जी की भी यह स्पष्ट मान्यता है कि 'आनन्द का स्वभाव ही उल्लास है'[4] ।

तिरोधान

शिव के तिरोधान नामक कृत्य की स्थिति भी उपर्युक्त ताण्डव वर्णन में अस्पष्ट नहीं है। 'तिरोधान' कृत्य शिव की वह आनन्द-लीला है जिसमें वह स्वरूप-प्रच्छादनात्मक अपनी मल-कल्पना (स्वरूप तिरोधानेच्छा) से अपने एक चेतनस्वरूप को ही अनन्त अणु रूपों में अवभासित करता है। ताण्डव-वर्णन में चिदात्मा शिव से अनन्त चेतन परमाणुओं का बिखरना दिखा कर शिव के तिरोधान नामक कृत्य को प्रकट किया गया है—

चेतन परमाणु अनन्त बिखर,
बनते विलीन होते क्षण भर।

उक्त तिरोधान के बिना अद्वैतपद-विश्रान्त शिव का नाना 'चेतन परमाणुरूपों' में आत्मावभासन संभव नहीं और अनेक अणुरूपों के अवभासित हुए बिना न जगत् की सृष्टि संभव है और न प्रलय तथा अनुग्रह ही। यहाँ यह भी

---

१. कामायनी, पृष्ठ २५४ ।
२ शिवस्तोत्रावली स्तो० १३।१६ ।
३. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५४ ।
४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ५५ ।

स्मरण रखना चाहिए कि ये तिरोधान, सृष्टि आदि 'आलोक पुरुष' शिव में अपनी सत्ता अलग-अलग बना कर नहीं रहते हैं वरन् एक दूसरे में अन्तर्निहित हैं। यही कारण है कि ऊपर उद्धृत पंक्तिद्वय में तिरोधान के साथ सृष्टि ('बनते') और प्रलय ('बिलीन होते') भी विद्यमान हैं।

इस प्रकार नटराज शिव के ताण्डव नृत्य में उसके सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह नामक पंचविध कृत्यों की स्पष्ट झलक मिलती है। शिव

प्रथम तत्त्वदर्शन में शिव के पंचविधकृत्यों का दर्शन

के 'कामायनी'-दर्शित ताण्डव-नृत्य में उसके पंचविध कृत्यों का मेरा यह अन्वेषण किसी आरोपणमूलक दृष्टि का परिणाम न होकर काव्य-निहित तथ्य का ही प्रकाशन है। इसका प्रमाण (कामायनी के अन्तः-साक्ष्य के अतिरिक्त) यह है कि शिव के ताण्डवपूर्ण विश्व-नृत्य को प्रसाद स्पष्ट शब्दों में आगम के स्पन्द-शास्त्र का सिद्धान्त मानते हैं[1] और 'इरावती' में नटराज शिवके ताण्डव में शिव के पंचविध कृत्यों का स्पष्टतया उल्लेख करते हैं—

दुःख का अन्धकार, नटराज के अग्नि-ताण्डव से जल रहा है। देखो, सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह की नित्य लीला से समस्त अवकाश भर उठा है[2]।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नटेश के ताण्डव-नृत्य के द्वारा मनु को यहाँ शिवपद के "समरस अखण्ड आनन्द वेश" का जो विमर्श हुआ है वह गुरु-अनुग्रहवश हुआ मनु का प्रथम परतत्त्व-दर्शन है। मनु के इस प्रथम परतत्त्व-दर्शन का स्पष्ट बोध कराने के लिए ही प्रसादजी ने कामायनी के इस सर्ग को (जिसमें मनु को तत्त्व-दर्शन हुआ है) 'दर्शनसर्ग' कहा है। मनु के परतत्त्व-दर्शन का बोधक होने के ही कारण इस सर्ग का 'दर्शनसर्ग' नामकरण सार्थक होता है।

---

१. समग्र विश्व के साथ तादात्म्य वाली समरसता और आगमों के स्पन्द-शास्त्र के ताण्डवपूर्ण विश्व-नृत्य का पूर्णभाव उसमें (भागवत धर्म की आनन्द की योजना में) न था।

—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ७९।

२. पृष्ठ ५०।

गुरु-प्रसाद से मनु को अपने तुरीयस्थ संवित्स्वभाव के महैश्वर्य का प्रथम दर्शन

अतः यह स्पष्ट है कि कवि ने सप्रयोजन इस सर्ग का नाम 'दर्शनसर्ग' रखा है। 'दर्शनसर्ग' के उक्त प्रथम परतत्त्व-दर्शन के रूप में मनु को अपने तुरीयस्थ संवित्स्वभाव के महैश्वर्य के ही दर्शन हुए हैं। किन्तु मनु का यह परतत्त्व-दर्शन उसकी अपनी साधनाजनित क्षीणविकल्प-रूपता से उदित प्रातिभ ज्ञान का फल न होकर उसके परमेश्वराकार गुरु (श्रद्धा) के प्रसाद (तीव्र अनुग्रह) का फल है। इस प्रथम परतत्त्व-दर्शन में शिव के पंचविध कृत्यों के साथ उसके परिशुद्ध प्रकाश-विमर्शमय स्वरूप को प्रकट करते हुए शक्तिपात के पात्र मनु को आत्मस्थ गुरु (ऋषि का) श्रद्धा के द्वारा यह तत्त्वानुभूति कराई गई है कि शिव अपनी स्वातन्त्र्य-लीला से अपने अन्तर्गत अपने ही स्वरूप से नानारूपात्मक जगत् का 'सृजन' करता है और फिर वही अपनी इस जगत्-लीला का अपने आप में 'संहार' (लय) कर लेता है। अतः प्रत्येक प्राणी शिव से भिन्न न होकर शिवमय ही है। 'सृजन' और 'संहार' तो उसकी स्वातन्त्र्य-लीला के ही दो सम चरण हैं—

संहार सृजन सम युगल पाद[1]।

इस परमार्थ-दृष्टि को जो जीव अपने स्वभाव-विमर्श में दृढ़ कर लेता है वह पाप-शाप आदि क्लेशकारी भेद-विकल्पों से मुक्त होकर आनन्द-सिन्धु शिव में समरस हो जाता है। काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार उसकी यह समरसता-विश्रान्ति ही उसका शिवपद है—

आत्मा समरसत्वेन शिवीभवति सवर्गः[2]।

इस शिवपद में अपने पूर्ण ज्ञान-क्रियारूप स्वातन्त्र्य-स्वभाव के विमर्श से वह नित्य आनन्द-मग्न रहता है और लोक-व्यवहार करते हुए भी अपनी परतत्त्व-आरूढ़ता के कारण लौकिक हर्ष-शोक, पाप-पुण्य आदि द्वन्द्वों से अनभिभूत रहता है। प्रथम परतत्त्व-दर्शन में आत्मस्थ गुरु श्रद्धा के अनुग्रह-दान से सामरस्य की ऐसी तत्त्वानुभूति होने के ही कारण वह (मनु) अब परतत्त्व के प्रति अपनी तीव्रतम अभिलाषा प्रकट करते हुए श्रद्धा से उस शिवपद (शिव-चरणों) में ले चलने के लिए प्रार्थना करता है जिस शिवपद में स्वरूप-विमर्श की विज्ञान-दीप्ति से पाप-पुण्यरूप समस्त अशुद्ध विकल्प भस्म हो जाते हैं

---

१. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५३।

२. स्वच्छन्दतन्त्र, भाग २, पटल ४।४४२।

और प्राणी अपने मलोत्तीर्ण शुद्ध सर्वज्ञातृत्व-सर्वकर्तृत्व-स्वभाव के विमर्श से सामरस्य-विश्रान्त होकर नित्य अखण्ड आनन्द में स्पन्दमान रहता है--

यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल।
सब पाप पुण्य जिसमें जल-जल,
पावन बन जाते हैं निर्मल ॥

मिटते असत्य से ज्ञान-लेश,
समरस अखण्ड आनन्द वेश[1]।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि मनु को जब प्रथम परतत्त्व-दर्शन से सामरस्य की आनन्दानुभूति हो गई है तब वह श्रद्धा से अब फिर यह प्रार्थना क्यों करता है कि हे श्रद्धे ! 'निज सम्बल देकर उस समरस अखण्ड आनन्दवेश' शिवपद में ले चल—

……………श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज सम्बल।

इस प्रश्न का उत्तर यह है—

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मनु का यह परतत्त्व-दर्शन उसके प्रातिभज्ञान का फल न होकर उसके आत्मस्थ गुरु श्रद्धा के अनुग्रह-दान का फल है। दूसरे शब्दों में इसे यों कह सकते हैं कि मनु को यहाँ परतत्त्व का दर्शन स्वप्रत्यय से न होकर उसके गुरु के प्रत्यय अर्थात् परप्रत्यय से हुआ है। अतः मनु के इस परमार्थ-दर्शन की स्थिरता गुरुरूपा श्रद्धा की अनुग्रहेच्छा पर निर्भर है। गुरु की अनुग्रह-इच्छा पर निर्भर होने के कारण किसी शिष्य की ऐसी तत्त्वानुभूति की स्थिरता उसके स्ववश न होकर परवश होती है। जब तक गुरु अपने अनुग्रह-दान से शिष्यरूप साधक को ऐसी तत्त्वानुभूति कराता है तब तक उसे ऐसी तत्त्वानुभूति होती है और ज्यों ही गुरु परतत्त्व के प्रति शिष्य में अभिलाषा जगाकर अपने अनुग्रह-दान का संवरण कर लेता है त्यों ही शिष्य को उक्त प्रकार की तत्त्वानुभूति का होना बन्द हो जाता है। कामायनी के मनु के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही हुआ है। श्रद्धा ने अपने अनुग्रह-दान से मनु को यहाँ उसके तुरीयस्थ संवित्स्वभाव की तत्त्वानुभूति कराई है और उक्त तत्त्वानुभूति से मनु को सामरस्य-आनन्द का तनिक आस्वादन कराने के बाद ही उसने अपने उस अनुग्रह-दान का संवरण कर लिया, जिससे मनु को अपने तुरीयस्थ संवित्स्वभाव का सामरस्य-विमर्श हो रहा था। श्रद्धा के द्वारा इस प्रकार

१. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५४।

अपने अनुग्रह-दान का संवरण करते ही मनु की परप्रत्ययजनित सामरस्य की तत्त्वानुभूति समाप्त हो गई और वह एकाएक अपनी पूर्व जीवदशा में आ गिरा। अपने तुरीयस्थ संवित्स्वभाव के विमर्श से सामरस्य की चलती हुई आनन्दानुभूति के इस प्रकार एकाएक छिन्न होते ही मनु हतप्रभ होकर सविस्मय पुकार उठा —

यह क्या ! श्रद्धे !

जैसे मानो बरसों से वियुक्त किसी प्रेमी का निज प्रिया-मिलन का चलता हुआ मधुर स्वप्न एकाएक टूट गया हो। इस प्रकार अपने तुरीयस्थ स्वभाव के सामरस्य-विमर्श की आनन्दानुभूति के छिन्न होते ही वह गुरुप्रत्ययजनित उक्त परतत्त्वानुभूति (जो अभी अभी छिन्न हो गई है) की आनन्द-रसिकता की संस्कारशेषता के कारण पुनः उस पूर्वानुभूत समरस शिवपद पर आरूढ़ होने के लिए श्रद्धा से तीव्रतम शब्दों में साग्रह प्रार्थना करता है—

······बस तू ले चल,

क्योंकि वह जानता है कि अनुग्रहस्वभावा श्रद्धा ने ही पहले उसे ऐसी तत्त्वानुभूति कराई थी और वही अब करा सकती है। अतः 'समरस अखण्ड आनन्द वेश' शिवपद में ले चलने के लिए श्रद्धा से की गई मनु की उक्त प्रार्थना सर्वथा युक्तिसंगत है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परतत्त्व के प्रथम दर्शन के द्वारा मनु को उसके तुरीयस्थ स्वभाव के महैश्वर्य की थोड़ी-सी आनन्दानुभूति कराकर श्रद्धा ने उसमें परतत्त्व के प्रति तीव्र अभिलाषा जगाई है, क्योंकि जब तक दीक्ष्यजन में आत्मानुभूति के लिए तीव्र जिज्ञासा या व्यग्रता नहीं होगी तब तक गुरु-अनुग्रहवश परतत्त्व-दर्शन हो जाने पर भी साधक को स्वात्म-स्वरूप के विमर्श का आनन्दोल्लास नहीं होगा। फिर, आत्मज्ञानी गुरु के द्वारा अपने अनुग्रह-दान से शिष्य को एक बार परतत्त्व का साक्षात्कार करा देने पर भी यह आवश्यक नहीं कि गुरु का उक्त अनुग्रह शिष्य की निजी 'अन्तः साधना' के अभाव में भी उसे नित्य परतत्त्वारूढ रखे रहे और यदि कभी ऐसा हो भी तो वह परप्रत्यय ही है। अतः अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य-स्वभाव की स्वप्रत्ययजनित दृढ़ता के अभाव में परप्रत्यय से मुक्ति-लाभ करने वाले योगी के आनन्द में स्थायित्व नहीं होगा। इसका कारण यह है कि आह्लाद का स्थायित्व परप्रत्यय-

रूप ज्ञान में न होकर स्वप्रत्ययरूप ज्ञान में होता है। रस-मीमांसा के प्रसंग में भी विद्वानों ने आनन्द को पर-संवेद्य न कहकर स्वसंवेद्य ही कहा है। अतएव परमार्थसत्ता में स्वप्रत्ययजनित भावना की दृढ़ता ही सदेहमुक्ति का कारण है। तन्त्रालोक में कहा है कि परप्रत्यय से निरपेक्ष स्वप्रत्यय से जिसका परतत्त्व में भावना-दाढर्य हो वही जीवन्मुक्त कहलाता है[1]। इसी कारण गुरुरूपा श्रद्धा के प्रत्यय अर्थात् परप्रत्यय से एक बार परतत्त्व का साक्षात्कार हो चुकने पर भी मनु जीवन्मुक्त न हो सका। उसको जीवन्मुक्त करने के लिए ही श्रद्धा परतत्त्व-दर्शन के बाद उसे परतत्त्व की भावना सम्बन्धी रहस्यात्मक साधना में प्रवृत्त करती है, जिससे कि वह परतत्त्व की निज स्वभाव के रूप में भावना आदि करते हुए स्वप्रत्यय से उसे अपने स्वभाव-विमर्श में दृढ़ कर सके।

जीवन्मुक्ति का कारण : स्वप्रत्यय से परतत्त्व में भावना-दृढ़ता

परतत्त्व-दर्शन के अनन्तर मनु के द्वारा की जाने वाली परतत्त्व की उक्त रहस्यात्मक साधना को प्रसादजी ने कामायनी के रहस्यसर्ग के रूप में प्रकट किया है। कामायनी में 'दर्शनसर्ग' के बाद 'रहस्यसर्ग' की स्थिति मनु के प्रथम परतत्त्व-दर्शन के बाद उसकी रहस्यात्मक साधना की ही द्योतक है। 'दर्शनसर्ग' के बाद 'रहस्यसर्ग' रख कर प्रसादजी ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे एक दार्शनिक के रूप में काश्मीर शैवदर्शन की विचारधारा को पूर्णतः अङ्गीकार कर चुके थे। यही कारण है कि वे दर्शन के क्षेत्र में कोरे सिद्धान्त-निरूपण के ही पक्षपाती न थे अपितु कश्मीर के शैवाचार्यों की भाँति आनन्द-सिद्धान्त को जीवन में उतारने के लिए भक्ति-सहित परतत्त्व की योगानुभूति को भी आवश्यक मानते थे। इसलिए उन्होंने 'दर्शनसर्ग' के परतत्त्वदर्शन के बाद मनु को कामायनी के रहस्यसर्ग में परतत्त्व की रहस्यात्मक साधना में संलग्न दिखाया है, जिसका विवेचन हम आगे के अध्याय में करेंगे।

मनु के परतत्त्व-दर्शन के अनुभव-स्वरूप पर भी यहाँ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि परतत्त्व-दर्शन में मनु के अनुभव-स्वरूप का जो वर्णन किया गया है उससे यह अनुमान होता है कि प्रसादजी को संभवतः

---

१. अन्यथा देहान्ते मुक्तिरिति कस्य समाश्वासः स्यात्। यस्य पुनः परप्रत्ययानपेक्षत्वेन परतत्त्व एव भावना-दाढर्यं स जीवन्नेव मुक्त इत्याह

परभावनदाढ्यात्तु जीवन्मुक्तो निगद्यते।

—तन्त्रालोक भाग ८, आ० १३, पृष्ठ ११७।

किसी आत्मज्ञानी गुरु से दीक्षा[1] मिली थी, यद्यपि इस विषय में अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है। हमारे उक्त अनुमान का आधार यह है कि मनु की उपर्युक्त दीक्षा में उसके प्रथम परतत्त्व-दर्शन का जो अनुभव-स्वरूप कामायनी में प्रकट किया गया है वह साहिब कौल (आनन्दनाथ) को हुए प्रथम तत्त्व-दर्शन के निम्नांकित अनुभव-स्वरूप से मिलता है–

येनोत्कीर्णं विश्वचित्रं स्वभित्तौ नानावर्णैश्चित्रितं येन भक्त्या।
अन्ते स्वस्मिन् नृत्यते येन हृत्वा सोऽहं साहिब्कौलकारामशम्भुः[2]॥

साहिब्कौल के उपर्युक्त पारमार्थिक अनुभव से मनु के परतत्त्व-दर्शन के अनुभव की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि साहिब्कौल की भाँति मनु ने भी "सर्वांग ज्योतिर्मय" परम-शिव की स्वप्रकाशभित्ति पर नानारूपात्मक विश्व का उन्मेष देखने के अनन्तर यह देखा कि नर्त्तित नटेश स्वभित्ति पर पूर्व आभासित समस्त विश्व-लीला को अपने में आहृत कर के एक प्रकाशघनता में समरस बना हुआ है[3]। जिन साहिब्कौल का ऊपर उल्लेख किया गया है वे कश्मीर के सुप्रसिद्ध भक्त और आत्मज्ञानी शैव-सिद्ध थे। उनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्रथम अध्याय में पूर्व दी जा चुकी है। यदि किसी विद्वान् की खोज के फलस्वरूप हमारे उपर्युक्त अनुमान का कभी कोई प्रमाण मिल सका तो यह स्पष्ट हो जायगा कि मनु की दीक्षा में वर्णित पारमार्थिक स्वरूप का अनुभव प्रसादजी की अपनी दीक्षा का अनुभव है अर्थात् उनकी निजी आत्मानुभूति है क्योंकि स्वकीय पारमार्थिक अनुभूति के बिना केवल अद्वैत शैवग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर ऐसा लिख देना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है और यह आश्चर्य तब और अधिक होता है जब

मनु के प्रथम परतत्त्व-दर्शन के अनुभव-स्वरूप का शैवसिद्ध के प्रथम परतत्त्व-दर्शन के अनुभव-स्वरूप से साम्य

---

१. जैसा कि दीक्षा की परिभाषा के स्पष्टीकरण के प्रसंग में कहा जा चुका है; दीक्षा का अभिप्राय आत्मानुभूति है और आत्मानुभूति का साधन कोई भी हो सकता है क्योंकि सोमानंद ने कहा है—

एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना॥

२. शिवजीवदशक (अप्रकाशित) श्लोक १।

३. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५२-२५४।

मनु के प्रथम तत्त्व दर्शन सम्बन्धी प्रसादजी का कामायनी-वर्णित पारमार्थिक अनुभव आत्मज्ञानी शैवसिद्ध के प्रामाणिक प्रथम परतत्त्व-दर्शन के अनभव से मिलता-जुलता दृष्टिगोचर होता है।

कामायनी-काव्य में निबद्ध प्रसादजी के काश्मीर शैवदर्शन सम्बन्धी विचारों के अब तक के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि जब तक मनु ने भक्त की भाँति श्रद्धा के प्रति अपना शिष्यत्व सूचित करते हुए भक्ति-संस्पर्शित हृदय से परमार्थ-सुख की अभिलाषा प्रकट नहीं की तब तक श्रद्धा ने मनु को दीक्षित नहीं किया, क्योंकि शैवागमों में भगवान् शिव की स्पष्ट आज्ञा है कि अशिष्य और अभक्त को दीक्षा के द्वारा अनुग्रहीत नहीं करना चाहिए[1]। प्रसादजी भी दीक्षारूपा मुक्ति की प्राप्ति के लिए साधक या उपदेश्यजन का भक्तहृदय होना आवश्यक मानते हैं क्योंकि वे मुक्ति के साधनों में भक्ति को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं[2]। जो गुरु के प्रति व व्यापक सत्ता (आत्मा) के प्रति भक्ति रखता है उसे ही तत्त्व-ज्ञान की दीक्षा देनी चाहिए[3]। शैवदर्शन के ये विचार पूर्णरूप से कामायनी में घटित होते हैं। गुरुरूपा श्रद्धा को 'सर्वमंगला शक्ति' के रूप में पहचान कर मनु के द्वारा उसके प्रति भक्ति प्रकट करने पर ही (क्योंकि प्रसादजी की स्पष्ट मान्यता है कि "भक्ति बिना पहचाने होती नहीं"[4]) श्रद्धा के द्वारा मनु की यह दीक्षा सम्पन्न होती है—

मनु की दीक्षा-योग्यता के लिए भक्ति की अनिवार्यता

"गिर जायेगा जो है अलीक[5]।"

इस 'कथन दीक्षा' के बाद ही मनु को 'कामायनी' में परतत्त्व (शिवरूप आत्म-

१. नाशिष्याय प्रदेयेयं नाभक्ताय कदाचन।
— मालिनीविजयोत्तर तंत्र, अधि० ३।५५।

२. चित्राधार ('भक्ति'), पृष्ठ १३६।

३. इत्येतत्कथितं देवि परमामृतमुत्तमम्।
एतच्च नैव कस्यापि प्रकाश्यं तु कदाचन॥
परशिष्ये खले क्रूरे अभक्ते गुरुपादयोः।
भक्तानां गुरुवर्गस्य दातव्यं निर्विशंकया॥
—विज्ञानभैरव, श्लोक १५७-१५९।

४. चित्राधार ('भक्ति'), पृष्ठ १३६।

५. कामायनी, दर्शनसर्ग, पृष्ठ २५१।

सत्ता) का प्रथम साक्षात्कार हुआ है, उससे पूर्व नहीं।

दीक्षा की अनिवार्यता

क्योंकि यह उचित भी है शैवदर्शन में दीक्षा के बिना साधक को शिव-साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त नहीं होती। दीक्षा के इस सर्वाधिक महत्त्व को प्रकट करते हुए काश्मीर शैवागम में स्पष्टतः कहा गया है —

न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शांकरे[1]।

इसके अतिरिक्त श्रद्धा के द्वारा प्रसादजी ने परतत्त्व को पुनः पुनः चिति संज्ञा से अभिहित कराया है और प्रथम तत्त्व-दर्शन में भी 'सत्ता' के स्पन्द से "आलोक पुरुष" का आविर्भाव दिखाते हुए उसे चित् सत्ता ही कहा है[2]। यह सब निष्प्रयोजन न होकर एक प्रयोजनविशेष से संयुक्त है, क्योंकि काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार शक्ति के द्वारा ही शक्तिमान के स्वरूप का प्रकाश होता है—

भैरव्या भैरवस्येत्थं भैरवि ! व्यज्यते वपुः[3]।

शक्ति के द्वारा शिवत्व का प्रकाशन

साधना-क्रम में शक्ति की भावना ही जीव के अपने पूर्ण स्वातंत्र्य-स्वभाव का प्रकाशन कर सकती है। कामायनीकार की उपर्युक्त विचारधारा इसी शैव विचारधारा से प्रभावित प्रतीत होती है।

---

१. मालिनीविजयोत्तर तंत्र, अधिकार ४।६।

२. अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित थी शून्य भेदिनी सत्ता चित्।

३. विज्ञानभैरव, श्लो० २५।

अध्याय ६

मनु की रहस्यात्मक साधना

इससे पूर्व अध्याय में हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि श्रद्धा के शक्तिपात से मनु को 'कामायनी' के 'दर्शन सर्ग' में परतत्त्व का प्रथम दर्शन हुआ है, किन्तु मनु का वह परतत्त्व-दर्शन स्व प्रत्ययजनित न होकर पर-प्रत्ययजनित था। अतः उसकी तत्त्वानुभूति मनु में दृढ़ न रह सकी और परतत्त्व का साक्षात्कार होने पर भी वह जीवन्मुक्ति का शाश्वत आनन्द-लाभ न कर सका क्योंकि, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, जीवन्मुक्ति परप्रत्यय से न होकर परतत्त्व में स्व-प्रत्ययजनित भावना की दृढ़ता से ही होती है। अतएव मनु श्रद्धा के प्रत्यय अर्थात् पर-प्रत्यय से एक बार देखे गये (साक्षात्कृत) परतत्त्व को स्व-प्रत्यय से अपने स्वभाव-विमर्श में दृढ़ करने के लिए रहस्य सर्ग में परतत्त्व की भावना आदि रहस्यात्मक साधना करते हुए स्वरूप-समावेश की ओर आरोहण करता है, यही इस अध्याय का विवेच्य विषय है।

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार आत्म-स्वरूप का अज्ञान ही जीवों के बन्धन का कारण है और अज्ञान की शास्त्रीय संज्ञा मल है। स्वभाव के अज्ञान-रूपी इस मल को मुख्यतः तीन रूपों में विभक्त किया गया है, जिन्हें आणव, मायीय और कार्म मल कहते हैं[1]। आणवादि मलों के तारतम्य के विचार से ही शैव आचार्यों ने शिष्यों के अवबोधन के लिए प्रमाताओं का विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकरण किया है, जिनमें सात श्रेणियाँ मुख्य हैं[2]। अवरोहण-क्रम के अनुसार

मल के न्यूनाधिक तारतम्य से प्रमातृ–भेद

उपर्युक्त सात श्रेणियों में विभक्त प्रमातृवर्ग के नाम ये हैं—शिव, मन्त्रमहेश्वर, मंत्रेश्वर, मंत्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल, और सकल[3]। गौण-मुख्य भाव के भेद से इनके भी अनन्त प्रकार हो सकते हैं[4]।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २ –३।२।४–५।

२. मुख्यत्वेन तु सप्तैव मातृभेदाः प्रकीर्तिताः।

—मालिनीविजयवार्त्तिक १।९६०।

३. शिवादिसकलान्तश्च शक्तिमन्तः सप्त।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २२९।

४. वही, भाग २, पृष्ठ २२९।

बन्धनरूप मल के विगलित होने पर जीव का चिदात्म-स्वरूप मेघावरण से मुक्त सूर्य की भाँति स्वयमेव प्रकाशित हो उठता है[1] क्योंकि परिगृहीतसंकोच शिव ही तो जीव है[2]। अपने पूर्ण ज्ञान-क्रिया-स्वभाव की अभिव्यक्ति या आत्म-प्रत्यभिज्ञा ही जीव की मुक्ति है[3]। इसी की

दो प्रकार की जीवन्मुक्ति : सद्यःमुक्ति और क्रममुक्ति

अपर संज्ञा आत्मस्वरूप-समावेश है। स्वरूप-समावेश मुख्यतः दो प्रकार से होता है—'झटिति' और 'क्रम से'। तंत्रसार में लिखा है कि शक्तिपातपात्र जीव 'झटिति' या 'क्रमेण' स्वरूपस्थगनविनिवृत्ति (मलापयन) से स्वरूप-प्रत्यापत्ति को प्राप्त होता है[4]। उक्त विचार से ही तंत्रालोक में दो प्रकार की मुक्ति बताई गई है—'सद्यःमुक्ति' और 'क्रममुक्ति'[5]। सद्यःमुक्ति में निर्मलसंवित् योगी विभिन्न प्रमातृ-दशाओं का उल्लंघन करते हुए अनुपाय आदि के द्वारा 'झटिति' शिवपद में विश्रान्त हो जाता है, किन्तु क्रममोक्ष में मन्दबुद्धिसाधक विभिन्न प्रमातृ-दशाओं के सोपानों को क्रम-क्रम से पार करता हुआ शिवपद-लाभ करता है[6]। वह 'सकल' प्रमातृ-दशा से क्रम-

निर्मलसंवित योगी की सद्यःमुक्ति और मन्दबुद्धि साधक की क्रम-मुक्ति

क्रम से ऊर्ध्ववर्ती प्रमातृ-दशाओं पर आरोहण करते हुए शिवप्रमातृ-दशा पर

---

१. गलिते विषयौन्मुख्ये पारिमित्ये विलापिते ।
देहे किमवशिष्येत शिवानन्दरसादृते ॥
—तंत्रालोक, भाग ९, आ० १५। २८४–२८५।

२. शिव एव गृहीतपशुभावः । —परमार्थसार, श्लोक ५।

३. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि तत्।
स्वरूपं चात्मनः संवित् नान्यत्………॥—तंत्रालोक, आ० १.१५६।

४. स्वरूपस्थगनविनिवृत्त्या स्वरूपप्रत्यापत्तिं झटिति वा क्रमेण वा समाश्रयन् शक्तिपातपात्रम् अणुः …।—तंत्रसार, आ० ११, पृष्ठ ११८।

५. लंघनेन परो योगी मन्दबुद्धिः क्रमेण तु ।
—तंत्रालोक, आ० ५।१५८, पृष्ठ ४७०।

६. सर्वोत्तीर्णं रूपं सोपानपदक्रमेण संश्रयतः ।
परतत्त्वरूढिलाभे पर्यन्ते शिवमयीभावः ॥—परमार्थसार, श्लोक ९७।

आरूढ़ होता है। यह क्रमिक आरोहण मलों की क्षीणता के तारतम्य और तदनुसार आंशिक मुक्ति-लाभ का द्योतक है।

आरोहण-क्रम से प्रमातृ-दशाएँ

सृष्टि-दशा में तीनों मलों से पूरी तरह परिवेष्टित साधारण प्राणी की संज्ञा 'सकल' प्रमाता है[1]। यह 'सकल' प्रमातृभाव अत्यन्त परिपुष्ट बन्धन की दशा है। जिन प्रमाताओं में आणव मल साथ संसृति का कारण कार्म मल भी विद्यमान होता है वे 'प्रलयाकल' कहलाते हैं[2]। 'सकल' प्रमातृवर्ग की अपेक्षा ये अंशतः मुक्त हैं, क्योंकि सकल प्रमाताओं की तरह ये सदा संसृति अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर के भागी नहीं होते। शून्य आदि की भावना से ये सुषुप्ति दशा को प्राप्त करके प्रलय-अवधि तक मुक्त रहते हैं और नये कल्प में स्थूल देहरूप कार्य और इन्द्रियरूप करणों से संबद्ध होकर पुनः जन्म-मरणरूप संसृति के पात्र बन जाते हैं। प्रलयाकलों की दो अवस्थाएँ मानी गई हैं—सवेद्यसुषुप्ति और अपवेद्यसुषुप्ति। अपवेद्यसौषुप्तपद में विश्रान्त प्रलयाकल दो मलों से मलिन रहते हैं। किन्तु सवेद्यसौषुप्तपद में विश्रान्त प्रलयाकलों में भिन्नवेद्यप्रथारूप मायीयमल भी माना गया है[3]। प्रलयाकल प्रमातृवर्ग से ऊर्ध्ववर्ती प्रमातृदशा के प्राणियों की संज्ञा 'विज्ञानाकल' है, जो केवल आणव संज्ञक 'मलैकयुक्त' कहे गये हैं[4]। ये प्रमाता माया से ऊर्ध्ववर्ती और शुद्धविद्या से अधोवर्ती दशा के प्रमाता हैं[5]। अतएव स्थूलदृष्टि से इनकी संसृति अर्थात्

---

१. (क)—देवादीनां च सर्वेषां त्रिविधं मलम्।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २—३।२।१०।

(ख)—मलत्रयोपरक्ता सकला मायातत्त्वान्तरालवर्तिनः।

—महार्थमंजरी टीका, पृष्ठ ३२।

२. (क)—शून्यार्थबोधरूपास्तु कर्तारः प्रलयाकलाः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २—३।२।८।

(ख)—तेषां न केवलमुक्तरूप आणव एव मलो यावत् कार्मोऽपि वासनासंस्काररूपो धर्माधर्मात्मास्त्येव।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २२५।

३. देखिए यही प्रबन्ध, अध्याय ४।

४. तत्र विज्ञानकेवलो मलैकयुक्तः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २२४।

५. मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञानकेवलाः।

—तंत्रालोक टीका, भाग ६, पृष्ठ ७८।

जन्म-मरणरूप आवागमन नहीं होता[1] और प्रलयाकलों की अपेक्षा ये अधिक मुक्त दशा के प्रमाता हैं। इनसे ऊपर शुद्धविद्या क्षेत्र के चार प्रमातृवर्ग हैं। वे स्वरूप-समावेश के प्रति आरोहण-क्रम के अनुसार इस प्रकार हैं—मंत्र, मंत्रेश्वर, मंत्रमहेश्वर और शिव।

काश्मीर शैवदर्शन में प्रमाता की पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं; जैसे, जाग्रत , स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत[2]। शिवसूत्रों में 'ज्ञानं जाग्रत्' कहकर

प्रमाता की पाँच अवस्थाएँ : जाग्रत् । स्वप्न । सुषुप्ति । तुर्य । तुर्यातीत

सर्वसाधारण विषयों के बाह्येन्द्रियजनित ज्ञान की अवस्था को जाग्रत् अवस्था बताया गया है[3]। इसमें बाह्येन्द्रियों द्वारा ज्ञेय विषय सभी प्रमाताओं के द्वारा जाना जा सकता है। दूसरी स्वप्नावस्था है जिसमें जीवात्मा की विकल्पात्मक स्थिति रहती है[4]। जीव की स्वप्न-सृष्टि उसके अपने संकल्पों से नमित होने के कारण उसके ही अन्तःकरण द्वारा वेद्य होती है। अतः 'स्विप्न' जाग्रत् का विपर्यय है[5]। शिवसूत्रों में 'स्वप्नो विकल्पाः' कहकर इसमें विकल्पों की प्रधानता स्वीकार करते हुए जीव के मनोमात्रजन्य असाधारण विषयों की विकल्प-रूपता को स्वप्नावस्था बताया गया है[6]। तीसरी अवस्था की संज्ञा सुषुप्ति है, जिसमें तंत्रालोक के अनुसार प्रमाता, प्रमेय-प्रमाण आदि के क्षोभ से शून्य स्वात्ममात्र में विश्रान्त होता है अर्थात् संकोचयुक्त केवल

---

१. इह विद्येश्वरविज्ञानाकलास्तावन्न भविनो मायान्ताध्वातिक्रमणात्, प्रलयाकलाः कंचित्कालं (प्रलयावधि) अविद्यमानभवाः ।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २,पृष्ठ २२७ ।

२. अवस्थापदान्येव विभजति–
जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च तुर्यं च तदतीतकम् ॥
—तंत्रालोक भाग ७, आ० १०।२२८ ।

३. शिवसूत्र १।८ ।

४. मेयच्छायावभासिनी मानप्रधाना स्वप्नावस्थेयमित्यर्थः ।
—तंत्रालोक टीका, भाग ७, पृष्ठ १६८ ।

५. आत्मसंकल्पनिर्माणं स्वप्नो जाग्रद्विपर्ययः ।
—तंत्रालोक, भाग ७, आ० १०।२९० ।

६. (क)—शिवसूत्र १।९ ।
(ख)—मनोमात्रजन्या असाधारणार्थविषया विकल्पाः स्वप्नः ।
—शिवसूत्रवृत्ति, पृष्ठ ३ ।

चेतना में आत्मत्व का अभिमान करता है[1]। इसमें प्रमेय या प्रमाण मुख्य न होकर प्रमातृदशा मुख्य होती है[2]। सुषुप्ति दो प्रकार की मानी गई है — अपवेद्यसुषुप्ति और सवेद्यसुषुप्ति। अपवेद्यसुषुप्ति 'शून्य-सुषुप्ति' है और सवेद्यसुषुप्ति 'प्राणसुषुप्ति' है[3]। शिवसूत्रों में 'अविवेको मायासौषुप्तम्' कह कर चित्स्वरूप के अविवेक अर्थात् अख्याति के कारण सुषुप्ति को मायामय सौषुप्तपद माना गया है[4]। चौथी तुर्यावस्था है। भाव-औदासीन्य के न्यग्भाव और पूर्णता के प्रति औन्मुख्य के कारण प्रमाता सुषुप्ति से ऊर्ध्वस्थित जिस शुद्ध चिन्मयी प्रमात्मक दशा को प्राप्त करता है उसे तुर्यावस्था या तुरीय अवस्था कहा गया है क्योंकि वहाँ परामर्श-रूप शक्ति में समावेश-प्राधान्य माना गया है[5]। यह संविद्रूप स्वप्रकाश की अवस्था है।

सुषुप्ति के दो भेद : सवेद्यसुषुप्ति और अपवेद्यसुषुप्ति

---

१. अतश्च मेयमानादिक्षोभमन्तरेण प्रमातापि स्वात्मविश्रान्तो
भवेद्येनेयमवस्था सर्वत्र सुष्ठु सुप्तमित्युद्घोष्यते।
—तंत्रालोक टीका, भाग ७, पृष्ठ १७६।

२. मुख्या मातृदशा सेयं सुषुप्ताख्या निगद्यते।
—तंत्रालोक भाग ७, आ० १०।२६०।

३. तत्र शून्यसौषुप्ते न किंचित् व्यतिरिक्तं वेद्यं,—इति
मायीयमलाभावादपवेद्यं तत्, प्राणसुषुप्ते तु
स्पर्शीकृतस्य सुख-दुःखादेर्भावात् मायाख्यमस्ति मलम्—
इति संवेद्यं तत्। ईश्वरप्रत्याभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २३७–३८।

४. (क)—शिवसूत्र १।१०।
(ख)—विवेचनाभाव अख्याति. एतदेव मायामयं सौषुप्तम्।
—शिवसूत्रवृत्ति, पृष्ठ ४।

५. यत्तु प्रमात्मकं रूपं प्रमातुरुपरि स्थितम्।
पूर्णतागमनौन्मुख्यमौदासीन्यात्परिच्युतिः॥
तत्तुर्यमुच्यते शक्तिसमावेशो ह्यसौ मतः।
—तंत्रालोक, भाग ७, आ० १०। २६४–२६५।
उपरिस्थितत्वमेव दर्शयति पूर्णतागमनौन्मुख्य-
मौदासीन्यात्परिच्युतिरिति। ननु कथकारं नाम
तुर्यदशायामौदासीन्यन्यग्भावमात्रात्स्वरूपताग्रहोन्मुखोभावो
भवेदित्याशंक्याह 'शक्तिसमावेशो ह्यसौ मयः' इति।
—वही, टीका, पृष्ठ १८०।

अतएव इसमें प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता से व्यतिरिक्त केवल स्वयंप्रकाशरूपा प्रमा ही शेष रहती है[१]। योगी इसे रूपातीत और प्रसंख्यानधनी 'प्रचय' कहते हैं[२]। इसके अनन्तर पाँचवी अवस्था तुर्यातीत है जो सर्वान्तर्भूत होने के कारण परिपूर्णता की अवस्था कहलाती है[३]। यही अनन्याकांक्षारूप परमविश्रान्तिधाम है जिसमें विश्रान्त प्रमाता अपने परिशुद्ध, सर्वातीत शिवत्व की प्रत्यभिज्ञा से पूर्णानन्दभरित होता है। इसी को 'परम पद' कहा गया है[४]। इससे बढ़ कर कुछ भी न होने के कारण ही इसकी संज्ञा अनुत्तर-स्थिति है[५] जिसे विज्ञानभैरव में परमार्थतः अकथ्या कहकर "अन्तःस्वानुभवानन्दगोचरा" बतलाया है[६]। तुर्य की भाँति तुर्यातीत की कोई यौगिक संज्ञा नहीं है क्योंकि यह भावनातीत है[७]। 'प्रचय' संज्ञक तुर्य से इसका महत्त्व प्रकट करने के लिए ही इसे शैवागम ग्रन्थों में 'महाप्रचय' कहा गया है[८]।

---

१. सा संवित्स्वप्रकाशा तु कैश्चिदुक्ता प्रमेयतः ।
मानान्मातुश्च भिन्नैव तदर्थं त्रितयं यतः ॥—तंत्रालोक, आ० १०।२६६।

२. एतदेव अवस्थाचतुष्टयं पिण्डस्थपदस्थरूपस्थरूपातीत—
शब्दैर्योगिनो व्यवहरन्ति, प्रसंख्यानधनास्तु
सर्वतोभद्रं व्याप्तिः महाव्याप्तिः प्रचय इति शब्दैः ।
—तंत्रसार, आ० ९, पृष्ठ १०७।

३. यच्च सर्वान्तर्भूतं पूर्णरूपं तत् तुर्यातीतं
सर्वातीतं महाप्रचयं च निरूपयन्ति। —तंत्रसार, आ० ९, पृष्ठ १०७।

४. यत्तु पूर्णानवच्छिन्नवपुरानन्दनिर्भरम् ।
तुर्यातीतं तु तत्प्राहुस्तदेव परमं पदम् ॥—तंत्रालोक, आ० १०।२७८।

५. परात्रिंशिकाविवरण, पृष्ठ १९।

६. व्यपदेष्टुमशक्यासावकथ्या परमार्थतः ।
अन्तः स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ॥
यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः ॥
—विज्ञानभैरव, श्लोक १४–१५।

७. नात्र योगस्य सद्भावो भावनादेरभावतः ।
अप्रमेयेऽपरिच्छिन्ने स्वतंत्रे भाव्यता कुतः ॥
योगाद्यभावतस्तेन नामास्मिन्नादिशत् विभुः ।
—तंत्रालोक, आ० १० । २७९-२८०।

८. ततोऽप्यस्य महत्त्वयोगः ।
तदुक्तम्
महाप्रचयमिच्छन्ति तुर्यातीतं विचक्षणाः ।
—तंत्रालोक टीका, भाग ७, पृष्ठ १९०।

काश्मीर शैवदर्शन के आचार्य केवल सिद्धान्त-निरूपक तार्किक ही न थे अपितु आत्मदर्शी योगी भी थे, यह बात सोमानन्द, उत्पलदेव और अभिनवगुप्त के ग्रन्थों में उपलब्ध प्रमाणों से पूर्णतया स्पष्ट है और यह भी सर्व-विदित है कि काश्मीर शैवदर्शन में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि कश्मीर के शैवसिद्धों ने अपनी योगानुभूति और चिन्तन के बल पर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय में से प्रत्येक के भीतर भी गौणमुख्यभाव से अनेक भेदों का उल्लेख किया है—

जाग्रत् आदि अवस्थाओं में से प्रत्येक की बहुभेदता

किन्तु जाग्रत्पदादीनां प्रत्येकं बहुभेदता[1]।

भास्कराचार्य ने अपने शिवसूत्रवार्त्तिक में जाग्रत् आदि प्रत्येक दशा के तीन-तीन प्रकार बताये हैं[2] और शैवाचार्य क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी में इनके स्वरूप को स्पष्ट करने का भी प्रयास किया है[3]। महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्त

---

१. मालिनीविजयवार्त्तिक १।२६५।

२. इत्थं तिस्रस्त्रिप्रकाराः प्रत्येकान्योन्ययोगतः।
मुख्यगौणत्वभेदेन ज्ञेयाः सम्यक् चिदात्मनः॥
शिवसूत्रवार्त्तिक (भास्कराचार्यकृत) १।४५-४६।

३· (क) तिसृष्वपि जागरादिदशासु त्रैरूप्यमस्ति। तथा चात्र यद्यत् स्वप्नदशोचितं प्रथममविकल्पं ज्ञानं सा जागरा। ये तत्र विकल्पाः स स्वप्नः। तत्त्वाविवेचनं सौषुप्तम्। सौषुप्ते यद्यपि विकल्पाः न संचेत्यन्ते, तथापि तत्प्रविविक्षायां तथोचितजाग्रज्ज्ञानमिव तदनन्तरं संस्कारकल्प-विकल्प-रूपस्तदुचितः स्वप्नोऽप्यस्त्येव। किंच योग्यभिप्रायेण प्रथमं तत्तत् धारणारूपं ज्ञानं जाग्रत्, ततः तत्-प्रत्यय प्रवाहरूपा विकल्पाः स्वप्नः, ग्राह्य-ग्राहकभेदासंचेतनरूपश्च समाधिः सौषुप्तम्। अतएव श्रीपूर्वशास्त्रे जागरादीनां परस्परानुवेधकृतो योग्यभिप्रायेण······इत्यादिना भेदो निरूपितः।—शिवसूत्रविमर्शिनी, प्रथम उन्मेष, पृष्ठ २५-२६।

(ख) जाग्रति त्रैरूप्यं, स्वप्ने त्रैरूप्यं, सौषुप्ते त्रैरूप्यमित्युवेधनम्। यथा जागरेऽपि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि, एवं स्वप्नेऽपि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि, सुषुप्ते च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि।
—वही, प्रथम उन्मेष, पादटिप्पणी, पृष्ठ २६।

का मत काश्मीर शैवदर्शन में उक्त दोनों आचार्यों के कथनों से बहुत बड़ा प्रमाण माना जाता है, उन्होंने भी अपने 'परात्रिंशिकाविवरण' में स्पष्टतया लिखा है कि जाग्रत् आदि प्रत्येक दशा में उत्तरोत्तरता के विचार से चार-चार भेद होते हैं[१]। प्रत्येक दशा के उन चार-चार प्रकारों को नीचे लिखे ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है—

जाग्रत्-अवस्था

जाग्रत् के चार भेद	(१) जाग्रत्-जाग्रत्	(२) जाग्रत् स्वप्न
	(३) जाग्रत् सुषुप्ति	(४) जाग्रत् तुरीय

स्वप्न अवस्था

स्वप्न के चार भेद	(१) स्वप्न-जाग्रत्	(२) स्वप्न स्वप्न
	(२) स्वप्न-सुषुप्ति	(४) स्वप्न-तुरीय

सुषुप्ति अवस्था

सुषुप्ति के चार भेद	(१) सुषुप्ति-जाग्रत्	(२) सुषुप्ति-स्वप्न
	(३) सुषुप्ति-सुषुप्ति	(४) सुषुप्ति-तुरीय

तुरीय अवस्था

तुरीय के चार भेद	(१) तुरीय-जाग्रत्	(२) तुरीय-स्वप्न
	(३) तुरीय सुषुप्ति	(४) तुरीय-तुरीय

'तुरीय-तुरीय' से जो उत्तरवर्ती है वही अनुत्तररूप तुर्यातीत है। तुरीय-तुरीय अवस्था का ही प्रमाता शिवप्रमाता है। कश्मीर के अद्वैतनिष्ठ शैवों के द्वारा तुरीय अवस्था के किए गये उपर्युक्त चारों भेदों से परिचित होने पर ही एक तुर्य (तुरीय) अवस्था में मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और शिव नामक चार प्रमाताओं की बताई गई स्थिति[२] का रहस्य समझ में आ सकता है।

स्वच्छन्दतन्त्र में लिखा है कि जिन मुक्तिपात्र जीवों पर शिव के द्वारा शक्तिपात किया जाता है वे सभी परमनिर्मल शिव-स्वरूप के साक्षात्कार के लिए

---

१. जाग्रत उत्तरं स्वप्नः, ततः सुप्तं ततस्तुर्यं ततोऽपि तदतीतं, जाग्रदादिष्वपि स्वात्मन्येव च रादिभेदतया उत्तरोत्तरत्वम्।

—परात्रिंशिकाविवरण, पृ० २३।

२. तन्त्रालोक टीका, भाग ७, पृष्ठ १९७-१९८।

ऊर्ध्वगन्ता होते हैं[1]। स्तवचिन्तामणि की विवृति में आचार्य क्षेमराज ने भी लिखा है कि भक्तिभाजन प्रमाता आरोहण-क्रम से वेद्यवेदकरूप स्वात्मसत्ता में समाविष्ट होते हुए सर्वोत्कर्षरूप में लीन होते हैं[2]।

शैवाचार्यों के उपर्युक्त दार्शनिक विचारों का प्रभाव कामायनी के रहस्य सर्ग में स्पष्टतया परिलक्षित होता है। परमेश्वर के शक्तिपात से स्वात्म समावेश की साधना में लीन मनु भी आरोहण-क्रम से विभिन्न प्रमातृ-दशाओं को पार करते हुए ऊर्ध्वगमन करता है। 'सकल' की जाग्रत् तथा स्वप्न दशाओं में से प्रत्येक के चारों भेदों तथा सुषुप्ति के प्रथम दो भेदों को 'कामायनी' के मनु के स्वरूप-समावेश के प्रति आरोहण-क्रम में खोजा नहीं जा सकता क्योंकि ये सभी अवस्थाएँ तो सकल प्रमाता ही में होती हैं और इनके प्रमातृ-स्वरूप की स्थिति तक तो मनु भी सकल प्रमाता ही बना रहता है। अतः जाग्रत् और स्वप्न में से प्रत्येक के चारों भेदों तथा सुषुप्ति के प्रथम दो भेदों (सवेद्य-सुषुप्ति) तक के मनु के आरोहण का बिम्ब प्रस्तुत करने के लिए कामायनीकार ने हिमालय की चढ़ाई का वस्तुपरक वर्णन किया है[3]। यहाँ स्मरण रखने का बात है कि जो तपःक्षेत्र हिमालय अपनी अनुपम प्राकृतिक रमणीयता के कारण भारतीय कवियों के लिए युगों से चिर-आकर्षण रहा है उसकी प्राकृतिक शोभा के सरस चित्र अपने काव्य में संजोने का लोभ प्रसादजी जैसा अतीत प्रेमी, भावुक और कल्पनाशील कविर्मनीषी कैसे संवरण कर सकता था ? फिर कामायनी प्रथमतः काव्य है और वह भी छायावाद की उत्कृष्ट रचना, जहाँ प्रकृति कहीं रमणीयता

---

१. मुक्तेस्तु भाजनं येऽत्र अनुध्याताः (कृतशक्तिपाताः) शिवेन तु।
ऊर्ध्वं गच्छन्ति ते सर्वे शिवं परमनिर्मलम् ॥
—स्वच्छन्दतन्त्र, भाग ६, पटल ११।६१।

२. अतएव अनुजिघृक्षुः भगवान् वैखरीमध्यमाप्रशमनपुरःसरं पश्यन्तीदशामुन्मज्ज्य यथोक्तानाश्रितपर्यन्तव्याप्तिकां तां वेद्यत्वेन आभास्य वेद्यवेदकस्वात्मसत्ताम् आरोहणक्रमेण आवेशयन् भक्तिभाजः सर्वोत्कर्षेण वर्तते।
—स्तवचिन्तामणिविवृति, पृष्ठ ३।

३. रहस्य सर्ग के प्रारम्भ से लेकर
ऊपर महाशून्य का घेरा
ऊँचे चढ़ने की रजनी का
यहाँ हुआ जा रहा सवेरा — छन्द तक।
— कामायनी, पृष्ठ २५७-२५८।

का साधन और कहीं आलम्बन बन कर लसित हुई है। इसी युग-प्रभाव और प्रसादजी की उक्त मनोवृत्ति का परिणाम रहस्य सर्ग के आरम्भ का प्रकृति-चित्रण है जिसके द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों के गुम्फन के फलस्वरूप यहाँ आने वाली नीरसता से काव्य-सौन्दर्य की रक्षा करते हुए प्रसादजी ने काव्य-रमणीयता की विवृद्धि की है।

सुषुप्ति के द्वितीय भेद 'सुषुप्ति-स्वप्न' (सवेद्य सुषुप्ति) के अनन्तर आरोहण-क्रम से 'आत्म-समावेश' की ओर उन्मुख मनु के प्रमातृत्व में आए हुए सुषुप्ति के अन्तिम दो अवस्था-भेदों अर्थात् 'सुषुप्ति-सुषुप्ति' तथा 'सुषुप्ति-तुरीय' और तुरीय अवस्था के चारों भेदों को अब हम यहाँ स्पष्ट करेंगे। सवेद्य-सुषुप्ति के अनन्तर अपवेद्यसुषुप्ति में देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सब के अहन्ताभिमान का अभाव रहता है[1] और इन सभी वस्तुओं से शून्य केवल निर्वेद्य संकोचयुक्त चेतनामात्र पर ही आत्मत्व के अहन्ताभिमान को स्थिर करना पड़ता है[2]। किन्तु प्रत्येक साधक के लिए ऐसा करना सरल नहीं है। मनु के लिए भी नहीं। वह मंदबुद्धि साधक है, जो सोपानपदसंश्रय से आत्म-समावेश या स्वरूप-समावेश की ओर बढ़ता है। साधना-मार्ग की बाधाओं के आगे हिम्मत हार कर भग्नाश होता हुआ (साधकरूप) मनु जब साधना के उत्तरोत्तर रूप का निर्वाह करने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है—

कहाँ ले चली हो अब मुझको,
श्रद्धे ! मैं थक चला अधिक हूँ।
साहस छूट गया है मेरा,
निस्संबल भग्नाश पथिक हूँ[3] ॥

तब सब कुछ ज्ञात होने के कारण आत्मदर्शी गुरु (श्रद्धा के मुख पर) विश्वास-भरी सहज 'स्मिति' झलक उठती है—

---

१. तथाविधे बुद्धयादीनां देहादिनीलान्तामभावरूपे शून्यत्वमुच्यते, यतस्तत्र ज्ञेयानां 'शून्यता' अभावरूपता संस्कारशेषता।
इयमेव हि सर्वत्राभावो न सतां सर्वात्मना विनाशः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २३५।

२. तत्रैव चाहन्तारूपं कर्तृतायाः पदं परामर्शोऽस्फुटत्वादरूपात्मना संस्कारेण शुद्धेन वेद्यपदवीमप्राप्तेन युक्तो भवति।
...... अत एव संस्कारशेषीकृतज्ञेयरूपा 'शून्य' इत्युच्यते।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २३४।

३. कामायनी रहस्य सर्ग, पृ० २५९।

यह विश्वास भरी स्मिति निश्छल,
श्रद्धा मुख पर झलक उठी थी[1]।

श्रद्धा-मुख की यह सहज स्मित जीवात्मा मनु पर अभिव्यक्त होने वाले गुरुरूपा श्रद्धा के अन्तःस्थ अनुग्रहातिरेक की द्योतक है जिसे कामायनीकार ने यह कह कर प्रकट किया है—

सेवा कर-पल्लव में उसके,
कुछ करने को ललक उठी थी[2]।

सोपानपद-संश्रय से स्वरूप-समावेश की ओर उन्मुख मनु की 'सुषुप्ति—सुषुप्ति' प्रमातृ-अवस्था

अपने उपर्युक्त अनुग्रहातिरेक की अभिव्यक्ति के रूप में वह (श्रद्धा) गृहीतशिष्यभाव विकल साधक मनु को अवलम्ब देकर सुषुप्ति प्रमातृ-अवस्था में विश्रान्त करती है—

दे अवलंब, विकल साथी को
कामायनी मधुर स्वर बोली,
दिशा विकम्पित, पल असीम है
यह अनंत-सा कुछ ऊपर है।
० ० ०
शून्य, पवन बन पंख हमारे
हमको दे आधार, जमे रहें[3]।

उपर्युक्त वर्णन में सुषुप्ति अवस्था का स्वरूप है, जहाँ देश और काल ('दिशा', 'पल') की सीमाएँ टूट गई हैं और वेद्य का अभाव हो गया है। इस सुषुप्ति दशा को शास्त्रीय भाषा में 'सुषुप्ति-सुषुप्ति' संज्ञा से अभिहित किया जाता है, जिसकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। शून्य-प्रमातृभाव में

मनु : शून्यप्रलयाकल प्रमाता

(केवल शून्य में) आत्मत्व का अभिमान (अहन्ताभिमान) करने के कारण मनु यहाँ 'शून्यप्रलयाकल' प्रमाता है। 'शून्य पवन बन पंख हमारे, हमको दे आधार, जमे रहें' शब्दों के द्वारा कामायनीकार ने यह

१. कामायनी, रहस्य सर्ग पृष्ठ २५९।
२. वही।
३. वही, पृष्ठ २६०।

स्पष्ट किया है कि देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि में रहने वाले अहन्ताभिमान से मनु यहाँ ऊपर उठ चुका है। उसे अब वेद्य-रहित केवल 'शून्य' का ही विमर्श हो रहा है। यह शून्य का विमर्श देह, इन्द्रिय और बुद्धि के विमर्श से उन्नत दशा का विमर्श है। अतः वह (मनु) 'सुषप्ति-सुषुप्ति' (शून्य-सुषुप्ति) का शून्यप्रलयाकल प्रमाता है क्योंकि शून्य-आधार में शून्य प्रमाता ही ठहर सकता है—

शून्य, पवन बन पंख हमारे
हमको दे आधार, जमे रहें।

'सुषप्ति-सुषुप्ति' अवस्था का प्रलयाकल प्रमाता बौद्धों के 'निर्वाण' का स्वरूप प्रकट करता है। किन्तु ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त सुषुप्ति की शून्यता का तात्पर्य ज्ञेयों की अभावरूपता से है, सर्वात्मभाव से सत्ता के विनाश से नहीं है[1] क्योंकि सर्वात्मभाव से सत्ता का विनाश होने पर तो 'शून्य' के विमर्श का भी अभाव हो जायगा, जो यहाँ है नहीं। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि मनु की उक्त सुषप्ति धातु-दोषादिकृत सुषप्ति न होकर परमेश्वर के स्वातंत्र्य (शक्तिपात) से उन्मिषित हुई सुषुप्ति है।

मनु की उक्त सुषुप्ति-सुषुप्ति के शून्यत्व का तात्पर्य

गुरुरूपिणी श्रद्धा मनु से प्रश्न करती है—

अनुभव करते हो, बोलो क्या
पदतल में सचमुच भूधर है[2] ?

गुरुरूपा श्रद्धा के उक्त प्रश्न के उत्तर में साधक मनु कहता है—

निराधार हैं[3]।

साधक मनु के इस कथन से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वह (मनु) यहाँ शून्य-प्रलयाकल प्रमाता है और यह भी पता लगता है कि शून्य में अर्थात् शून्यप्रलयाकल प्रमातृभाव में स्वात्मस्वरूप की यहाँ जो 'भावना' की जा रही है वह 'शाक्तोपाय' की भावना है क्योंकि यहाँ सर्वत्र शून्य होने से बाह्य आलम्बन का तो अभाव है, किन्तु विकल्प विद्यमान है। भावनारूप यह विकल्प 'शुद्ध विकल्प' है। शुद्ध विकल्प का तात्पर्य यह है कि यहाँ भेद-विकल्पता का अभाव

मनु द्वारा शाक्तोपाय की भावना

१. यतस्तत्र ज्ञेयानां 'शून्यता' अभावरूपता संस्कारशेषता।
इयमेव हि सर्वत्राभावो न सतां सर्वात्मना विनाशः॥
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २३५।

२. कामायनी, रहस्य सर्ग, पृष्ठ २६०।

३. वही।

है। शाक्तोपाय की परिभाषा करते हुए यह बात विज्ञानभैरव की विवृति में लिखी भी गई है—

सर्वाहंभावभावनात्मकशुद्धविकल्पावमर्शरूपः शाक्तः[1]।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में भी लिखा है कि उच्चाररहित वस्तु का चित्त से ही चिन्तन करते हुए साधक जिस समावेश को प्राप्त करता है उसे शाक्तोपाय कहा जाता है[2]। निराधार की भावना के सम्बन्ध में 'विज्ञानभैरव' में कहा गया है कि दिग्विभागादि से अनावृत निराधार व्योमाकार-रूप में स्वात्मस्वरूप की भावना करने पर निराश्रया चिति शक्ति साधक को स्वरूप-दर्शन कराती है[3]। कामायनी में भी निराधार की उक्त भावना का स्वरूप उपलब्ध होता है—

निराधार हैं।

निराधार की इस भावना के अनन्तर ही साधक मनु में चिद्रूपता का धुंधला-सा प्रकाश उदित होता हुआ दिखाई पड़ता है, जिसका बिम्ब प्रस्तुत करते हुए श्रद्धा कहती है—

झाँई लगती जो, वह तुमको
ऊपर उठने को है कहती।
इस प्रतिकूल पवन धक्के को
झोंक दूसरी ही आ सहती।[4]

मनु की 'सुषुप्ति-तुरीय' प्रमातृ-अवस्था

चिद्रूपता के उदीयमान किंचिन्मात्र स्फुट, धुंधले प्रकाश को 'झाँई' से बिम्बित करके यहाँ इस दार्शनिक रहस्य की प्रतीति कराने का प्रयास किया गया है कि यह अस्फुट चित्प्रकाश सुषुप्ति के चतुर्थ भेद अर्थात् सुषुप्ति-तुरीय अवस्था का है। ऐसा मानने का आधार यह है कि 'परमार्थसार' के अनुसार वैसे तो 'सुषुप्ति-तुरीय' प्रमातृ-दशा प्रकाशरूपा ही है, किन्तु

---

१. पृष्ठ १९।

२. उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते॥
—मालिनीविजयोत्तर तन्त्र २।२२।

३. व्योमाकारं स्वमात्मानं ध्यायेद् दिग्भिरनावृतम्।
निराश्रया चितिः शक्तिः स्वरूपं दर्शयेत्तदा॥
—विज्ञानभैरव, श्लोक ९२।

४. कामायनी, रहस्य सर्ग, पृष्ठ २६०।

महाशून्यत्व में तिरोहित ग्राह्य-ग्राहक प्रपंच के क्षयोन्मुख संस्कारों की किंचित् शेषरूपता के कारण यह शुद्ध चिन्मयी न होकर ध्यामला (अस्फुट-सी) होती है[1]। प्रकाशरूपता की वह ध्यामलता (अस्फुटता) ही यहाँ 'झाँई' शब्द से व्यपदिष्ट है। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि हिन्दी का 'झाँई' शब्द शास्त्रीय शब्द 'ध्यामल' का ही हिन्दी रूपान्तर है, क्योंकि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'झाई' 'ध्यामल का ही विकृत रूप है। संस्कृत के 'ध्य' का प्राकृतों में 'झ' हो जाता है[2]। यहाँ 'झाँई' शब्द के प्रयोग से, यदि कोई चाहे तो, प्रसादजी के शब्द-प्रयोग की कुशलता की भी सराहना कर सकता है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित प्रतीत होता है कि 'प्रतिकूल पवन धक्के' का तात्पर्य यहाँ साधक मनु की ऊर्ध्वोन्मुखी साधना में आने वाली बाधाओं से है। कुछ विद्वानों को इसमें वैज्ञानिक तथ्य की झलक मिली है[3]। दर्शन विज्ञान का विरोधी हो, ऐसी तो कोई बात है नहीं, परन्तु प्रसादजी का झुकाव यहाँ स्पष्टतः ही विज्ञान की अपेक्षा दर्शन की ओर अधिक प्रतीत होता है। ऐसा मानने का कारण यह है कि 'प्रतिकूल पवन-धक्के' के साथ 'झोंक दूसरी ही आ सहती' का प्रयोग यह बताता है कि प्रसाद जी यहाँ दार्शनिक तथ्य की ही अभिव्यक्ति करना चाहते हैं क्योंकि वैज्ञानिक (भौतिक विज्ञान की) दृष्टि से 'प्रतिकूल पवन-धक्के' को सहने वाली 'झोंक दूसरी' का यहाँ कोई युक्तिसंगत अर्थ नहीं बैठता। दार्शनिक दृष्टि से 'झोंक दूसरी ही आ सहती' में पारमेश्वरी ज्येष्ठाशक्ति के द्वारा उन्मीलित मनु के पारमार्थिक ज्ञान-क्रिया-स्वभाव के उस स्वातन्त्र्यलेश का संकेत है[4] जिससे साधनागत बाधाओं का अतिक्रमण करके साधक मनु आगे बढ़ता है।

---

१. एषा सुषुप्तिभूमिः 'ज्ञानघना' प्रकाशमूर्तिः
केवलं विश्वप्रलयसंस्कारेण ध्यामला (अस्फुटा)सती शुद्धचिन्मयी न भवति।
—परमार्थसार टीका, पृष्ठ ७९।

२. ध्यह्योर्झः।
—बिहारीरत्नाकर में उद्धृत, पृष्ठ १।

३. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृष्ठ ४६२।

४. (क) ज्येष्ठा स्वातन्त्र्यलेशं तु तनुते ज्ञानकर्मणोः।
—तन्त्रालोकटीका, भाग ४, पृष्ठ ५०।

(ख) अनुग्रहं ज्येष्ठया तु कुरुते नात्र संशयः।
—नेत्रतन्त्र भाग १, आ० २१।४३-४४।

निराधार में पूर्वोक्त शाक्तोपाय की भावना से चिन्मयी दशा की पूर्णता की ओर आगे बढ़ते हुए मनु को, अन्तःसाधनागत कठिनाई से विकल जानकर, श्रद्धा ने सच्चे गुरु की भाँति उसे अनुग्रहवश 'सुषुप्ति-तुरीय' के स्फुट चिन्मय स्वरूप में पहुँचा दिया और उसे आश्वस्त करते हुए कहा —

घबराओ मत ! यह समतल है
देखो तो, हम कहाँ आ गये।[1]

श्रद्धा के यह कहते ही 'मनु ने देखा आँख खोल कर' —

ऊष्मा का अभिनव अनुभव था
ग्रह, तारा, नक्षत्र अस्त थे;
दिवा-रात्रि के संधिकाल में
ये सब कोई नहीं व्यस्त थे।
ऋतुओं के स्तर हुए तिरोहित
भू मण्डल रेखा विलीन सी,
निराधार उस महादेश में
उदित सचेतनता नवीन-सी।[2]

मनु की विज्ञानाकल प्रमातृदशा।

'ऊष्मा का अभिनव अनुभव' वाली उक्त प्रमातृ-दशा समस्त मायीय बन्धनों की प्रक्षीणता से उदित तुरीयोन्मुखीभूत 'सुषुप्ति-तुरीय' है। 'काल' की क्रमरूपता अथवा आभासवैचित्र्य को अवभासित करने वाले 'ग्रह, तारा, नक्षत्र अस्त' और 'ऋतुओं के स्तर तिरोहित' दिखाकर 'निराधार उस महादेश में उदित सचेतनता नवीन-सी' की अनुभूति का उल्लेख करके यह प्रकट किया है कि यहाँ मनु की शून्य प्रलयाकलता क्षीण होकर विज्ञानाकलता उदित हो गई है। मनु की इस विज्ञानाकलता या विज्ञानाकल प्रमातृ-अवस्था का आरम्भ होते ही प्रसादजी ने मनु के अनुभव को इन शब्दों में व्यक्त किया था—

मनु ने देखा आँख खोल कर
जैसे कुछ-कुछ त्राण पा गये।[3]

मनु के 'त्राण पा गये' कथन में भी इस दार्शनिक तथ्य की व्यंजना है कि मनु मायोत्तीर्ण विज्ञानाकल प्रमातृदशा में पहुँच गया है क्योंकि काश्मीर शैव-दर्शन के अनुसार विज्ञानाकल प्रमाता, मायापद में स्थित सकल, प्रलयाकल

२८०-२८१

१. कामायनी, रहस्य सर्ग, पृष्ठ २६१।
२. वही।
३. वही।

और शून्यप्रलयाकल प्रमाताओं की भाँति जन्म-मरणरूप संसृति-दुःखों के भोक्ता न बन कर संसृति-दुःखों से मुक्त रहते हैं।[१] विज्ञानाकल प्रमातृ-पद में पहुँच जाने के कारण मनु ने भी अब संसृति-दुःखों से 'कुछ-कुछ' त्राण पा लिया है। जब वह विज्ञानाकलता के परिशीलनादि से उक्त प्रमातृपद के 'बोध' को अपने में दृढ़ कर लेगा तब तो 'कुछ-कुछ' नहीं प्रत्युत पूर्णतः ही त्राण पा लेगा। मनु की विज्ञानाकलता वाली उपर्युक्त 'सुषुप्ति-तुरीय' अवस्था तुरीय अवस्था के शुद्ध चिन्मय प्रकाश की सीमा का स्पर्श करती है। इसी कारण साधक मनु को यहाँ 'ऊष्मा का अभिनव अनुभव' हो रहा है। 'ऊष्मा' का प्रयोग यहाँ पारिभाषिक अर्थ में किया गया है, इस तथ्य को कवि ने ऊपर उद्धृत द्वितीय पद की अन्तिम पंक्ति में 'ऊष्मा' के लिए 'सचेतनता' का प्रयोग करके स्पष्ट भी कर दिया है। उक्त 'सुषुप्ति-तुरीय' में हुए अनुभव को 'अभिनव' कहने का कारण यह है कि इस दशा को छोड़कर साधना के आरोहणक्रम में मनु के द्वारा अब तक अनुभूत उपभेदों वाली जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक प्रमातृ-दशाएँ मायान्तर्वर्ती अज्ञानमयी अवस्थाएँ थीं और यह (सुषुप्ति-तुरीय), समस्त मायीय बंधनों का प्रशमन होने के कारण, मायोत्तीर्ण तुरीय अवस्था के चिन्मय प्रकाश का स्पर्श करती हुई 'जाग्रत्-जाग्रत्' से लेकर 'सुषुप्ति-सुषुप्ति' तक की सभी पूर्वगत अवस्थाओं से नवीन प्रकार का (सत्तामात्रस्वरूप) बोध करा रही है। तुरीय को चिन्मयी और उससे अधोवर्ती जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक अवस्था-त्रय को अचिन्मयी (अज्ञानमयी) कहने का आधार 'परमार्थसार' की टीका है। उक्त टीका में तंत्रालोक के प्रसिद्ध टीकाकार जयरथ ने स्पष्ट शब्दों में प्रमुख अवस्था चतुष्टय में से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को अज्ञानमयी अवस्थाएँ कहा है और तुरीय को संविद्रूप स्वप्रकाश की अवस्था बताया है[२]। 'सुषुप्ति-तुरीय' में स्थित मनु अब संविद्रूप स्वप्रकाश की अवस्था की देहली पर आ पहुँचा है, 'उदित सचेतनता नवीन-सी' उक्ति इसी तथ्य का द्योतन करती है। विज्ञानाकल प्रमातृपद में स्थित मनु यहाँ माया से ऊर्ध्ववर्ती प्रमाता है क्योंकि तंत्रालोक के अनुसार विज्ञानाकल प्रमाता माया से ऊर्ध्ववर्ती और शुद्धविद्या से

---

१. देखिए यही प्रबन्ध, चतुर्थ अध्याय।

२. तस्मात् सुषुप्तात् 'परम्' अन्यत् निःशेषपाशववासनासंस्कारपरिक्षयात् शुद्धपूर्णानन्दमयं ब्रह्मणः तुरीयं रूपम्। जाग्रदादयोऽवस्थाः सर्वाः भेदप्रवणत्वात् प्रमातॄणां अज्ञानमय्यः, तुरीयं ग्राह्य-ग्राहकक्षोभप्रलयसंस्कारपरिक्षयात् ज्ञानघनप्रकाशानन्दमूर्तिः। —पृष्ठ८०।

अधोवर्ती अवस्था के प्रमाता होते हैं—'मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञानकेवलाः'"[1]। मायीय दशा से ऊपर निकल आने के कारण ही अब वह माया-जनित वैषम्य की निवृत्ति से विज्ञानाकलता की साम्य दशा में पहुँचा है। उक्त साम्य दशा को ही श्रद्धा ने 'समतल' कहा है—

घबराओ मत ! यह समतल है,
देखो तो, हम कहाँ आ गये[2]।

उपर्युक्त 'समतल' शब्द सामरस्य की अवस्था के अर्थ में प्रयुक्त है। किन्तु यह भी स्मरण रखना होगा कि मायीय वैषम्य की निवृत्तिपूर्वक सत्तामात्रस्वरूप में या स्वप्रकाश की दशा में स्थित हो जाने पर भी मनु अभी स्वप्रकाश की परिपूर्ण अवस्था में नहीं पहुँचा है। अतः 'समतल' शब्द से कथित सामरस्य या सामरस्य की अवस्था परिपूर्ण सामरस्य की अवस्था नहीं है।

'ऊष्मा के अभिनव अनुभव' में अथवा 'सचेतनता' के 'समतल' में ग्रह, तारे, नक्षत्र अस्तमित दिखाने वाला प्रसाद जी का विचार, शब्द और अर्थ दोनों ही रूपों में, स्पष्टतया शैवाचार्य उत्पलदेव के निम्नांकित स्तोत्र से मिलता है—

यत्र सोऽस्तमयमेति विवस्वाँश्चन्द्रमः प्रभृतिः सह सर्वैः।
काऽपि सा विजयते शिवरात्रिः स्वप्रभाप्रसरभास्वररूपा ॥[3]

और विचार करने पर प्रकट होता है कि प्रसाद जी ने अपना उक्त विचार 'शिवस्तोत्रावली' से ही लिया है। 'शिवस्तोत्रावली' के उपर्युद्धृत श्लोक की प्रथम पंक्ति में कहा गया है—'अस्तमयमेति विवस्वाँश्चन्द्रमः प्रभृतिः सह सर्वैः' और ठीक यही कथन कामायनी की इस पंक्ति में है—"ग्रह, तारे, नक्षत्र अस्त थे"। इसी प्रकार कामायनी की "उदित सचेतनता" उक्ति शिवस्तोत्रावली की "स्वप्रभाप्रसरभास्वररूपा" उक्ति से मिलती है। इतना ही नहीं, 'ग्रह, तारे, नक्षत्र' आदि के 'अस्त' से समस्त मायीय प्रथा के संहार की और 'सचेतनता नवीन-सी' के उदय से तुरीय अवस्था की स्वप्रकाशरूपता के उदय की व्यंजना करने में भी प्रसाद जी ने शिवस्तोत्रावली के पूर्वोद्धृत श्लोक की क्षेमराजकृत व्याख्या को अपनाया है।[4]

१. तन्त्रालोक ६, पृष्ठ ७८।

२. कामायनी, रहस्य सर्ग।

३. शिवस्तोत्रावली ४।२२।

४. समस्तमायीय प्रथायाः संहरणाद्रात्रिरिव रात्रिः। कीदृशी, स्वप्रभाप्रसरेण चित्प्रकाशजृम्भणेन भासनशीलनं रूपं यस्याः तादृशी।—पृष्ठ ३६

उपर्युक्त "उदित सचेतनता नवीन-सी" से यहाँ मनु में जिस विज्ञानाकल प्रमातृदशा की पूर्ण स्फुटता की अर्थात् शुद्ध बोद्धृतामात्र की परिव्यंजना होती है उसे काश्मीर शैवदर्शन में तात्त्विक मुक्ति की दशा नहीं माना है क्योंकि उक्त दर्शन के अनुसार विज्ञानाकल प्रमाता केवल शुद्ध बोधरूप होते हैं। 'अहं' रूप विमर्श का उनमें अभाव होता है[१]। विमर्श या स्वातंत्र्य से रहित केवल बोधमात्ररूप (प्रकाश मात्र रूप) वाले उक्त 'विज्ञानाकल' को वेदान्ती "विज्ञानं ब्रह्म" कह कर परमेश्वर मानते हैं[२]। किन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार विमर्श-रहित परमेश्वर जड़तुल्य है[३]। अतएव इस दर्शन के आचार्य शुद्धबोधरूपता के साथ विमर्श को भी प्रकाशरूप परमेश्वर का नित्य स्वभाव मानते हैं[४]। यह विमर्श ही परमेश्वर की इच्छा ज्ञान-क्रियारूपा शक्ति है। काश्मीर शैवदर्शन की इसी मान्यता के आधार पर कामायनीकार प्रसाद जी ने यहाँ प्रकाशरूपता में अर्थात् विश्वोत्तीर्णता में इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपा शक्ति का अर्थात् विश्वमयता का उन्मेष दिखाया है—

शुद्ध प्रकाशरूपता (विश्वोत्तीर्णता)
में इच्छा ज्ञान क्रियारूपा शक्ति
(विश्वमयता) का उन्मेष

त्रिदिक् विश्व आलोक बिन्दु भी,
तीन दिखाई पड़े अलग वे[५]

और इनका स्वरूप "इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये" कहकर प्रकट किया है[६]।

---

१. तत्र विज्ञानकेवलो मलैकयुक्तः— इत्यादौ 'विज्ञानं' बोधात्मकं रूपं केवलं स्वातन्त्र्यविरहितमेषामिति।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृ० २२४

२. स्पन्दनिर्णय, पृष्ठ १८।

३. स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग १—१।५।११।

४. स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः ॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग १-१।८।११।

तेन (विमर्शेन) विना हि जडभावोऽस्य
(प्रकाशस्य) स्यात्।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १ पृष्ठ ३३९।

५. कामायनी, रहस्यसर्ग, पृष्ठ २६१।

६. वही, पृ० २६२।

प्रकाश ही तो वह आश्रय है जिसमें विमर्श का उन्मेष होता है अर्थात् प्रकाशरूप में ही विमर्शरूपा शक्ति का उन्मेष होता है। शिव के बिना शक्ति नहीं और शक्ति के बिना शिव नहीं, इस तथ्य के प्रति प्रसाद जी पूर्ण जागरूक थे। यही कारण है कि उन्होंने यहाँ प्रकाशरूपता में इच्छादिरूपा शक्ति का उन्मेष दिखाया है।

केवल शुद्धप्रकाशरूपता के अनन्तर (उसके आश्रय में) विमर्शरूपता का उक्त उन्मेष विज्ञानाकल प्रमातृत्व से ऊपर की प्रमातृ दशा का परिचायक है क्योंकि विज्ञानाकल प्रमातृ-अवस्था तक तो केवल प्रकाशरूपता ही रहती है। इसीलिए प्रसादजी ने मनु की विज्ञानाकल प्रमातृ-दशा तक तो केवल "उदित सचेतनता नवीन-सी" ही कहा है और उस सचेतनता (प्रकाशरूपता) में इच्छादि विमर्श का उन्मेष नहीं दिखाया है जो जत्र विज्ञानाकल प्रमातृदशा से ऊपर की शुद्ध विद्या की दशा में दिखाया गया है। यहाँ विज्ञानाकल प्रमातृ-दशा से ऊपर की दशा में प्रकाश के साथ विमर्श भी उन्मिषित दिखाने का

मनु की 'तुरीय-जाग्रत्' अवस्था

कारण यह है कि सामरस्यवादी काश्मीर शैवदर्शन की शिवत्वकल्पना में विश्वोत्तीर्णता के साथ विश्वमयता भी अनुस्यूत है। केवल प्रकाशरूपता तो विश्वोत्तीर्णता है जो उक्त दर्शन के अनुसार शिवता की स्थिति न होकर 'जड़ता' की-सी स्थिति है। प्रकाश के अधिकरण में यहाँ शक्ति के इच्छा आदि तीन रूपों में दिखाई पड़ने के कारण यह परामर्श-अवस्था शुद्धप्रमाता मनु की 'तुरीय जाग्रत्' अवस्था है। मनु को यहाँ जो तीन

मनु का विद्येश्वर प्रमातृस्वरूप

'आलोक बिन्दुओं' की भिन्न वेद्यप्रथा हो रही है उसके कारण वह (मनु) यहाँ उस विद्येश्वर प्रमातृ-दशा में स्थित प्रतीत होता है जो दशा विज्ञानाकलता से ऊर्ध्वस्थित है। प्रकाश की अभेद-रूपता में हो रही विद्येश्वर प्रमाता मनु की इस तीन आलोक बिन्दुओं वाली भिन्न वेद्यप्रथा का कारण 'महामाया' का प्रभाव है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' के अनुसार शुद्ध चिन्मात्र में 'अहन्ता' का विमर्श होने पर भी विद्येश्वर प्रमाता (मंत्र-प्रमाता) महामाया के प्रभाव से प्रकाशरूप वेद्य को स्वात्मरूप (अपने से अभिन्नरूप) में न देखकर अपने से भिन्न देखते हैं[1]। वेद्य को आत्मवत्

१. तत एवाप्ररूढमायाकल्पत्वात् महामायेयं श्रीरौरवादिगुरुभिरुपदिष्टा, तदेतदाह।

मेदधीरेव भावेषु कर्तुर्बोधात्मनोऽपि या।
मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, पृष्ठ २००

प्रकाशरूप अनुभव करते हुए भी इस प्रकार उसे भेद-दृष्टि से देखना एक प्रकार का सूक्ष्मतम स्वरूप-संकोच ही है, जिसे महामाया का प्रभाव कहा गया है। स्वच्छन्द तंत्र के टीकाकार आचार्य क्षेमराज ने ऐसा लिखा भी है कि मंत्र (विद्येश्वर) प्रमाता से लेकर मंत्रमहेश्वर तक सभी शुद्ध प्रमाताओं में संकोच-रूपी प्रपंच की उत्थापिका पारमेश्वरी शक्ति को 'महामाया' कहा जाता है[1]। वस्तुतः यह महामाया शुद्ध विद्या ही है, किन्तु मन्त्रमहेश्वर से लेकर मंत्रपर्यन्त शुद्ध प्रमाताओं में संकोच अर्थात् भेदोल्लासन करने के कारण महामाया कहलाती है[2]। इसी कारण स्वच्छन्दतंत्र में 'मायोपरिमहामाया'[3] कहकर माया से इसकी ऊर्ध्वता और पृथकृता प्रकट की गयी है। इसी महामाया के प्रभाव से मनु में अभी कुछ स्वरूप-संकोच है जिसके कारण वह सर्वत्र 'प्रकाश' का 'स्फुरण' अनुभव करते हुए भी पूर्ण अद्वैतविमर्श की दशा पर आरूढ नहीं हुआ है। इस प्रकार अपनी भाँति वेद्य को भी प्रकाशरूप ('आलोकरूप') समझते हुए भी उसे भिन्नवेद्यप्रथा से प्रत्यवमृष्ट करने के कारण मनु यहाँ स्पष्टतया विद्येश्वर प्रमाता (मन्त्रप्रमाता) है। विद्येश्वर प्रमाता में शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने क्रियाशक्ति की स्फुटता बतलाई है[4] और तंत्रालोक के अनुसार शिव में क्रियाशक्ति की स्फुटता जागृति कहलाती है[5]। अतः इससे भी हमारा यह उपर्युक्त निष्कर्ष परिपुष्ट होता है कि विद्येश्वर प्रमाता मनु यहाँ 'तुरीय-जाग्रत्' अवस्था में अवस्थित है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में आचार्य

---

१. सदाशिवादिमन्त्रान्तशुद्धप्रमातृसंकोचप्रपंचोत्थापिका महामायाशब्दवाच्या उच्यते।

—स्वच्छन्दतंत्रटीका, भाग ३, पटल ६, पृष्ठ १७२।

२. इदं तु विद्यात्वम्।
अन्ये चैनां विद्यां भेदोल्लासात् महामायामिच्छन्ति।

—शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ २५।

३. स्वच्छन्दतंत्र, भाग ५ब, पृ० २९८-२९९।

४. विद्येश्वरेषु क्रियाशक्तिः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २०२।

५. एकत्रापि प्रभो पूर्णे चित्तुर्यातीतमुच्यते।
आनन्दस्तुर्यमिच्छैव बीजभूमिः सुषुप्तता॥
ज्ञानशक्तिः स्वप्न उक्तः क्रियाशक्तिस्तु जागृतिः।

—तंत्रालोक, आ० १०। २९९-३००।

अभिनवगुप्त ने उक्त विद्येश्वर प्रमाता (मंत्रप्रमाता) को द्वैतवादियों के ईश्वर के तुल्य बताया है[१]।

विद्येश्वर या मन्त्रप्रमाता मनु के भिन्नवेद्यविमर्श का कारण यह है कि शुद्ध अध्वा की उपर्युक्त मन्त्रप्रमातृ अवस्था शिवत्व की वह अवस्था नहीं है जिसमें "अहम्" रूप अद्वैतविमर्श होता है[२]। अद्वैत विमर्शात्मक शिव-समावेश तो प्रमाता की परतत्त्वविश्रान्ति ही होती है। जब तक साधक इस शिव-समावेशरूप परतत्त्व में पूर्णतः विश्रान्त (तत्त्वारूढ) नहीं होता तब तक शुद्ध प्रमाता को चिद्रूपता में भी, प्रकाश रूप में ही सही परन्तु वेद्य—वेदक भाव से (अहम् इदम् रूप से) भेद-विमर्श होता है और जब वह परतत्त्वारूढ अर्थात् शिवदशा-विश्रान्त हो जाता है तब ही उसे सर्वत्र पूर्ण 'अहम्' रूप अद्वैत प्रत्यवमर्श होता है। मनु में यहाँ अभी पूर्ण 'अहम्' रूप अद्वैत प्रत्यवमर्श नहीं है। अतः वह यहाँ शुद्ध विद्या की "तुरीय—जाग्रत्" अवस्था में अवस्थित मन्त्रप्रमाता ही है, परतत्त्वारूढ नहीं। इसी कारण उसे इच्छा से ज्ञान और ज्ञान से क्रिया भिन्न प्रतीत होती है। परतत्त्वारूढ योगी तो सब को स्व-अंगरूप अद्वैत समझकर केवल अहन्ता का ही अनुभव करता है। उसकी भिन्नवेद्य की प्रतीति विगलित हो जाती है। इस कारण उसे सामरस्य की वह पूर्ण अवस्था प्राप्त होती है जिसमें इच्छा, क्रिया और ज्ञान मिलकर एकरस चिद्रूप हो जाते हैं[३] क्योंकि पूर्ण सामरस्य में स्वरूपभेद की प्रतीति न होकर पूर्ण एकरसता की ही प्रतीति होती है, यह सातवें अध्याय में भली प्रकार प्रकट किया जा चुका है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया की इस एकरसरूपता की ही संज्ञा सामरस्य अवस्था है और पूर्ण सामरस्य की यह अवस्था ही परमानन्द की दशा है[४] जहाँ तक मनु अभी नहीं पहुँचा है। उसे उक्त सामरस्य-पद तक पहुँचाने

विद्येश्वर प्रमाता मनु के परामर्श का स्वरूप

---

१. येन प्रकारेण विद्येश्वरा भगवन्तोऽनन्ताद्या
वर्तन्ते। ते हि शुद्धचिन्मात्रगृहीताहंभावाः स्वतस्तु
भिन्नं वेद्यं पश्यन्ति, यथा द्वैतवादिनामीश्वरः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २०१।

२. तत्राद्ये विमर्शेऽपि शिवतत्त्वं, द्वितीये विद्येशता (विद्येश्वरता)।

—वही, पृ० १९६।

३. शिवस्तोत्रावली स्तो० ३.१२ तथा वृत्ति।

४. अशेषविश्ववैश्वात्म्यसामरस्येन सुन्दरम्।
चिदानन्दघनं··· ······ ·····॥ नेत्रतंत्र, प्रथम पटल, उपसंहार।

के लिये ही शिवभक्त प्रसाद जी ने कामायनी रचने का बीड़ा उठाया था, इसे हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में जीवात्मा मनु को आनन्द-रूप पूर्ण सामरस्य की अवस्था में विश्रान्त किये बिना कामायनीकार का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता है। अतः अपने उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उन्होंने मनु को पूर्ण सामरस्य की अवस्था की ओर अग्रसर किया है। मनु की इस मन्त्र-प्रमातृ अवस्था तक उसे अपने प्रमातृ-स्वरूप से भिन्न तीन 'आलोक बिन्दुओं' की भिन्नवेद्य प्रतीति हो रही है, इससे यह भली प्रकार स्पष्ट है कि मन्त्र-प्रमाता मनु यहाँ तक पूर्ण सामरस्य की अवस्था तक नहीं पहुँचा है। पूर्ण सामरस्य की अवस्था तक नहीं पहुँचने के ही कारण उसे इच्छा, ज्ञान और क्रिया में भिन्नता की प्रतीति होती है[1]। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब तक जीव को पूर्ण अद्वैत दृष्टि प्राप्त नहीं होती तब तक उसे जीवन का चिरसाध्य शाश्वत आनन्द उपलब्ध नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अब तक के आरोहण से पूर्ण सामरस्य तक न पहुँचे हुए मनु को पूर्ण सामरस्य में अवस्थित करना एक अन्य कारण से भी अनिवार्य है और वह कारण यह है कि पूर्ण सामरस्य में अविश्रान्त मितयोगी कभी कभी व्युत्थान अवस्था में विमोहित भी हो जाता है[2]। मनु व्युत्थान अवस्था में भी विमोहित न हो, इसलिए उसे पूर्ण सामरस्य में विश्रान्त करना आवश्यक है। सामरस्य प्रतीति के अभाव में, वस्तुतः आनन्दघन शिवस्वरूप होकर भी, जीव अपने पूर्ण स्वरूप की अप्रत्यभिज्ञा के कारण भेददृष्टि से आपतित अपूर्णमन्यताजनित असंख्य क्लेशों से निशि-वासर परिक्लेशित होता रहता है। इस प्रकार अपनी ही अपूर्ण दृष्टि (भेददृष्टि) के कारण उत्पन्न दुःखों से निरन्तर पिसते रहना ही इस विश्व जीवन की महती विडम्बना है—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की[3]।

---

१. यावन्न पूर्णतां प्राप्तस्तावत्साभास उच्यते।
—नेत्रतन्त्र, भाग २—२२।५६।

२. एवं समरसं ज्ञात्वा नाऽसौ मुह्यते कदाचन।
मितयोगिनो व्युत्थाने मुह्यन्त्येवेति कदाचनपदस्याशयः।
—स्वच्छन्दतन्त्र, भाग २, पटल ४, पृष्ठ २००।

३ कामायनी, रहस्यसर्ग, पृष्ठ २७२।

ज्ञान और क्रिया एक ही इच्छा शक्ति के स्फुरणरूप में परिज्ञात होकर जब वह शक्ति भी आत्मशक्ति के रूप में प्रत्यभिज्ञात होती है तभी साधक में "मैं परिपूर्ण हूँ" ऐसा विमर्श उदित होता है। इस विमर्श में अन्य अपेक्षा-रहित स्वात्मानन्द होता है। अनन्यापेक्ष स्वात्मानन्द ही उसकी सच्ची निराशंसता है और निराशंस होकर अपनी पूर्णता के विमर्श से आनन्द-भरित होना ही वस्तुतः योगी की इच्छा का पूर्ण होना है। अपूर्ण इच्छा बन्धन है और पूर्ण इच्छा ही अप्रतिहत स्वातन्त्र्य है क्योंकि अपूर्ण इच्छा में इच्छुक को अपने से भिन्न पदार्थ की अपेक्षा होती है, किन्तु पूर्ण इच्छा वाले साधक को (द्वैत के अभाव के कारण) किसी की भी अपेक्षा नहीं होती। वह अपने आपमें पूर्ण होता है। अपने आप में जो पूर्णता (स्वातन्त्र्य) अनुभव करता है, वह वस्तुतः शिव है। मनु शिवदशा की उस पूर्णता को अभी प्राप्त नहीं हुआ है क्योंकि इच्छा आदि त्रिरूपों में भासमान शक्ति मनु के द्वारा एक अभिन्न शक्ति के रूप में विमृष्ट होकर अभी आत्मशक्ति के रूप में प्रत्यभिज्ञात नहीं हुई है। ऐसा होने पर ही मनु की इच्छा पूरी होगी और इच्छा पूरी होने पर ही उसमें अनन्यापेक्षा-रूप स्वात्मपूर्णता का विमर्श उदित होगा, जैसा कि आगे चलकर आत्म-प्रत्यभिज्ञा से जीवन्मुक्ति-लाभ करने के अनन्तर होता है—

हम केवल एक हमीं हैं
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है[1]।

मनु के द्वारा अपने अद्वैत बोध में 'कुछ भी कमी अनुभव न करना' ही उसकी इच्छा की पूर्णता का द्योतक है और यह पूर्ण इच्छा ही उसका स्वातंत्र्य या विमर्श-रूप अखण्ड आनन्द है, जिसका विवेचन आगे के अध्याय में किया जायगा।

---

१. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८७।

अध्याय १०

प्रत्यभिज्ञा और त्रिपुरद्वय

पिछले अध्याय में शिव-समावेश की दशा की ओर उन्मुख मनु के आरोहण-क्रम की साधना की चर्चा करते हुए हमने यह दिखाया था कि साधक मनु सकल, प्रलयाकल, शून्यप्रलयाकल और विज्ञानाकल प्रमातृ-दशाओं को क्रमशः पार करते हुए उस विद्येश्वर प्रमातृ-दशा पर आरूढ हो गया है जहाँ पर प्रमाता को प्रमेय प्रकाशरूप में परामृष्ट होने पर भी अपने से भिन्न प्रतीत होता है। मनु को यहाँ एक शक्ति की (इच्छा, ज्ञान, क्रिया के) त्रिरूपों में अपने से भिन्न प्रतीति हो रही है।

जैसा कि पूर्व अध्याय में कहा जा चुका है, विद्येश्वर अर्थात् मन्त्रप्रमातृ-अवस्था में विश्रान्त मनु को इच्छा आदि जो तीन शक्तियाँ अपने से भिन्न दिखाई पड़ रही हैं वे वस्तुतः शुद्धप्रमाता मनु की ही अपनी अभिन्न शक्तियाँ हैं, किन्तु अपने शिवत्व के अप्रत्यभिज्ञान के कारण उसे उक्त प्रकार की प्रतीति अभी नहीं होती है। जगत् रूप से भासित परमेश्वर की शक्ति की स्वात्मशक्ति के रूप में अद्वैत प्रतीति होना ही प्राणी के अपने महेश्वरस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान या प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञा की परिभाषा करते हुए शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने लिखा है—

प्रत्यभिज्ञा की परिभाषा

तस्य महेश्वरस्य प्रत्यभिज्ञा प्रतीपं
आभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा

अर्थात् विद्यमान रहने पर भी मायामोह के कारण विस्मृत-से बने हुए अपने परमेश्वरभाव का आभिमुख्य से, संमुखीभाव से, (स्मरणरूपेण नहीं अपितु स्फुटतया) पुनः ज्ञान होना ही प्रत्यभिज्ञान अर्थात् प्रत्यभिज्ञा कहलाती है[1]। जीव वस्तुतः शिव ही है, किन्तु द्विरूप आणवमल के कारण वह अपने शिवस्वरूप को पहचान नहीं पाता। माया शक्ति के द्वारा न केवल उसके स्वातंत्र्य का संकोच ही होता है अपितु वह इस तथ्य से भी अनभिज्ञ रहता है कि यह स्वातन्त्र्य वस्तुतः उसका अपना है[2]। पूर्ण प्रत्यभिज्ञा के लिए आणवमल के उक्त दोनों

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १, पृ० १९-२०।

२. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २–३।२।४।

रूपों का अपहार अनिवार्य है अर्थात् प्राणी की अणु-चेतना (अणुता-विमर्श) के तिरोभाव के साथ उस अज्ञान का विगलन भी अनिवार्य है जो अज्ञान उस स्वातंत्र्य को प्राणी के द्वारा अपने शक्ति-स्वातंत्र्य के रूप में अनुभव करने में कल्पित भेद बना हुआ है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी के अनुसार विद्येश्वर प्रमाता अणुप्रमाता न होकर विश्वात्म-प्रमाता (समष्टि 'इदन्ता' के प्रमाता) हैं। किन्तु सर्वज्ञ और सर्वकर्ता होते हुए भी वे अपने ही शक्तिस्फाररूप विश्व को 'कुविन्दपटदृष्टि' से वेद्यरूप में भिन्न ही देखते हैं, यह चतुर्थ अध्याय में पूर्व कहा जा चुका है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार वेदक से वेद्यभाव की इस कल्पित भिन्नता का कारण विद्येश्वरों में रहनेवाला शुद्ध मायाख्य मल है[१]। इसी के कारण कामायनी में विद्येश्वर प्रमातृ-अवस्था को प्राप्त मनु को यह भेद विमर्श हुआ है—

त्रिदिक् विश्व, आलोक बिन्दु भी,
तीन दिखाई पड़े अलग वे।[२]

शुद्ध मायाख्य मल के इस कल्पित भेद के विगलन और तत्क्षण ही इच्छादि शक्तित्रय को अपना ही स्वातंत्र्य अनुभव कर 'शिवोऽहम्' की पूर्ण प्रत्यभिज्ञा में गुरु का शब्द संकेतमात्र ही पर्याप्त होता है[३]।

श्रद्धा के वचनमात्र से मनु की आत्म-प्रत्यभिज्ञा

विद्येश्वर प्रमाता मनु की स्वात्म-प्रत्यभिज्ञा में भी गुरुरूपा श्रद्धा का यह कहना भर था कि यह तुम्हारा शक्तित्रय है और इस शक्तित्रय (त्रिकोण) का जो मध्यबिन्दु (शिव) है वही तुम हो—

इस त्रिकोण के मध्य बिन्दु तुम
शक्ति विपुल क्षमता वाले ये,
एक एक को स्थिर हो देखो
इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये[४]॥

---

१. आणवकार्ममलद्वयाभावेऽपि शुद्धोऽस्ति मायाख्यस्य मलस्य विषयः —
इत्यस्ति विद्येश्वराणां मायाख्यमलयोगः।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २२६।

२. कामायनी, पृष्ठ २६१।

३. तद्वदात्मनि गुरुवचनाज्ज्ञानक्रियालक्षणशक्त्यभिज्ञानादेर्वा यदा पारमेश्वर्योत्कर्षहृदयंगमीभावो जायते, तदा तत्क्षणमेव पूर्णात्मिका जीवन्मुक्तिः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २७५।

४. कामायनी, रहस्यसर्ग, पृष्ठ २६२।

रहस्यात्मक साधना के उपायों से अनुपायसमावेश तक पहुँचे हुए निर्मल-संवित् साधक मनु को गुरुरूपा श्रद्धा के उक्त कथनमात्र से ही इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति-रूपों में अपने स्वातन्त्र्य का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है और अपने परमेश्वरभाव के इस पूर्णात्मक अद्वैत विमर्श में परा शक्ति श्रद्धा भी मनु को अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के रूप में प्रत्यभिज्ञात होकर उससे भिन्न नहीं रह जाती है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि स्वरूप-संकोच से जीव बने हुए मनु के अपने परिशुद्ध स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान से पुनः शिवरूप बन जाने पर कैसे तो वह शक्ति (श्रद्धा) से भिन्न रह सकता है और कैसे शक्ति उससे भिन्न रह सकती है ! इसी कारण पारमेश्वरी शक्ति श्रद्धा के स्व-शक्ति-रूप में प्रत्यभिज्ञात हो जाने पर अपनी विमर्शरूपा शक्ति से मिलित शिवरूप मनु अपने महेश्वरत्व के हृदयंगमीभाव से आनन्द में स्पन्दमान दिखाई पड़ता है—

आत्म-स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा से श्रद्धा मनु की अभिन्न शक्ति बन गई

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन ।
निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द-अम्बुनिधि शोभन ॥[1]

शक्ति रूप निज ऐश्वर्य के अविमर्श के कारण जो संसारी पुरुष (जीव) बना हुआ 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर भीगे नयनों से प्रलय प्रवाह' देखकर दुखित हो रहा था, वही अपने पूर्ण चित्स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान से अब पूर्ण पुरुष अर्थात् शिवरूप होकर अपने शक्तिरूप परमैश्वर्य-विमर्श से आनन्द-सिन्धु बन गया है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में 'प्रत्यभिज्ञा' के प्रसंग में कहा भी है कि विश्वकर्तृत्वरूप ऐश्वर्य को अपना ऐश्वर्य समझकर जब दृढ़ता से उसका परामर्श किया जाता है तब उस परामर्शमात्र से ही जीवन्मुक्त होकर योगी साक्षात् शिवरूप हो जाता है[2]। आत्मप्रत्यभिज्ञा से जीवन्मुक्त मनु अपने ऐसे ही पूर्ण ऐश्वर्य के परामर्श से आनन्दोच्छलित हो रहा है—

---

१. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८७।

२. विश्वकर्तृत्वलक्षणमैश्वर्यमात्मनो विभाव्य दार्ढ्येन यदा परामृशति तर्हि तत्परामर्शमात्रादेव तावज्जीवन्मुक्तो भगवान् शिव एव।

— ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २७२।

हम केवल एक हमी हैं
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।[1]

जीवन्मुक्त मनु का यह स्वात्म-पूर्णता का अद्वैतविमर्श उसके शिवरूपत्व का ही द्योतक है।

मन्त्रप्रमातृ-अवस्था तक पहुँचा हुआ मनु आत्मप्रत्यभिज्ञा से किस प्रकार तत्क्षण ही शिवरूप हो जाता है, इस सम्बन्ध में यहाँ प्रसाद जी के द्वारा शैवागम से गृहीत कुछ दार्शनिक तथ्यों का उद्घाटन आवश्यक प्रतीत होता है। पूर्वोक्त शुद्धविद्या के अन्तर्गत प्रसाद जी ने मनु को इच्छा, ज्ञान और क्रिया के त्रिकोण का जो दर्शन कराया है वह पूर्णतया काश्मीर शैवागम की मान्यता के अनुकूल है क्योंकि शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने शुद्धविद्या को त्रिकोणा बताया है[2]।

शुद्धविद्या के अन्तर्गत इच्छा आदि त्रिकोण दर्शन का तात्पर्य

इसका तात्पर्य यह है कि शुद्धविद्या में अवस्थित मन्त्र, मंत्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर प्रमातृवर्ग की वेदनशक्ति 'यथावस्तुरूपा प्रतीति' से शुद्ध होने पर भी, अर्थात् चिद्रूप प्रमाता के द्वारा वेद्य को भी चिद्रूप में ही देखने पर भी, 'अहम्' 'इदम्' (वेदक–वेद्य)के विमर्श से युक्त होती है और जहाँ 'अहमिदम्' रूप प्रमाता–प्रमेय का विमर्श होगा वहाँ प्रमाण की सत्ता भी अनिवार्य है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय, ये ही तीन कोण हैं जो मनु को अविभागशालिनी शुद्धविद्या में आभासित होते हुए दिखाई पड़े हैं। मनु द्वारा परामृष्ट "उदित सचेतनता नवीन सी" के अधिकरण में उन्मिषित 'त्रिदिक् विश्व' का विमर्श 'आलोक बिन्दुओं' के रूप में अर्थात् चेतन रूप में होने से यह अविभागशालिनी प्रकाशरूपा (चिद्रूपा) शुद्धविद्या है, यह पूर्व कहा जा चुका है। इसमें अपने आप को चिन्मय प्रमाता समझते हुए मनु 'त्रिदिक् विश्व' को अपना चिन्मय प्रमेय बनाये हुए है। शुद्ध प्रमाता मनु को यहां अपने से भिन्न 'त्रिदिक् विश्व' रूप प्रमेय की प्रतीति हो रही है। अतः यह मानना होगा कि ज्ञाता और ज्ञेय की स्थिति के साथ यहाँ ज्ञान (प्रमाण) की भी स्थिति है। किन्तु स्मरण रहे, मनु की इस मन्त्रप्रमातृ-अवस्था की भिन्नवेद्य प्रतीति मायीय जगत् के जीव की भिन्नवेद्य प्रतीति नहीं है, क्योंकि यहाँ मनु को 'त्रिदिक् विश्व'

---

१. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८७।

२. मातृमानमेयमयभेदाविभागशालिनी भगवती शुद्धविद्येव त्रिकोणा।
—परात्रिंशिकाविवरण, पृष्ठ ५३।

अपने से भिन्न वेद्यरूप में परामृष्ट होते हुए भी अपनी प्रकाशरूपता की भाँति प्रकाशरूप में ही परामृष्ट हो रहा है, अप्रकाश (अचिन्मय) रूप में नहीं। यह बात 'त्रिदिक् विश्व' को 'तीन आलोक बिन्दु' कहकर प्रसाद जी ने प्रकट कर दी है। अविभागशालिनी शुद्धविद्यारूपा 'उदित सचेतनता' (प्रकाशरूपता) में 'तीन आलोक बिन्दुओं' का उक्त परामर्श यह बताता है कि शुद्ध अध्वा का प्रमाता मनु यहाँ जगद्रूपी वेद्य को भी प्रकाश ('आलोक') रूप में ही देखता है। एक ही चित्प्रकाश को 'अहम्' रूप प्रमाता और 'इदम्' (त्रिदिक् विश्व) रूप प्रमेय भाव से देखने के कारण मनु में हल्का-सा भिन्नवेद्यप्रथनरूप शुद्ध मायाख्य मल है जिसका विगलन गुरुरूपा श्रद्धा के वचनमात्र से ही हो जाता है और मनु में परतत्त्व की स्वप्रत्ययजनित भावना दृढ़ हो जाती है। यही कारण है कि हमने उसे यहाँ ऊपर अनुपायसमावेश तक पहुँचा हुआ निर्मलसंवित् साधक कहा है। अपनी निर्मल संविद्रूपता के ही कारण उसे गुरुरूपा श्रद्धा के शब्दसंकेतमात्र से ही स्वात्म-स्वरूप की दृढ़ प्रतिपत्ति हो जाती है और प्रथम परतत्त्व-दर्शन के अनन्तर की गई भावना आदि की भाँति यहाँ परतत्त्व की भावना की आवश्यकता नहीं हुई। शैवाचार्य सोमानन्द ने यह बात शिवदृष्टि में कही भी है कि गुरुवचनादि से एक बार अपने परमेश्वर स्वभाव की दृढ़ प्रतिपत्ति हो जाने पर भावना आदि की आवश्यकता नहीं होती—

एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना ॥
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा[1]।

उपर्युक्त अविभागशालिनी त्रिकोणा शुद्धविद्या (महाविद्या) ही शिव का विसर्गपद[2] है। उक्त त्रिकोणात्मक या त्रिरूपात्मक शक्तिस्वरूप के तिरोहित होने पर शक्ति का अभेदरूप स्पष्ट होता है। फिर यह शक्ति शिव से भिन्न नहीं रह जाती। अतः यह निष्कर्ष निकला कि शिव-शक्ति के इस अभेदपद में ही केवल 'अहन्ता' का विमर्श होता है[3] जो पूर्णता का विमर्श है। यह पूर्ण अहन्ता का विमर्श ही प्राणी की पूर्ण मुक्ति है[4]। मनु में जब तक अपने से भिन्न त्रिकोण का भेद-

१. तन्त्रालोक टीका, आ० २ पृष्ठ ४०।

२. सा त्रिकोणा महाविद्या त्रिका सर्वरसास्पदम्।
विसर्गपदमेवैष ·· ·····················॥

—परात्रिंशिकाविवरण, पृष्ठ ५४।

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ १९६।

४. वही, पृष्ठ २७१।

विमर्श होता है तब तक वह पूर्ण मुक्तिलाभ नहीं करता। जब इन तीनों की एक आत्म-शक्ति रूप से अभेद प्रतीति होती है तभी वह पूर्ण जीवन्मुक्त होता है।

दूसरे, इच्छा-ज्ञान-क्रिया के त्रिकोणरूप विसर्ग (शक्ति) का जिस प्रकाश-बिन्दु से उन्मेष होता है उस "अविभागसंवेदनरूप बिन्दु" को ही शैवागमों में शिव कहा गया है[1]। इस शिव-'बिन्दु' से ही शक्त्युन्मेषरूपी 'विसर्ग' का उल्लासन होता है और उक्त विसर्ग ही शक्तिरूप विश्व है[2]।इच्छादि शक्ति-त्रिकोण को "त्रिदिक् विश्व" कहने का यही अभिप्राय है। प्रसादजी ने मनु को श्रद्धा के द्वारा "इस त्रिकोण के मध्य बिन्दु तुम" कहलाकर मनु के महेश्वरत्व का सम्यक् उद्घाटन करते हुए उसे इस तथ्य से प्रत्यभिज्ञात किया है कि इच्छादिशक्ति से समन्वित तुम शिव हो और यह त्रिकोणात्मक शक्तिस्फार तुम्हारा ही ऐश्वर्य है—

शिव की संज्ञा 'बिन्दु' और बिन्दु (शिव) से ही 'विसर्ग' (इच्छा आदि त्रिकोणात्मक शक्ति) का उन्मेष

इस त्रिकोण के मध्य 'बिन्दु' तुम
शक्ति विपुल क्षमता वाले ये।
एक एक को स्थिर हो देखो
इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये[3]।

यहाँ यह विचारणीय है कि प्रसादजी ने उपर्युक्त तथ्य का ज्ञान कराने के लिए "बिन्दु "का प्रयोग न करके "विन्दु" का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है

---

१. (क)—बिन्दुः अविभागसंवेदनम्-अद्वैतज्ञानम्।
—विज्ञानभैरवविवृति, पृष्ठ ७७।

(ख) अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थितं धामत्रये सति।
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिव बिन्दुरितिस्मृतः॥
— तंत्रालोकटीका, भाग २, पृ० ११८।

(ग)—अविभागः प्रकाशो यः स बिन्दु परमो हि नः।
—तंत्रालोक, आ० ३।१११।

२. (क)—सर्वोऽयं मातृकाप्रपंचः शिवबिन्दुनामधेयस्य शक्तिरूपो विसर्गः।
— विज्ञानभैरवविवृति, पृष्ठ ८०।

(ख)—स एवायं विसर्गस्तु तस्माज्जातमिदं जगत्।
—वही।

३. कामायनी, रहस्यसर्ग, पृष्ठ २६२।

कि वैसे तो सामान्यतः ये दोनों शब्द शैवदर्शन में समानरूप से व्यवहृत हुए हैं। परन्तु 'विन्दु" शब्द अपनी यौगिक शक्ति के द्वारा शिव की वेदन-क्रिया (विमर्श) की ओर संकेत करता है जबकि "बिन्दु" से यह व्यञ्जना संभव नहीं। निम्नांकित उक्ति से यह तथ्य स्पष्ट है —

अस्मद्दर्शने विन्दु विदिक्रियायां स्वतन्त्रः परप्रमात्रेकरूपः परमेश्वरः शिव इत्यर्थः[1]। इसी व्यंग्यार्थ का बोध कराने के लिए प्रसादजी ने "विन्दु" का यहाँ साभिप्राय प्रयोग किया है। इस प्रकार प्रसादजी ने स्पष्टतः यहाँ काश्मीर शैवदर्शन की मान्यता का अनुसरण किया है। गुरुरूपा पारमेश्वरी अनुग्रहशक्ति (श्रद्धा) के इस शब्द-संकेतमात्र से "हे मनु! तुम वस्तुतः शिव हो" मनु को अपने शिव-स्वरूप की पूर्ण प्रत्यभिज्ञा हो गई और ऐसा होते ही पराशक्ति श्रद्धा भी शिवरूप मनु की अभिन्न शक्ति बन गई, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है। कामायनी के आनन्दसर्ग से यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट है कि मनु के आत्मप्रत्यभिज्ञात हो जाने के पश्चात् दार्शनिक प्रसाद ने कामायनी (श्रद्धा) के मुख से ग्रन्थ की समाप्ति पर्यन्त कहीं एक शब्द भी नहीं कहलाया है। इसका कारण यह है कि शक्ति जब शक्तिमान् में समरसीभूत होकर एक हो गई तब कैसे वह शिव से भिन्न रह सकती है और कैसे उसका बोलना समीचीन कहा जा सकता है, विशेषकर उसके ग्रन्थ में जो शाक्तदर्शन का नहीं अपितु शैवदर्शन का अनुयायी हो। काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार वस्तुतः शिव ही परतत्त्व है, शक्ति नहीं। शक्ति को परतत्त्व मानने वाले शाक्तों को निरुत्तर करते हुए तत्त्वदर्शी शैवाचार्य सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' में स्पष्टतया कहा है कि कंकण, कुण्डल आदि विविध रूपों में जैसे सुवर्ण ही अपनी शक्तिरूपता से सर्वत्र साम्यभाव से स्थित रहता है वैसे इच्छादिशक्तिमान् परमेश्वर ही तथा तथा प्रकाशवैचित्र्य से तत्तत् पदार्थरूपों में सर्वत्र स्थित है। अतएव सब कुछ शिवात्मक ही है न कि शक्त्यात्मक[2]। कामायनीकार

> इच्छादि त्रिकोणात्मक विसर्गशक्ति का
> उन्मेष-उत्स विन्दु (शिव) मनु है

---

१. तंत्रालोक, भाग २, पृष्ठ ११७।

२. तयेच्छया समाविष्टस्तथा शक्तित्रयेण च।
तथा तथा स्थितो भावैरतः सर्वं शिवात्मकम्॥
शिवदृष्टि आ० ३ १८-२०।

एवं सुवर्णवत् परमेश्वर एव पूर्वोक्तेच्छादिशक्तिमान् तथा तत्त्वभुवनकार्यकरणादिप्रकारवैचित्र्येण सर्वैंपदार्थैरित्थंभूतलक्षणैः स्थितोऽतः शिवात्मकमेव सर्वं न तु शक्त्यात्मकम्। —शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ १०६।

प्रसादजी भी इस तथ्य से अनभिज्ञ न थे। मनु के आत्मप्रत्यभिज्ञात होने के बाद श्रद्धा को सर्वत्र मौन रखकर प्रसादजी ने इसी महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है जो अपने आपमें प्रबल प्रमाण है।

प्रत्यभिज्ञा की प्रयोजन-सिद्धि : आह्लाद

यहाँ 'प्रत्यभिज्ञा' के सम्बन्ध में प्रश्न किया जा सकता है कि यदि जीव तत्त्वतः शिवरूप ही है तो इस तथ्य की प्रत्यभिज्ञा अथवा अप्रत्यभिज्ञा की 'अर्थक्रियाकारिता' अर्थात् प्रयोजनसिद्धि क्या है ? अपनी बीजरूपता की प्रत्यभिज्ञा के बिना क्या बीज अंकुर को उत्पन्न नहीं करता ? यदि करता है तो प्रत्यभिज्ञान का प्रयोजन क्या है ? मनु भी जब परमार्थतः शिव ही है तब उसे आत्म-प्रत्यभिज्ञा क्यों कराई गई ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में यह है कि अर्थक्रिया दो प्रकार की होती है—प्रथम है, अंकुरादिरूपा बाह्य अर्थक्रिया। इसके लिए प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता नहीं। द्वितीय है—प्रीत्यादिरूपा, जिसमें प्रमाता आत्म स्वरूप में विश्रान्ति के आनन्द का संवेदन (बोध) करता है। इसमें "मैं महेश्वर हूँ" इस प्रकार के परामर्श से होने वाले आनन्द के लिए प्रमाता को प्रत्यभिज्ञा की अपेक्षा होती है क्योंकि आत्म-प्रत्यभिज्ञा के बिना अपने परमैश्वर्य के विमर्शरूप आनन्द की प्रतीति नहीं होती[1]। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में इस तथ्य को सोदाहरण समझाते हुए कहा गया है कि किसी अदृष्टपूर्व नायक के गुणों के संश्रवण से उसके प्रति अत्यन्त अनुरक्त हुई कोई कामिनी रात-दिन उसके दर्शनों की उत्कट अभिलाषा करती है और प्रेमविवशहृदय से उसके वियोग को असह्य पाकर दूतीप्रेषण आदि के द्वारा अपनी असह्य कामवेदना का उससे निवेदन करती है। इसके फलस्वरूप वह नायक उसके समीप आ भी जाता है, परन्तु जब तक उस नायक का पूर्वश्रुत वह रूप-सौन्दर्य उस विरह-कृशतन्वी के लिए अपरिज्ञात रहता है तब तक वह

---

१. ननु यद्यात्माख्यं वस्तु तदेव तर्हि तस्य प्रत्यभिज्ञानाप्रत्यभिज्ञानयोर्विशेषः, नहि बीजमप्रत्यभिज्ञातं सति सहकारिसाकल्ये नांकुरं जनयति, तत् क आत्मप्रत्यभिज्ञाने निर्बन्धः ?, उच्यते, द्विविधार्थक्रियास्ति बाह्या चांकुरादिका प्रमातृविश्रान्तिचमत्कारसारा च प्रीत्यादिरूपा, तत्राद्या सत्यं प्रत्यभिज्ञानं नापेक्षते, द्वितीया तु तदपेक्षते एव।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २७३।

उसे एक जनसाधारण के रूप में ही देखती रहती है और उसमें अपने पूर्व-श्रुत प्रिय के रूप को न पहचान कर उसकी उपस्थिति से भी परितुष्ट नहीं होती। उसी प्रकार अपने अन्तर्गत परमेश्वर के निरन्तर निर्भासमान होने पर भी उसका वह निर्भासन प्रमाता (जीव) के हृदय में आह्लाद उत्पन्न नहीं करता क्योंकि जीव सर्वज्ञत्व, कर्तृत्व आदि स्वातन्त्र्य-शक्तिरूप पारमेश्वर्य को अपने ऐश्वर्योत्कर्ष के रूप में अनुभव नहीं करता। किन्तु जैसे दूती के वचनादि से वह कान्ता उस आगतनायक को निज प्रियजन रूप में प्रत्यभिज्ञात कर लेती है और तत्क्षण आह्लादित होकर एक अनिर्वचनीय पूर्णता को पा लेती है, वैसे ही गुरु-वचनादि से पारमेश्वर्योत्कर्ष को साधक अपने परमैश्वर्य के रूप में हृदयंगम करके तत्क्षण पूर्णात्मिका जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर लेता है[1]।

प्रत्यभिज्ञा के प्रयोजन को और अधिक स्पष्ट करने के लिए संस्कृत-साहित्य का सर्वविदित उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करना प्रसंगानुकूल होगा। पार्वती शिव की गुणगरिमा से उनके प्रति अनुरक्त होकर उन्हें प्रियतमरूप में पाने के लिए कठोर तप करती है। शिव उसकी परीक्षा लेने के लिए ब्रह्मचारी का रूप धारण कर उसके निकट आकर उससे वार्तालाप भी करते हैं, किन्तु पार्वती अपने प्रियतम शिव के रूपगुणों को उनमें प्रत्यभिज्ञात न कर सकी और परिणामस्वरूप शिव की समीपता और दर्शनों से भी पार्वती की मनस्तुष्टि नहीं हो सकी। परन्तु ज्यों ही शिव ने अपना वास्तविक शिवरूप प्रकट किया त्यों ही पार्वती उनमें अपने प्रियतमरूप को प्रत्यभिज्ञात कर तत्क्षण एक अनिर्वचनीय आनन्द में निमग्न हो गई है[2]।

---

१. तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनत-
स्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके।
कान्तो लोकसमान एवमपरि-
ज्ञातो न रन्तुं यथा ॥
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः
स्वात्मापि विश्वेश्वरो।
नैवालं निजवैभवाय तदियं
तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २, अधि० ४।२।२।

२. देखिए कुमारसम्भव (कालिदास रचित) पंचमसर्ग।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गुरुरूपा श्रद्धा के वचनमात्र से आत्म-स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा होते ही तत्क्षण मनु में अपने शिव-स्वभाव का शुद्ध अद्वैत विमर्श उन्मिषित हो गया और उसी क्षण उसकी मन्त्रप्रमातृ अवस्था का वह सूक्ष्मतर भेद-विमर्श भी विगलित हो गया जिसके अन्तर्गत उसे इच्छा, ज्ञान और क्रिया की भेद-प्रतीति हो रही थी।

प्रत्यभिज्ञा और त्रिपुरक्षय में पूर्वापरता

यहाँ एक अन्य बात का स्पष्टीकरण भी अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है और वह यह है कि मनु की आत्म-प्रत्यभिज्ञा और त्रिपुर के क्षय के सम्बन्ध में अब तक कामायनी के विद्वान् आलोचकों में यह मान्यता रही है कि त्रिपुर का क्षय होने पर मनु को आत्म-प्रत्यभिज्ञा होती है। किन्तु विद्वानों का यह मत तात्त्विक नहीं है। इसका कारण यह है कि शैवदर्शन के अनुसार वस्तुसत्ता ज्ञान की ही है, अज्ञान की नहीं। जब सब कुछ संवित्प्रकाश का ही स्फार है और अप्रकाश (अज्ञान) की सत्ता तक नहीं तब अप्रकाश के द्वारा प्रकाश (ज्ञान) का प्रकाशन (उन्मेष) कैसे हो सकता है? वास्तविकता यह है कि सूर्य के प्रकाश के उन्मेष से ही रात्रि का अन्धकार विगलित या तिरोहित होता है। अन्धकार के तिरोहित होने पर सूर्य के प्रकाश का उन्मेष मानना तथ्य को विकृत करना है। अन्धकार के विगलन और प्रकाश के उन्मेष में वस्तुसत्ता प्रकाश के उन्मेष की ही है। जब तक प्रकाश का उन्मेष नहीं होगा तब तक अज्ञानरूपी अन्धकार का विगलन संभव नहीं। कश्मीर के शैव आचार्यों ने यह बात स्पष्टतम शब्दों में कही है—

प्रकाशमाने परमार्थभानौ
नश्यत्यविद्यातिमिरे समस्ते।
तदा बुधा निर्मलदृष्टयोऽपि
किंचिन्न पश्यन्ति भवप्रपंचम्[1]॥

ऊपर की पंक्तियों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि परमार्थभानु (आत्मस्वरूप) के प्रकाशमान होने पर ही अविद्यारूपी अन्धकार नष्ट होता है। कामायनी के मनु के त्रिपुर-क्षय के सम्बन्ध में भी यही तथ्य है कि आत्म-प्रत्यभिज्ञारूप में मनु के परमार्थ-स्वरूप के प्रकाश-भानु (संवित्प्रकाश) के प्रकाशमान होने पर ही उसका वह भेदप्रथारूप अज्ञान-अन्धकार पूर्णतः विगलित हुआ है जिसे कामायनीकार ने 'त्रिपुर' की संज्ञा से अभिहित किया है। जब तक मनु को

१. स्तवचिन्तामणि, प्रारम्भिक श्लोक १।

अपने संवित्स्वभाव का पूर्ण विमर्श नहीं होता तभी तक उसे 'त्रिदिक् विश्व' की अपने से भिन्न प्रतीति होती है, किन्तु ज्यों ही उसे आत्म-प्रत्यभिज्ञारूप में अपने संवित्स्वभाव का विमर्श होता है त्यों ही 'त्रिदिक् विश्व' भी आत्मस्वरूप ही हो जाता है अर्थात् विश्व की 'इदन्ता' 'अहन्तामय' हो जाती है। काश्मीर शैव-दर्शन के महासिद्ध आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि शिवत्व-योग (शिवसाक्षात्कार) होते ही भव-आडम्बर (इदन्ता की प्रतीति) वैसे ही विगलित हो जाता है जैसे महाग्रीष्म में सूर्यताप से हिम विगलित हो जाता है—

अस्मिंश्च यागे विश्रान्तिं कुर्वतां भवडम्बरः।
हिमानीव महाग्रीष्मे स्वयमेव विलीयते[१] ॥

वस्तुतः आत्मज्ञान ही शिव-साक्षात्कार में निमित्त है और उसका उन्मेष होने पर ही जगत् की 'इदन्तात्मक' भिन्नवेद्यप्रतीति अर्थात् 'त्रिपुर' विगलित होता है।

शैव आचार्यों के उपर्युक्त प्रमाण के अनन्तर यदि कोई विद्वान् स्वयं कामायनीकार प्रसादजी का इस सम्बन्ध में प्रमाण चाहे तो वह भी उपलब्ध है। प्रसादजी ने कामायनी में पहले श्रद्धा के द्वारा मनु की आत्म-प्रत्यभिज्ञा कराई है—

इस त्रिकोण के मध्य विन्दु तुम
शक्ति विपुल क्षमता वाले ये।
एक एक को स्थिर हो देखो
इच्छा ज्ञान क्रिया वाले ये॥

प्रसादजी ने मनु की उक्त आत्म-प्रत्यभिज्ञा की चर्चा कामायनी के पृष्ठ २६२ पर की है और त्रिपुर-क्षय इस आत्म-प्रत्यभिज्ञा की चर्चा के १० पृष्ठ बाद २७३ वें पृष्ठ पर दिखाया है—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।

वैसे त्रिपुर का क्षय मनु की आत्म-प्रत्यभिज्ञा के तुरन्त बाद ही दिखाया जाना चाहिए था, किन्तु त्रिपुर का स्वरूप विभिन्न शास्त्रों में विविध प्रकार से मिलता है और अपने व्यापक अध्ययन के कारण प्रसादजी के मस्तिष्क में अनेक शास्त्रों में

१. तन्त्रालोक, भाग ३, आ० ४।२७७।

निरूपित त्रिपुर के उन बहुविध स्वरूपों का ज्ञान विद्यमान था, जिन्हें वे समग्र-रूप में आत्म-प्रत्यभिज्ञा से विगलित हुआ दिखाना चाहते थे। ऐसी दशा में त्रिपुर के विविध रूपों के काव्यमय वर्णन में आठ या दस पृष्ठों का लग जाना स्वाभाविक ही है। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि विविध शास्त्रगत त्रिपुर के स्वरूपों को आत्मप्रत्यभिज्ञा के अनन्तर एक या दो पंक्तियों में ही वर्णित करके विगलित दिखा दें। त्रिपुर के विविध रूपों के यहाँ वर्णन का एक कारण यह भी था कि प्रसादजी अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना'कामायनी'के द्वारा यह स्पष्ट कर देना चाहते थे कि त्रिपुर चाहे शैवागम में मान्य स्वरूप का हो, चाहे सांख्यदर्शनके गुणत्रय-रूप का हो, चाहे पौराणिक साहित्य के कारण-सूक्ष्म-स्थूल शरीर-रूप का हो और चाहे प्रारब्ध आदि कर्मत्रय-रूप का हो, उसका विगलन आत्मस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा से ही सम्भव है। प्रसादजी की यह मान्यता इस बात का भी स्पष्ट प्रमाण है कि वे सच्ची जीवन्मुक्ति के लिए और अज्ञान के पूर्ण क्षय के लिए आत्मस्वरूप के प्रत्यभिज्ञान को ही सर्वोपरि और एकमात्र निमित्त समझते थे।

कामायनी में आत्म-प्रत्यभिज्ञा के वर्णन के बाद त्रिपुर का वर्णन करके उसे विगलित दिखाने में प्रसादजी का यही तात्पर्य है कि आत्म-प्रत्यभिज्ञा से ही मनु का त्रिपुर-क्षय होता है, न कि त्रिपुर-क्षय से आत्मप्रत्यभिज्ञा होती है। ऐसा नहीं है कि यह बात प्रसादजी ने कामायनी में ही आकर कही है। कामायनी रचने से पूर्व भी इस सिद्धान्त का संस्कार उनके मस्तिष्क में था जो 'जनमेजय का नागयज्ञ' के अर्जुन और श्रीकृष्ण के संवाद में प्रकट हो चुका है। श्रीकृष्ण के मुख से प्रसादजी ने वहाँ स्पष्ट कर दिया है कि सत्ता प्रकाश की है, अन्धकार की नहीं[१]। इससे यह निष्कर्ष निकला कि उनके अनुसार शुद्ध चेतन की ही सर्वत्र व्यापक सत्ता है। जब केवल प्रकाश की ही सत्ता है और अन्धकार (अज्ञान) प्रकाश का ही अभाव (असद्भाव) है अर्थात् जीवद्वारा स्वकल्पित है तब प्रसादजी की उक्त मान्यता के विरुद्ध विद्वानों का यह कहना कि "त्रिपुरक्षय से प्रसादजी ने मनु को आत्म-प्रत्यभिज्ञा कराई है", अनुचित है। निष्कर्ष यह है कि केवल प्रकाश की ही सत्ता मानकर प्रसादजी ने यह स्पष्ट कर दिया कि जैसे भानु-प्रकाश के उन्मेष से अन्धकार विगलित होता है वैसे ही आत्म-ज्ञान के प्रकाश के उन्मेष से ही त्रिपुररूप अज्ञान का क्षय होता है।

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ, प्रथम अंक।

शैवागम में इच्छा-ज्ञान-क्रिया के त्रिपुर (त्रिकोण) का स्वरूप

उक्त पूर्ण अद्वैत शिवस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा से पहले की प्रमातृ-दशा में आभासित होने वाले इच्छा-ज्ञान-क्रिया के त्रिकोण के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि कश्मीर के शैवाचार्यों की विचारधारा त्रिकोण के सम्बन्ध में पौराणिक विचारधारा से भिन्न है। काश्मीर शैवागम में त्रिकोण (या त्रिपुर) का वर्णन करते हुए उसके जो तीन कोण माने गये हैं उन्हें क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहा गया है। यह कोणत्रय इच्छादि शक्तित्रय से व्याप्त रहने के कारण ही उक्त नामों से व्यपदिष्ट है[1]। इन तीनों शक्तियों के भिन्न-भिन्न कार्यों के कारण अर्थात् प्रत्येक शक्ति के अपने-अपने प्राधान्य के कारण यह त्रिकोण या त्रिपुर त्रिलोकी भी कहलाता है।[2] जब तक शुद्ध अध्वा के प्रमाता में इच्छा-ज्ञान-क्रियारूप इन तीनों पुरों या कोणों की भेद-प्रथा (भेदविमर्श) रहती है तब तक वह पूर्ण शुद्ध प्रमाता न होकर किंचित् उपाधियुक्त रहता है। मन्त्रप्रमाता में शैवों द्वारा मानी गई शुद्धमायाख्य मल की स्थिति एक प्रकार की हल्की-सी उपाधि ही तो है, क्योंकि मन्त्रप्रमाता से लेकर मन्त्रमहेश्वर तक के प्रमाता पूर्णरूप से परतत्त्वारूढ नहीं हैं। केवल शिवप्रमाता ही पूर्णतः परतत्त्वारूढ होता है। जैसे ही यह शक्तित्रयात्मक त्रिकोण अथवा ये तीनों पुर समरस होकर एक अद्वैतविमर्शरूप से (क्योंकि शक्ति ही तो विमर्श है) स्फुरित होते हैं वैसे ही इनकी पृथक्सत्ता-प्रतीति (भेद-प्रतीति) विगलित हो जाती है[3]। समस्त उपाधि-निर्मुक्त उनकी यह सामरस्यजनित एकरूपता ही पूर्णानन्द की अवस्था है जिसे शैवागम में 'निरंजनावस्था' कहा गया है[4]। इस निरंजन निर्मल (मल-अनवच्छिन्न) परपद में विश्रान्त योगी

---

१. (क) त्रिकोणमिति तत्प्राहुर्विसर्गामोदसुन्दरम्।
(ख) इच्छाज्ञानक्रियाख्यकोणत्रयमयत्वात्—त्रिकोणम्—
इति—त्रिकोणशब्दव्यपदेश्यमाचक्षते।
—तन्त्रालोक, भाग २, पृष्ठ १०३-१०४।

२. तन्त्रालोक, भाग २, पृष्ठ ७८।

३. एतत् त्रितयमैक्येन यदा तु प्रस्फुरेत्तदा।
न केनचिदुपाधेयं स्वस्वविप्रतिषेधतः॥
—तन्त्रालोक, आ० ३।१०७-१०८।

४. यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद्योगी निरंजनः।
—वही, आ० ३।१०८।

सर्वत्र 'अहन्ता' के पूर्ण विमर्श के कारण सर्वोपाधिनिर्मुक्त अखण्ड आनन्दघन शिवरूप हो जाता है। इच्छादि शक्तित्रय का एक स्वातन्त्र्यशक्ति में यह समावेश ही शिव कहलाता है, क्योंकि न शिव शक्तिरहित है और न शक्ति शिवरहित है[1]। शिव का विसर्गपद अर्थात् शैवी शक्ति (विसर्गशक्ति) ही इच्छा-ज्ञान-क्रियासंज्ञक अपने शक्तिरूपों के कोणत्रय के कारण त्रिकोणा कहलाती है[2]। इसीलिए 'परात्रिंशिकाविवरण' में आचार्य अभिनवगुप्त ने भगवती शुद्ध-विद्या को अभिन्न अधिकरण में प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय के भिन्न विमर्श के कारण त्रिकोणा कहा भी है[3]। इच्छा-ज्ञान-क्रिया की स्फुटता के सूचक वेदक-वेदन वेद्य की भिन्न चेतना शुद्धविद्या में विगलित होकर जब एक समरस चिद्रूपता बन जाती है तब वहाँ केवल अद्वैत 'अहन्ता' का विमर्शमात्र शेष रह जाता है। यही शिवशक्ति का पूर्ण सामरस्य पद है।

इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यों कह सकते हैं कि शुद्ध अध्वा में प्रकाशित होने वाली मन्त्रप्रमाता की 'तुरीय-जाग्रत्' (क्रियाशक्ति) मन्त्रेश्वर की 'तुरीय-स्वप्न' (ज्ञानशक्ति) और मन्त्रमहेश्वर की 'तुरीय-सुषुप्ति' (इच्छा शक्ति) अवस्थाएँ जो पूर्ण प्रत्यभिज्ञा के पूर्व तुरीय दशा के चिद्रूपता के प्रकाश में तीन मोतियों की भाँति चमक रही थीं वे प्रत्यभिज्ञा के सामरस्यपद में अर्थात् 'तुरीय-तुरीय' में प्रोत (पिरोई) होने पर मुक्तारूप का अपना पृथक् पृथक् प्रकाशत्व छोड़कर एकस्रक्रूपता (माला-रूपता) का प्रकाश बन जाती हैं जिसमें उनकी मौक्तिकरूपता का भेदविमर्श नहीं होता अपितु एक मालारूपता का अद्वैत विमर्श ही होता है[4]। सर्वसमरसीभूत यही 'तुरीय-तुरीय' का अद्वैत प्रकाश है और यही शुद्ध 'अहन्ता' का विमर्शरूप पूर्ण शिवपद है। 'तुरीय-जाग्रत्' आदि में क्रियाशक्ति आदि के कथन का प्रमाण तन्त्रालोक है। वहाँ 'तुरीय-जाग्रत्' में क्रियाशक्ति, 'तुरीय-स्वप्न' में ज्ञानशक्ति और 'तुरीय-सुषुप्ति' में

---

१. शिवदृष्टि, आ० ३।२-३।

२. परात्रिंशिकाविवरण, पृष्ठ ५४, १८३।

३. वही, पृष्ठ ५३।

४. त्रयस्यास्यानुसंधिस्तु यद्वशादुपजायते।
स्रक्सूत्रकल्पं तत्तुर्यं सर्वभेदेषु गृह्यताम्॥

—तन्त्रालोक, आ० १०।२९६।

इच्छाशक्ति का प्राधान्य बताया गया है[1]। इस प्रकार इच्छादि शक्तित्रय का आनन्दशक्ति में लयीकरण निःसन्देह तुरीय के 'जाग्रत्', 'स्वप्न' और 'सुषुप्ति' संज्ञक रूपत्रय का ही शिवपद में अर्थात् 'तुरीय-तुरीय' में लयीकरण है। यही आनन्दरसात्मक धाम है[2]।

कामायनी क इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक त्रिपुर (त्रिकोण) का तात्त्विक स्वरूप

काश्मीर शैवदर्शन के इन्हीं उपर्युक्त गम्भीर विचारों को पूर्णतया आत्मसात् करके दार्शनिक कवि प्रसादजी ने कामायनी में तुरीय अवस्था के 'जाग्रत्' 'स्वप्न' और 'सुषुप्ति' ('स्वाप')-रूपों के विगलन से इच्छा-ज्ञान-क्रिया का समरसीभाव दिखाया है और इनकी सामरस्य विश्रान्ति में ही शक्ति से अभिन्न शिवरूप मनु स्वस्वरूप के अद्वैतपद में स्थित हुए हैं—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे[3]॥

यही 'शक्तियुत' शिव (शक्तिमान्) की सामरस्य-स्थिति है, जो स्वात्मानन्द की अखण्ड आनन्दावस्था है और इसी में वह नित्य 'तन्मय' रहता है। यही वह आनन्दरूप सामरस्यपद है जो वास्तविक जीवन्मुक्ति का पूर्णानन्द और मानवता की चिरपोषित आकांक्षा का चिरसाध्य है। इसी सामरस्यपद में आदि जीव मनु को विश्रान्त करने के लिए कामायनीकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ से ही पारमेश्वरी अनुग्रहशक्ति श्रद्धा के द्वारा पुनः पुनः तत्त्व-ग्रहण के लिए उपदेश और अनुरोध कराया है। दुःख-बाहुल्य से सन्तप्त मानवता को इसी लौकिक जीवन में दुःखमुक्त और आनन्दभरित करने के लिए क्रान्तदर्शी

---

१. तन्त्रालोक, आ० १०।२९९-३००।

२. तुर्यानन्दरसात्मकं धाम।

—शिवसूत्रवृत्ति, पृष्ठ १५।

३. कामायनी, रहस्यसर्ग, पृष्ठ २७३।

प्रसादजी के दार्शनिक चिन्तन और मनन की उपलब्धि का यही आज के युग को उपहार है। इसकी व्याप्ति वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों तक है।

कामायनी-निरूपित "स्वप्न-स्वाप-जागरण" का तात्त्विक स्वरूप

यहाँ यह तथ्य भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि यहाँ "स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो" कहकर जिन प्रमातृ-अवस्थाओं के भस्म होने का उल्लेख किया गया है वे प्रमाता के जाग्रत् आदि अवस्था-पंचक में गिनायी गई अज्ञानमयी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ नहीं हैं क्योंकि अज्ञानमयी जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाएँ मलत्रयाविष्ट सकल प्रमाता की अवस्थाएँ हैं। इनके भस्म होने पर देहादि में अहन्ताभिमान त्याग कर प्रमाता उस ऊर्ध्ववर्ती प्रमातृ-दशा में विश्रान्त होता है जिसे 'शून्य-सुषुप्ति' कहा जाता है और इसके भस्म होने पर ही वह तुरीय के सामरस्य में प्रविष्ट होता है, यह सविस्तार हम ऊपर प्रकट कर चुके हैं। अब यदि सकल प्रमाता मनु की जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाएँ इच्छादि त्रिकोणदर्शन के अनन्तर यहाँ आकर भस्म हुई मानें तो इनके भस्म होने से पूर्व कामायनीकार के द्वारा मनु की ऊर्ध्वोन्मुखी साधना में दिए गए निम्नांकित साधनागत संकेत अपना दार्शनिक महत्त्व खोकर केवल बकवास रह जायेंगे—

निराधार हैं, किन्तु ठहरना
हम दोनों को आज यहीं है

× × ×

शून्य, पवन बन पंख हमारे
हमको दें आधार, जमे रहें[1]।

इतना ही नहीं, 'स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो' पंक्ति में उल्लिखित जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को मायीय प्रमाता की अवस्थाएँ मान लेने पर मायीय जगत् की जाग्रत् और स्वप्न नामक प्रमातृ-दशाओं के मनु में प्ररूढ रहते, पूर्वोक्त शून्य के ऊपर "यह समतल है" और समतल में "ऊष्मा का अभिनव अनुभव था", "ग्रह, तारा, नक्षत्र अस्त थे" और "निराधार उस महादेश में उदित सचेतनता नवीन-सी"[2] इत्यादि कथन महत्त्वहीन ही नहीं हो जायेंगे प्रत्युत उनमें

---

१. कामायनी, रहस्यसर्ग, पृष्ठ २६०।

२. वही, पृष्ठ २६१।

ऐसी महती असंगतियाँ भी उपस्थित हो जायेंगी कि उनमें कोई दार्शनिक क्रम और संगति ढूँढना असम्भव-सा हो जायेगा और सिद्धान्तहीन विचारों की उस बेतुकी साँठ-गाँठ से न केवल कामायनी का महत्त्व ही घटेगा अपितु प्रसादजी के दार्शनिक ज्ञान का छिछलापन भी प्रकट होगा। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। अतः ऐसा समझना अपनी ही अज्ञता प्रकट करनी होगी और साथ-साथ यह भी आभास देना होगा कि हम अब भी प्रसादजी के दार्शनिक विचारों को पूर्णतः सही-सही नहीं समझ पाये हैं। स्वप्न, स्वाप और जागरण अवस्थाओं को 'उदित सचेतनता नवीन-सी' के पश्चात् भस्म हुई कहने में जो वास्तविक तथ्य है वह यह है कि यहाँ तुरीय अवस्था के अन्तर्गत भस्म दिखाई गई अवस्थाएँ अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ ("स्वप्न, स्वाप, जागरण") सकल और प्रलयाकल प्रमाताओं की अज्ञानमयी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ न होकर स्पष्टरूप से तुरीय अवस्था की क्रमशः 'तुरीय-जाग्रत्', 'तुरीय-स्वप्न' और 'तुरीय-सुषुप्ति' अवस्थाएँ हैं, जिनका सविस्तार विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

भावलोक, कर्मलोक और ज्ञानलोक नामक त्रिपुर का दाह और उस पर पौराणिक प्रभाव

भावलोक, कर्मलोक और ज्ञानलोक के नाम से त्रिपुर या त्रिकोण का जो स्वरूप कामायनी में वर्णित है उसका विशेष सम्बन्ध काश्मीर शैवदर्शन से न होकर पौराणिक साहित्य से प्रतीत होता है। पौराणिक साहित्य में त्रिपुर सम्बन्धी कथा का उल्लेख मिलता है कि देवताओं से पराजित होकर असुरों ने प्रजापति की तपस्या की और तपस्या से प्रसन्न हुए प्रजापति (ब्रह्मा) की आज्ञा से मय नामक असुर ने बड़े परिश्रम से असुरों के लिए तीन पुरों का निर्माण किया। विद्युन्माली के लिए पृथ्वी में लोहे का, कमलाक्ष के लिए अन्तरिक्ष में रजत का और तारकाक्ष के लिये स्वर्ग में सुवर्ण का पुर बनाया गया[1]। साथ ही वहाँ यह भी उल्लेख है कि शिव ने प्रसन्न होकर उन तीनों पुरों को भस्म किया था[2]। त्रिपुर-दाह के वर्णन के अन्त में 'शिवमहापुराण' में यह भी लिखा है कि यह कथा अध्यात्मगर्भित है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ये तीन प्रकार के शरीर ही तीन पुर (त्रिपुर) हैं, मन त्रिपुर का निर्माण करने वाला मय (मयासुर) है और शिव लक्ष्य है तथा तीनों पुरों के एक साथ नष्ट होने से मोक्ष प्राप्त होता है[3]।

१. शिवमहापुराण (हिन्दी) द्वितीय रुद्रसंहिता, युद्ध खण्ड ५।२।५७-५९।
२. वही, ५।२।३२-३३।
३. वही, रुद्रसंहिता ५।२।४४।

त्रिपुर : वर्ण और आधार

भक्त ज्ञानेश्वर ने गीता की अपनी प्रसिद्ध टीका 'ज्ञानेश्वरी' में सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीनों गुणों को त्रिपुर बताते हुए लिखा है कि यह जगत् त्रिगुण-रूपी त्रिपुर से आवेष्टित है और जीवत्व-रूपी किले में बन्द है। कृष्ण का स्मरण करते ही उसे आत्मारूपी शंकर मुक्त कर देते हैं[1]। शिवपुराण में लिखा है कि विश्व को उत्पन्न करने वाली जो अनादिसिद्ध शक्ति है वही शैवी प्रकृति कहलाती है और वह रजोगुणयुक्त होने से लाल वर्ण की, सत्त्वगुणयुक्त होने से श्वेतवर्ण की तथा तमोगुणयुक्त होने से कृष्णवर्ण की है[2]। प्रकृति को त्रिवर्णा बताने वाले उक्त कथन की पुष्टि स्वच्छन्दतन्त्र से भी होती है। स्वच्छन्दतंत्र में प्रकृति को कृष्ण, रक्त और श्वेत वर्णवाली कहा गया है[3]।

तीनों कोणों (पुरों) का इच्छा आदि नामकरण

अपने विस्तृत अध्ययन के कारण प्रसादजी ने उक्त आधारों पर ही कामायनी में त्रिपुर का वर्णन किया है। पौराणिक साहित्य से स्वर्ण, रजत और लोहे के तीनों पुरों की और (अधिक स्पष्टतया कहना चाहें तो) तीनों गुणों के रंगों की कल्पना ग्रहण कर उक्त रक्त, श्वेत और कृष्ण तीनों रंगों के आधार पर उन्होंने भावलोक को रागारुण ज्ञानलोक को श्वेत और कर्मलोक को श्याम वर्ण का बताया है[4]। इन तीनों पुरों या कोणों को इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहने का आधार तो स्पष्टतया शैवागम है ही। ये त्रिपुर सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों के भी प्रतीक हैं, जैसा

---

१. ज्ञानेश्वरी (हिन्दी) सत्रहवां अध्याय, पृष्ठ ५४८।

२. शिवमहापुराण (हिन्दी) सप्तमी वायवी संहिता, पूर्वभाग अ० ६।

३. प्रकृतिः कृष्णवर्णा तु रक्तशुक्ला विराजते।

—स्वच्छन्दतंत्र, पटल १२।१०१।

४. (क)—वह देखो रागारुण है जो ऊषा के कन्दुक-सा सुन्दर। (भावलोक)

(ख)—श्रद्धे ! वह उज्ज्वल कैसा है,
जैसे पुंजीभूत रजत है।
प्रियतम ! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है। (ज्ञानलोक)

(ग)— मनु यह श्याम कर्म - लोक है
धुँधला कुछ-कुछ अन्धकार-सा। (कर्मलोक)

कामायनी, रहस्य सर्ग।

कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी स्वीकार किया है[१]। पर स्मरण रहे, ये त्रिगुण सांख्यदर्शन के त्रिगुण न होकर उनसे ऊर्ध्ववर्ती भूमिका के द्योतक हैं। दाक्षिणात्य शैवों ने ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र को भी त्रिगुणजनित बतलाकर सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों को सांख्यदर्शन की गुणकल्पना से ऊँचा स्थान दिया है। 'सौन्दर्य लहरी' में शंकराचार्य ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया भी है[२]। भावलोक में रजोगुण की प्रधानता है, जिसे प्रसादजी ने जीवन को मध्यभूमि कहा है—

त्रिपुर : तीन गुण

यह जीवन की मध्यभूमि है[३]।

प्रसादजी के उक्त कथन का आधार शिवपुराण है, जहाँ सत्त्वगुण की ऊर्ध्वगति, तमोगुण की अधोगति बताते हुए रजोगुण की मध्यमा गति कही गई है[४]। सत्त्वगुणप्रधान ज्ञानलोक के प्राणियों को प्रसादजी ने उज्ज्वल बताया है—

न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे
ये प्राणी चमकीले लगते[५]।

इस लोक के प्राणियों को चमकीला बताकर प्रसादजी ने इस ज्ञानलोक को उपर्युक्त दोनों लोकों से ऊर्ध्वता प्रकट की है, जैसा कि शिवपुराण में बताया गया है।

पौराणिक आधार पर कामायनी में वर्णित तीनों पुरों में कहीं-कहीं शैवागम के भी सिद्धान्त आने से नहीं बचे हैं। भावलोक में "मनोमय विश्व की रागारुण उपासना[६]", कर्मलोक में "प्राणतत्त्व की सघन साधना[७]" और ज्ञानलोक में "चलता है बुद्धि-चक्र[८]"

भावलोक, कर्मलोक और ज्ञानलोक क्रमशः मन, प्राण और बुद्धि की परिमितता के प्रतीक

---

१. जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ७६।

२. त्रयाणां देवानां त्रिगुणजनितां तव शिवे।
—सौन्दर्यलहरी, श्लोक २५।

३. कामायनी, पृष्ठ २६३।

४. शिवमहापुराण (हिन्दी) सप्त० वाय० संहिता, पूर्वभाग अ० ५।

५. कामायनी, पृष्ठ २७०।

६. कामायनी, पृष्ट २६४।

७. कामायनी, रहस्यसर्ग, पृष्ठ २६८।

८. वही, पृष्ठ २६९।

का उल्लेख करके कामायनीकार ने यहाँ काश्मीर शैवागम के प्रभाव की अभिव्यक्ति की है क्योंकि 'विज्ञानभैरव' की विवृति में शिवोपाध्याय ने लिखा है कि संकल्पात्मक मन, बुद्धि और प्राण तथा इनसे उपहित परिमित प्रमाता ये चारों जब परिक्षीण होकर चिच्चमत्कार (चिद्रूप संवेदन) को प्राप्त होते हैं तभी शिवस्वरूप प्राप्त होता है[1]। रजोगुण के प्राधान्य से भावलोक में पाप-पुण्य के मिथ्या विकल्पों की सृष्टि होती है और पाप-पुण्य के विकल्प ही एषणाओं को जन्म देते हैं। कर्मलोक इन्हीं एषणाओं से परिव्याप्त है क्योंकि विषय–एषणावश ही मित प्रमाता की कर्म में प्रवृत्ति होती है और जीवों के इस कर्म-चक्र का नियन्त्रण नियति करती है।

कर्म - चक्र - सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति - प्रेरणा।
सबके पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नई एषणा[2] ॥

प्रसादजी के इन उपर्युक्त विचारों पर स्पष्टतया 'स्वच्छन्दतंत्र' का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'स्वच्छन्दतंत्र' में लिखा है कि जो धर्माधर्म (पुण्य-पाप) रूप विकल्प हैं वे ही संसार के कारण हैं। अन्यत्र भी सब कहीं काश्मीर शैवदर्शन में शुभाशुभवासनात्मक कार्ममल को ही संसार का कारण कहा गया है[3] और धर्माधर्मविकल्पों के ही कारण यह संसार-चक्र नियति रूपी दण्डे से आहत अर्थात् प्रेरित होकर वेगपूर्वक घूम रहा है[4]।

---

१. मानसं संकल्पात्मकं, चेतना बुद्धिः, शक्तिः प्राणाख्या, आत्मा एतदुपहितः परिमितप्रमाता, एतत् चतुष्टयं यदा परिक्षीणं चिच्चमत्कारम् आपन्नं तदा तत् पूर्वोक्तं भैरवं वपुः अन्तःस्वानुभवानन्दा इत्यादिकम्।
—विज्ञानभैरवविवृति, पृष्ठ १२४।

२. कामायनी, रहस्यसर्ग, पृष्ठ २६६-२६७।

३. तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग २-३।२।१०।

४. संसारचक्रमारूढा भ्रमन्ति घटयन्त्रवत्।
धर्माद्यरकसंयुक्तमष्टारं चक्रकं प्रिये ॥
ईश्वराधिष्ठितं देवि नियत्यादण्डकाहतम्।
मलकर्मकलाविद्धं भ्रमते कालवेगतः ॥
—स्वच्छन्दतंत्र, भाग ६, पटल ११।१८६-१८७।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, शिवपुराण के अनुसार शिव ने प्रसन्न होकर त्रिपुरों को भस्म किया था। यहाँ कामायनी में पारमेश्वरी अनुग्रहशक्ति श्रद्धा की प्रसन्नतासूचक स्मिति की ज्योति-रेखा से उनकी पृथकता के भस्म होने पर वे संबद्ध होते हैं—

महाज्योति रेखा सी बन कर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें।
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें[1] ॥

इसके अतिरिक्त शिवपुराण में वर्णित तीनों पुर स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक शरीर-त्रय के प्रतीक बताये गये हैं, जिनके शिवद्वारा भस्म होने पर प्राणी मुक्त होते हैं।

कर्मलोक, भावलोक और ज्ञानलोक क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के प्रतीक

यहाँ भी उक्त आधार पर तीनों पुरों को श्रद्धा की "स्मिति की महाज्योति-रेखा" से भस्म कराकर मनु को मुक्ति प्राप्त कराई गई है। इस प्रकार कर्मलोक स्थूल शरीर का, भावलोक सूक्ष्म शरीर का और ज्ञानलोक कारण शरीर का प्रतिनिधित्व करते हैं, तभी तो ज्ञानलोक के प्राणियों के लिए (कर्मलोक और भावलोक के प्राणियों की तुलना में) कहा गया है—

न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे
ये प्राणी चमकीले लगते।

इन तीनों पुरों को भस्म करने वाली शक्ति पारमेश्वरी अनुग्रहशक्ति है, जो शिव से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं कही जा सकती। शिव की इस परमाशक्ति की ही संज्ञा त्रिपुरा है[2]। त्रिपुरारहस्य में श्रद्धा को ही त्रिपुराशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है और उसी को अपनी अप्रतिहत शक्ति से त्रिपुरों को एक करने वाली बताया गया है[3]। इस प्रकार श्रद्धा की स्मितिमात्र से कामायनी में

१. कामायनी, रहस्यसर्ग, पृष्ठ २७३।

२. त्रिपुरा त्रिविधा देवी ब्रह्मविष्ण्वीशरूपिणी।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिच्छाशक्त्यात्मिका प्रिये ॥
त्रैलोक्यं संसृजत्यस्मात् त्रिपुरा परिकीर्तिता।
—तंत्रालोकटीका, भाग २, पृष्ठ ७८।

३. त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड, अध्याय ६।

त्रिपुरों की पृथक्ता को भस्म कर उन्हें एक करने में प्रसादजी ने पौराणिक तथा तांत्रिक सिद्धान्तों में सामंजस्य करके उनकी समन्वित प्रेरणा को ग्रहण किया है। यही उनकी मौलिकता और प्रतिपादन की नवीनता है।

कश्मीर के 'त्रिक-साहित्य' में भी आत्म-प्रत्यभिज्ञा के परिणामस्वरूप 'कर्मदाह' का उल्लेख मिलता है[1]। कामायनी में भी, जैसा कि प्रत्यभिज्ञा के प्रसंग में प्रकट किया गया है, मनु की आत्म-प्रत्यभिज्ञा के अनन्तर ही त्रिपुरों या त्रिकोणों का क्षय हुआ है। अतएव यहाँ कामायनी पर यदि 'त्रिक-साहित्य' का भी कुछ प्रभाव हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। त्रिपुर के उपर्युक्त विविध रूपों को आत्म-प्रत्यभिज्ञा से क्षीण हुआ दिखाकर प्रसादजी यहाँ यह स्पष्ट कर देते हैं कि अज्ञान का क्षय आत्म-प्रकाश से ही संभव है।

निष्कर्ष यह है कि कामायनी के त्रिपुर-वर्णन और त्रिपुर-दहन का आधार मूलतः तो पौराणिक-साहित्य ही प्रतीत होता है, किन्तु शैवागम के अपने व्यापक अध्ययन के कारण प्रसादजी की अभिव्यक्ति पुराणों की अनुकृतिमात्र न रह कर ज्ञान का एक सामंजस्यपूर्ण एवं व्यापक संतुलित दृष्टिकोण लेकर यहाँ प्रकट हुई है। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि वैदिक और आगमिक परम्पराओं के अनेक शास्त्रों के सिद्धान्तों के मानसिक मंथन के परिणामस्वरूप जो विचार-नवनीत प्रसादजी को उपलब्ध हुआ उसीको उन्होंने यहाँ त्रिपुर या त्रिकोण के रूप में प्रकाशित किया है, जिसकी चरम परिणति पर छाप निःसंदेह शैवागम की ही है।

---

१. कर्मणश्च इयान् दाहो–यद्देहाहंभावसंस्कारगुणीभावो नाम इति, स च वैश्वात्म्यमाश्रितायां संविदि आत्माभिमानस्य मुख्यत्वात् भवेत्।
—तंत्रालोकटीका, आ० ९, पृष्ठ १०८।

अध्याय ११

मनु की मुक्ति का स्वरूप और उसकी शेषवृत्ति

मुक्ति के प्रकार : जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति

काश्मीर शैवदर्शन में मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति[1]। गुरुवचनादि से विलुप्तपारिमित्य जीवात्मा को आत्म-प्रत्यभिज्ञा से ज्यों ही परमेश्वर का ऐश्वर्योत्कर्ष अपने ऐश्वर्योत्कर्ष के रूप में हृदयंगम होता है त्यों ही तत्क्षण वह अपने पारमैश्वर्य के परामर्श से आह्लादित हो उठता है। परमेश्वररूप में अपना यह परामर्श ही उसकी पूर्णात्मिका जीवन्मुक्ति कहलाती है[2]। इस प्रकार अपने अनीश्वरतारूप व्यामोह के दूर होने पर जब योगी को आत्मस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा होती है तब वह लौकिक व्यवहार करते हुए भी उससे उसी प्रकार व्यामोहित नहीं होता, जिस प्रकार इन्द्रजाल का रहस्य ज्ञात कर लेने वाला इन्द्रजाल को देखते हुए भी उससे व्यामोहित नहीं होता[3]। यह जीवन्मुक्त योगी सदेहमुक्त होता है।

---

१. जीवन्मुक्तिमुक्त्वा विदेहमुक्तिं कथयति।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी की भास्करीटीका, भाग २, पृ० १४६।

२. तद्वदात्मनि गुरुवचनाज्ज्ञानक्रियालक्षणशक्त्यभिज्ञानादेर्वा यदा पारमैश्वर्योत्कर्षहृदयंगमीभावो जायते, तदा तत्क्षणमेव पूर्णात्मिका जीवन्मुक्तिः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २७५।

३. तदेवं व्यपोहिते व्यामोहे, स्थितेऽपि तत्संस्कारमात्रविधुते शरीरादौ अनात्मताभिमानपुरःसर एवात्मताभिमाने, घटादौ च प्रकाशमान एवानात्मताभिमाने ज्ञातेन्द्रजालतत्त्वस्य पश्यतोऽपि इन्द्रजालं यथा न तत्त्वतो व्यामोह तथा प्रत्यभिज्ञातात्मस्वरूपस्य।

—वही, पृष्ठ १३१।

इसके बाद मृत्यु से देह-निवृत्ति हो जाने पर वही योगी साक्षात् परमेश्वरता-लाभ कर परमशिव ही हो जाता है[1]। यही उसकी विदेहमुक्ति कहलाती है, जिसमें देह का अभाव रहता है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का अन्तर प्रकट करते हुए ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की भास्करी टीका में कहा गया है कि परमेश्वरता की आस्वादसहित तत्त्वदर्शिता जीवन्मुक्ति है और देहविगलन होने पर पूर्णतः परतत्त्व में लय हो जाना विदेहमुक्ति है[2]। विदेहमुक्ति के लिए देहपात आवश्यक है, किन्तु जीवन्मुक्ति के लिए नहीं।

जीवन्मुक्ति का स्वरूप

विदेहमुक्ति का स्वरूप

इस प्रकार विदेहमुक्ति जीवन्मुक्ति के अनन्तर ही प्राप्त होती है और जीवन्मुक्ति के बिना उसे दुष्प्राप्य ही कहा गया है[3]। जीवन्मुक्ति के प्रकाश को भी तर-तमभाव से समझाते हुए आत्मज्ञानी शैवों ने कहा है कि अपने पारमेश्वर समावेशप्रकर्ष के पुनः पुनः परिशीलन से जीवन्मुक्ति में पारमैश्वर्य की आंशिक प्राप्ति भी हो जाती है। इसे 'समावेशाभ्यासरसे तु विभूतिलाभः' ऐसा कहकर स्पष्ट किया गया है[4]। भास्करी टीका के टीकाकार ने पारमैश्वर्य के इस आंशिक विभूतिलाभ को जीवन्मुक्ति की पराकाष्ठा कहा है[5]। शास्त्रीय शब्दावली में यही भैरवमुक्ति अथवा भैरवता कहलाती है।

---

१. (क)—ततो निवृत्ते प्रयाणप्रापितपर्यन्ते देहे परमेश्वरतैव।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ट १३१।

(ख)—सति देहे जीवन्मुक्तस्तत्पाते परमेश्वर एवेति।

—वही, पृष्ठ २६९।

२. कुतो न पूर्णता इति आह देहत्वस्य इति। गलने—नाशे, विदेहमुक्तौ इति यावत्। पारमार्थिक सर्वात्मतालाभात् इत्यर्थः।

—भास्करी टीका, भाग २, पृष्ठ १४७।

एतेन जीवन्मुक्तिविदेहमुक्त्योर्महान्भेदः उक्त।
जीवन्मुक्तिर्हि तत्त्वदर्शित्वमेवास्वादसहितम्, विदेहमुक्तिस्तु तत्त्वे लयः।

— भास्करी टीका, भाग २, पृष्ठ १४७।

३. परं तु जीवन्मुक्तिं विना विदेहमुक्तिर्दुष्प्रापैव।

— वही।

४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ २७५।

५. जीवन्मुक्तेः परां काष्ठां कथयति 'अभ्यास' इति।

—भास्करीटीका, भाग २, पृष्ठ १४७।

कामायनी के मनु की मुक्ति इसी जीवनकाल की सदेहमुक्ति है जिसकी पारिभाषिक संज्ञा जीवन्मुक्ति है। मनु की यह जीवन्मुक्ति उसके शिवैकात्म्य की स्थिति है जो उसके निम्नांकित अद्वैत विमर्श से पूर्णतया प्रकट है —

मनु की मुक्ति : जीवन्मुक्ति

हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो।
जिसमें कुछ नहीं कमी है[१]।

शिवैकात्म्य की स्थिति को ही तंत्रालोक में 'उन्मनाभूमि' कहा है[२]। आचार्य क्षेमराज के अनुसार योगी पूर्णत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्वादिरूप संविन्मात्रस्वरूप में विश्रान्त रहता है[३]। स्वच्छन्दतंत्र के अनुसार 'उन्मनास्थिति' अभेद शिवपद के आत्मबोध की स्थिति है और उसमें स्थित योगी की संज्ञा 'उन्मन' है—

आत्मबोधे स्थितोन्मनाः[४]।

पूर्ण तुरीयपद का पर्याय यह 'उन्मनापद' ही सामरस्य पद है, जिसमें विश्रान्त योगी अपने अभेद विमर्श के कारण शुद्धात्मा कहलाता है[५]। प्रत्यभिज्ञात्मा 'श्रद्धायुत मनु' के सामरस्यरूप अभेदपद-विश्रान्तित्व को प्रकट करने के लिए प्रसादजी ने उसे आत्म-बोध में स्थित अर्थात् उन्मन कहा है—

मनु की सामरस्य विश्रान्ति

मनु तन्मय बैठे उन्मन[६]।

---

१. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८७।

२. उन्मनाभूमौ च तदैकात्म्यमित्येवमुक्तम्।
—तंत्रालोकटीका, भाग १२, आ० ३०, पृष्ठ १८०।

३. शिववदात्मापि मन उत्क्रम्य मनोभूमिमुज्झित्वा बोधे संविन्मात्रे पूर्णत्वसर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वाद्यात्मनि स्थितः स्थितश्चासौ उन्मनाश्चेति समास।
—स्वच्छन्दतंत्रटीका, भाग २, पृष्ठ २७४।

४. स्वच्छन्दतंत्र भाग २ – पटल ४।४३६।

५. उन्मनापदमारोहन् शुद्धात्मा तु ततो भवेत्।
तदित्थं शुद्धचैतन्यस्वरूपसामरस्यापन्नं ॥
—स्वच्छन्दतंत्र, भाग ३, पटल ५, पृष्ठ ६८-६९।

६. कामायनी, पृष्ठ २८५।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्वच्छन्दतंत्र 'आत्मबोधे स्थितोन्मनाः' कहकर स्पष्टतः शिवस्वरूपपरामर्श में स्थित को 'उन्मन' बतलाता है क्योंकि 'उन्मनापद' को ही वहाँ शुद्धचैतन्यस्वरूप का सामरस्यपद कहा गया है[१]। शिवैकात्म्य के उक्त सामरस्य में अवस्थित योगी अपने ही शक्तिस्वभाव के विमर्श (आत्म-विमर्श) में तन्मय रहता है—

तस्मिन्युक्तस्ततो ह्यात्मा तन्मयश्च प्रजायते[२]।

शक्ति-सामरस्य के इसी आनन्द-तन्मयत्व को लक्ष्य करके तंत्रालोक के प्रसिद्ध टीकाकार जयरथ ने कहा है—

आनन्दशक्तिविश्रान्तो योगी समरसो भवेत्[3]।

''मनु तन्मय बैठे उन्मन'' पंक्ति में 'उन्मन' और 'तन्मय' शब्दों के प्रयोग द्वारा दार्शनिक सिद्धान्त की अभिव्यक्ति करते हुए कामायनीकार प्रसाद ने भी सामरस्यविश्रान्त मनु के आनन्द-तन्मयत्व को ही यहाँ प्रकट किया है। काव्य की सीमा में दार्शनिक सिद्धान्त के व्यापक-निरूपण के लिए स्थान नहीं होता, यही समझकर काव्यमर्मज्ञ प्रसादजी ने अपने मनःस्थित दार्शनिक सिद्धान्त की यहाँ सूत्ररूप में ही अभिव्यक्ति की है, जिससे कि काव्यरसिक के रस में भी व्याघात न पड़े और दर्शन-रसिक से तत्त्व भी अपरिहृष्ट न रहे। यही काव्य और दर्शन का मंजुल समन्वय है जहाँ काव्य और दर्शन का भेद मिटकर एकरसरूपता का उन्मेष होता है। सत्य (तत्त्व) की यही चारु अभिव्यक्ति है जो प्रसादजी के मानस में बैठे भारतीय ऋषि का ही कर्तृत्व हो सकता है। इस प्रकार मनु यहाँ सामरस्य-विश्रान्त हैं। उस सामरस्य-विश्रान्त आत्मज्ञानी मनु की शाम्भवी दशा के स्वात्मप्रत्यवमर्श को प्रकट करने के लिए ही प्रसादजी ने यहाँ ऊपर कामायनी में मनु की ध्यान-निरतता का उल्लेख किया है—

मनु बैठे ध्यान निरत थे,
उस निर्मल मानस-तट में।
० ० ०
मनु तन्मय बैठे उन्मन[४]।

---

१. तदित्थं शुद्धचैतन्यस्वरूपसामरस्यापन्नं।
—स्वच्छन्दतंत्र, भाग ३, पटल ५, पृष्ठ ६९।

२. स्वच्छन्दतंत्र, पटल ४।३३२।

३. तंत्रालोक टीका आ० २, पृष्ठ २९।

४. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८५।

"मनु बैठे ध्यान निरत थे" के सम्बन्ध में उत्पन्न एक भ्रान्ति का निराकरण कर देना भी यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। वह भ्रान्ति इस प्रकार है कि एक शोधकर्ता विद्वान् ने मनु के ध्यान को यहाँ योगांगो में परिगणित ध्यान के रूप में ग्रहण किया है[1] जिसका उद्देश्य मन की एकाग्रता होता है। किन्तु उनका यह मत युक्तिसंगत नहीं हैं। इसका कारण यह है कि पहले तो मनु यहाँ जीवन्मुक्त है, उसे अपना पारमैश्वर्य प्रत्यभिज्ञात हो चुका है। उसके शक्तिसमन्वित सामरस्यविश्रान्तित्व का उल्लेख "श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे' कथन के द्वारा प्रसादजी पहले कर भी चुके हैं, यह हम सविस्तार बता आये हैं। जब प्रत्यभिज्ञातात्मा मनु को सर्वत्र पूर्ण अहन्ता का ही शुद्ध विमर्श हो रहा है तब उसके लिए भीतर और बाहर सर्वत्र शिवता ही तो व्याप्त है—

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाभ्यन्तरेऽपि वा।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात्क्व यास्यति[2] ॥

ऐसी स्थिति में मनु के ऐसे ध्यान के द्वारा मन की एकाग्रता या शुद्धि का क्या प्रयोजन रह जाता है? इतना ही नहीं, जब भीतर-बाहर सब कहीं एक शिवत्व की ही उसे अद्वैत-प्रतीति होरही है तब ध्यान के द्वारा मनु के लिए ध्यातव्य ही क्या शेष रह जाता है! शिवपद की पूर्णता के विमर्श में अपने से भिन्न ध्येय रहता भी तो नहीं[3] जिसके लिए मनु को यहाँ ध्यान निरत बताया जाय। दूसरे, यदि यहाँ ध्यान का उपर्युक्त अर्थ लिया जाए तो एक असंगति और उत्पन्न होगी और वह यह है कि इस प्रकार के ध्यान के अनन्तर क्रिया में प्रवृत्त होने के लिए इस ध्यान का भंग आवश्यक होगा, परन्तु प्रसादजी ने मनु के इस ध्यान के अनन्तर ध्यान-भंग का उल्लेख किये बिना ही क्रिया में उसकी प्रवृत्ति बताई है—

---

१. (क)—कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृष्ठ ३९८।
(ख)—कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना, पृष्ठ ३८६।
(ले० शैदा)

२. विज्ञानभैरव, श्लोक ११६।

३. न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥
इत्यतो दुःखसुखादि नीलादि तद्ग्राहकं च यत्र नास्ति तत्प्रकाशैकघनं तत्त्वमस्ति।

—स्पन्दकारिका १।५।

मनु ने कुछ-कुछ मुसक्या कर
कैलास ओर दिखलाया ।
बोले "देखो कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया[१]॥"

इस प्रकार यहाँ उक्त शोधकर्ता के द्वारा गृहीत ध्यान का अर्थ लेने पर मनु का उपर्युक्त कथन असंगत हो जायेगा, परन्तु यह मानना उचित नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि उक्त शोधकर्ता के द्वारा मनु के प्रसंग में यहाँ गृहीत ध्यान का उपर्युक्त अर्थ असमीचीन है। परन्तु समस्या का समाधान इतने से ही नहीं होता। यदि इस ध्यान का अर्थ अष्ट योगांग-वर्णित ध्यान नहीं है तो अन्य कौन-सा अर्थ है? यह समस्या ज्यों कि त्यों बनी हुई है। इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है—

शैवागम में श्रीदेवी की परतत्त्व सम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रीभैरव के यह कहने पर कि परतत्त्व (शिवस्वरूप) में विश्रान्त योगी जीते हुए भी और कर्म करते हुए भी विमुक्त ही रहता है[२], श्रीदेवी ने उससे प्रश्न किया था कि इस प्रकार अपने शिवस्वरूप की पूर्णता में विश्रान्त योगी जब सबको अपना ही अभिन्न अंग समझता है तब भेद के अभाव में किसका ध्यान किया जाता है और किसकी पूजा[३]? श्री देवी की उक्त प्रश्नात्मक जिज्ञासा के समाधान में श्रीभैरव ने वहाँ जो उत्तर दिया है वही मनु के ध्यान के सम्बन्ध में उठाये गये प्रश्नों का यहाँ उत्तर हो सकता है क्योंकि मनु भी यहाँ जीवन्मुक्त योगी है और जीवन्मुक्त के ध्यान के सम्बन्ध में ही श्रीदेवी की शंका है। आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त के ध्यान का स्वरूप बताते हुए श्रीभैरव ने कहा है कि लौकिक व्यवहार करते हुए भी परतत्त्व-विश्रान्ति (शिवसमावेश) में आत्मज्ञानी

१. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८७।
२. जीवन्नपि विमुक्तोऽसौ कुर्वन्नपि च चेष्टितम्।
—विज्ञानभैरव, श्लोक १४२।

३. एवमुक्तव्यवस्थायां
जप्यते को जपश्च कः।
ध्यायते को महानाथ
पूज्यते कश्च तृप्यति॥ भेदस्य अभावात्।
—विज्ञानभैरव, श्लोक १४३।

की निराकारा, निराश्रया बुद्धि की निश्चलता (प्ररूढता) ही वास्तव में उसका ध्यान है, न कि 'अक्षिमुखादिकल्पना'[१]। तंत्रालोक की टीका में जयरथ ने शिवयोगी के ऐसे ध्यान को उसका संविस्स्वातंत्र्यरूप स्वात्म - परामर्श बताया है[२]। शिवरूप आत्मयोगी के स्वात्म-प्रत्यवमर्श - रूप ध्यान का स्वरूप प्रकट करते हुए यही आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है[३]। निष्कर्ष यह है कि परतत्त्व-विश्रान्ति में आत्मज्ञानी का निश्चलता-रूप यह कामायनी-संकेतित ध्यान जीवन्मुक्त मनु की शाम्भवी दशा का निश्चल स्वात्म-प्रत्यवमर्श है जिसमें मनु जीवन्मुक्त योगी की "अन्तर्लक्ष्योबहिर्दृष्टिः[४]"— रूपा निश्चलता से बाहर न देखता हुआ भी देखता है अर्थात् लोक-व्यवहार करता हुआ भी चिदात्मस्थ ही रहता है। यही कारण है कि सामरस्यप्राप्त जीवन्मुक्त योगी मनु अपनी इस शाम्भवी स्थिति में सर्वत्र पराहन्ता के स्वात्मप्रत्यवमर्शरस से अखण्ड आनन्द-

---

१. ध्यानं हि निश्चला बुद्धि-
निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीराक्षि-
मुखहस्तादिकल्पना ॥
—विज्ञानभैरव, श्लोक १४६।

२. एवंविधः खलु योगी सृष्ट्यादिपंचविधकृत्यकारित्वलक्षणात् स्वभावात् हेतोः, यदेव स्वेच्छया बहिरन्तर्वा नीलसुखादि अवभासयति, तदेव नामास्य संविन्मात्ररूपत्वात् पारमार्थिकं ध्यानं, न तु नियतं दशभुजादि अन्यत्किंचिदित्यर्थः।
—तंत्रालोकटीका, भाग ३, आ० ४, पृष्ठ २२८।

३. यस्तु संपूर्णचिद्वृत्तिर्न फलं नाम वांछति।
तस्य विश्वाकृतिर्ध्यानं सर्वदैव विजृम्भते ॥
—मालिनीविजयवार्त्तिक खण्ड २, वार्त्तिक १३८।

४. (क) अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।
एषा वै शाम्भवी मुद्रा सर्वशास्त्रेषु गोपिता ॥
—भास्करीटीका, भाग २, पृ० ३०१।

(ख) अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः परमं पदमश्नुते।
— तंत्रालोक, भाग ३ —आ० ५।८०।

सागर बना हुआ अपनी ही स्पन्दात्मक शक्ति-रूपी तरंगों से तरंगायित (स्पन्दमान) हो रहा है—

चिर-मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन।
निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द-अम्बुनिधि शोभन[१] ॥

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार शून्याशून्यविवर्जित शाम्भव पद की यह विश्रान्ति गुरुप्रसाद से होती है[२] और कामायनी के मनु को भी गुरुप्रसाद से ही यह आत्मप्रत्यभिज्ञा का परविश्रान्ति-लाभ हुआ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि "मनु बैठे ध्यान-निरत थे" में जब अज्ञानी साधक के अक्षिमुखादिकल्पनारूप ध्यान का लवलेश तक नहीं है तब मनु के बोलने से पूर्व प्रसादजी उसके ध्यान के टूटने का संकेत भी करते तो कैसे करते और यदि कहीं ऐसा हो जाता तो कामायनीगत दार्शनिक विचारों के प्रतिपादन में एक महती असंगति आ जाती।

कश्मीर के शिवाद्वयशास्त्र में लिखा है कि आत्मप्रत्यभिज्ञा से परमाद्वय-रूपताको प्राप्त योगी अपने पारमेश्वर्योत्कर्ष के हृदयंगमीभाव से शिवसामरस्य के आनन्द-पद में संलीन होता है[3] क्योंकि परिपूर्ण "अहन्ता" का आत्मविमर्श ही

---

१. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८६।

२. अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते।
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरसौ पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा युष्मत्प्रसादाद् गुरो.।
शून्याशून्यविवर्जितं भवति यत् तत्त्वपदं शाम्भवम् ॥
—अनुभवनिवेदनस्तोत्र, श्लोक १।

३. इति ये रूढसंवित्तिपरमार्थपवित्रिता।
अनुत्तरपथे रूढास्ते— — — ॥
अनुत्तरपथे–पूर्णानन्दचमत्कारघनतया सर्वातिशायिनि चिद्विकासात्म-वृत्तिमार्गे विश्रान्ताः-स्वरसावस्थानेनैव लब्धतत्सामरस्या इत्यर्थः, तदुक्तम्
आनन्दशक्तिविश्रान्तो योगी समरसो भवेत्।
—तंत्रालोक, आ० २, पृष्ठ २८-२९।

तो पूर्ण आनन्द है[१]। इस प्रकार अपने पूर्णानन्दचिदैकात्म्य की दृढ़ता से जीवन्मुक्त योगी को यही प्रतीत होता है कि देहादिभाव से भासमान होता हुआ भी यह समस्त भावमण्डल मुझसे ही प्रसृत और मुझमें ही प्रकाशित हो रहा है, मैं ही सबमें स्फुरित हो रहा हूँ। यह विश्व मेरा शरीर है और मैं ही पूर्णसंविद्रूप परमेश्वर हूँ[२]।

जीवन्मुक्त मनु द्वारा अपनी पूर्ण अहन्ता का अद्वय परामर्श: उसकी स्वात्मानन्द-विश्रान्ति

कश्मीर के आत्मज्ञानी शैवों की उपर्युक्त अद्वैतवादी विचारधारा के आधार पर कामायनीकार ने भी, अपने परमेश्वर स्वरूप की विभूति के प्रत्यवमर्शरूप आनन्द में मुसकाते हुए जीवन्मुक्त मनु के द्वारा ठीक उसी शब्दावली में इड़ा, कुमार आदि को यह कहलाया है कि पराहन्ता के अद्वय परामर्श में यहाँ कोई भी पराया नहीं, सब कहीं मैं ही परमाद्वय चिदानन्दैकघन हूँ और तुम सब मेरे ही अभिन्न अंग हो—

मनु ने कुछ-कुछ मुसक्या कर
कैलास ओर दिखलाया।
बोले "देखो कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया॥
हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो।
जिसमें कुछ नहीं कमी है॥[३]"

हिमधवल कैलास यहाँ प्रकाशात्मा शिव (संवित्) का प्रतीक है, जैसा कि शैवागम-ग्रन्थ की टीका में संकेतित भी है।[४] पूर्णसंविद्रूपता के इस अद्वैत सामरस्य-

---

१. पूर्णत्वादहमित्यन्तर्ज्ञानमानन्द उच्यते।—महार्थमंजरीवृत्ति, पृ० १४२।

२. मय्येव भाति विश्वं दर्पण इव निर्मले घटादीनि।
मत्तः प्रसरति सर्वं स्वप्नविचित्रत्वमिव सुप्तात्॥
अहमेव विश्वरूप करचरणादिस्वभाव इव देहः।
सर्वस्मिन्नहमेव स्फुरामि भावेषु भास्वरूपमिव॥
—परमार्थसार, श्लोक ४८-४९।

३. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८७।

४. नेत्रतंत्रटीका, पटल १।३।

पद में पाप-पुण्यरूप द्वैत-विकल्पों का अभाव होने के कारण न यहाँ कोई शापित है और न कोई तापित है। जीवनरूपी वसुधा सामरस्य से ओतप्रोत है। अतः उसमें सभी समरसीभूत होकर आनन्दपद में संलीन हैं—

शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है ॥[1]

यह कामायनी-निरूपित सामरस्य सिद्धान्त शैवागम का ही सिद्धान्त है। स्पन्दशास्त्रकार ने इस सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा है कि जीवन्मुक्त जगत्-भर को ही आत्म-क्रीड़ा अर्थात् आत्मशक्ति के विलास-रूप में देखता है, उसकी योगावस्था अर्थात् शिवैक्यसमापत्ति कभी भग्न नहीं होती और सर्वत्र सामरस्य की अनुभूति होने से कोई भी आशंका शेष नहीं रह जाती[2]। सामरस्य-विश्रान्ति के इसी उपर्युक्त आनन्द-रहस्य की अभिव्यक्ति करते हुए प्रसादजी ने 'प्रेम-पथिक' में भी कहा है—

मिलो उसी आनन्द-अम्बुनिधि में मन से प्रमुदित होकर,
एक सिन्धु में मिलकर अक्षय सम्मेलन होगा सुन्दर।
फिर न बिछुड़ने का भय होगा कहीं कभी[3]॥

तंत्रालोक में लिखा है कि जीवन्मुक्त योगी की पूर्णसंविन्मयी दृष्टि में सुख-दुःखरूप शंकाओं की तनिक भी आतंक - विकल्पना नहीं रहती[4]। इसी कारण ऊपर मनु ने अपने सामरस्य-बोध में किसी के भी तापित और शापित न होने का उल्लेख किया है। योगी के परमाद्वयरूपता को प्राप्त हो जाने पर सर्वज्ञ

---

१. कामायनी, पृष्ठ २८८।

२. इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन्संततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥
—स्पन्दकारिका २।५।

३. पृष्ठ ३१।

४. एतेषां सुखदुःखांशशंकातंकविकल्पनाः।
निर्विकल्पपरावेशमात्रशेषत्वमागताः॥
—तन्त्रालोक, आ० २।३६।

एक शिवरूपता का विमर्श होने के कारण सुख-दुःख आदि से उपलक्षित द्वन्द्वाभिभव भी उसके लिए आत्म-स्वरूप ही हो जाते हैं। अतएव वे स्व-स्वरूप की पूर्णानुभूति में उसकी खिन्नता के कारण नहीं होते[१]। परिपूर्ण 'अहन्ता' का यह प्रत्यवमर्श ही उसकी आनन्दैकघनता है। पराहन्ता में विश्रांत मनु की निराशंस आनन्दोच्छलता को ही व्यंजित करने के लिए यहाँ ऊपर "जिसमें कुछ कमी नहीं है" का सप्रयोजन प्रयोग किया गया है क्योंकि अपूर्ण में ही पूर्णता की कामना होती है। महेश्वरभाव से व्यतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं, सब कुछ वही तो है। अतः उसमें अपूर्णता अर्थात् 'कमी' की कल्पना तक नहीं की जा सकती। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा है—

अहमेवेति महेश्वर-भावे का दुर्गतिः (दरिद्रता) कस्य[२]।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि अपने अद्वय भगवद्रूप की ज्ञानापत्ति से इस प्रकार कृतकृत्य होकर जीवन्मुक्त योगी जब अनन्योन्मुखभाव से पूर्णतालाभ कर लेता है तब उसके लिए आकांक्षणीय तो कुछ रहता ही नहीं, जिसके लिए वह कर्म करे, तो फिर देहपातपर्यन्त वह अपना शेषजीवन कैसे बितायेगा अर्थात् उसकी शेषवृत्ति क्या होगी ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्टतया लिखा है कि स्वरूप-प्रथन (आत्मज्ञान) से अपने आपमें कृतकृत्य (निराशंस) हो जाने के कारण लोकानुग्रह ही जीवन्मुक्त के शेषजीवन का कर्त्तव्य है —

नानुग्रहात्परं किंचिच्छेषवृत्तौ प्रयोजनम्[३]।

और अनन्त दुःख-ज्वालाओं से परितप्त सांसारिक जीवों को उनके आनन्दरूप चित्स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान करा कर उन्हें दुःखमुक्त करना ही सच्चा

---

१. (क)–इत्थं तत्त्वसमूहे भावनया शिवमयत्वमभियाते।
कः शोकः को मोहः सर्वं ब्रह्मावलोकयतः॥
—परमार्थसार, श्लोक ५२।

(ख) –परमाद्वयरूपतां याते, शोकमोहोपलक्षिताः
द्वन्द्वाभिभवाः ब्रह्ममयत्वात् सर्वे स्वरूपरूपा
इति न खेदाय प्रभवन्ति।
—वही, टीका, पृष्ठ १०४।

२. परमार्थसार, कारिका ५९।

३. तंत्रालोक, आ० २।३८।

लोकानुग्रह है[1]।

काश्मीर शैवदर्शन का अपने ऊपर प्रभाव प्रकट करते हुए प्रसादजी ने आचार्य अभिनवगुप्त के इन्हीं सैद्धान्तिक विचारों को जीवन्मुक्त मनु की शेषवृत्ति में क्रियान्वित किया है। अपने पारमेश्वर्य-लाभकी पूर्णता से कृतकृत्य होकर मनु अपनी शक्ति श्रद्धा के साथ (क्योंकि शैवदर्शन में शिव शक्ति से विरहित नहीं होता, यहाँ अद्वैत का अर्थ ही दो का नित्य सामरस्य है) "शीतल अति शान्त तपोवन[2]" में बैठे संसृति की सेवा करते हैं और संसृति के दुःख-बाहुल्य से पीड़ित अज्ञानी जीवों को उनके चिदानन्दरूप पूर्ण स्वभाव का प्रत्यभिज्ञान कराते हुए दुःख-ज्वालाओं से विमुक्त और समरसदृष्टि से स्वात्मानन्दित करते हैं—

पारमेश्वर्य-लाभ की पूर्णता से कृतकृत्य जीवन्मुक्त मनु की शेषवृत्ति : लोकानुग्रह

वे युगल वहीं अब बैठे
संसृति की सेवा करते।
संतोष और सुख देकर
सबकी दुख-ज्वाला हरते[3]॥

मनु की इस संसृति-सेवा (लोकानुग्रह) के क्रियात्मक रूप का आगे प्रत्यक्षीकरण भी होता है जब इड़ा और मानव के नेतृत्व में सारस्वत-नगर-निवासी एक कुटुम्ब बनाकर मनु के तपोवन में पहुँचते हैं और इड़ा-मुख से अपनी भव-ताप-मुक्ति की आकांक्षा प्रकट करते हैं—

इड़ा-मुख से सब जीवों की मुक्ति-आकांक्षा

हम एक कुटुम्ब बना कर
यात्रा करने हैं आये।
सुन कर यह दिव्य तपोवन,
जिसमें सब अघ छुट जाये[4]॥

---

१. (क) – यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः।
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम्॥
—तंत्रालोक, आ० २।३९।

(ख) – तंत्रालोकटीका, भाग १, आ० २, पृष्ठ ३२-३३।

२. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८०।

३. वही, पृष्ठ २८२।

४. वही, पृष्ठ २८७।

इड़ा-मुख से उस यात्री दल की ऐसी "सब अघ-मुक्ति" (भव-ताप मुक्ति) की आकांक्षा सुनकर आत्म-योगी मनु अभेदवाद के तत्त्वज्ञान से उन्हें सामरस्य-विश्रान्त कर आनन्दभरित बनाते हैं[१]। हिमालय-स्थित तपोवन में संसृति सेवा के उल्लेख का कारण शैवागम का प्रभाव न होकर कदाचित् प्रसादजी का तपोवनप्रेम है, क्योंकि भारतीय तपोवन के सात्विक तथा शान्ति व सुखमय जीवन के प्रति अतीत-प्रेमी प्रसादजी के मन में बड़ा आकर्षण रहा है। उनकी इस मनोवृत्ति का पता न केवल कामायनी के प्रस्तुत प्रसंग से ही लगता है अपितु उनके नाटकों से भी लगता है। उनके नाटकों में तपोवन के पवित्र एवं रमणीक वातावरण की ममतामयी प्रशंसा की गई है[२]।

यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि शैवागम में स्वभ्यस्त ज्ञानवान् सिद्ध योगी को ही गुरुभाव से जीवों को मुक्ति प्रदान करने वाला बतलाया गया है[3]। योग का उपदेशमात्र पाये हुए अथवा योग के अभ्यासमात्र में निष्ठ योगीको वहाँ जीवों की मुक्ति का अधिकारी नहीं माना है[४]। उपाय-भावना के अभ्यास से क्षीण-मल होकर अनुपाय समावेश तक पहुँचे हुए मुक्त योगी ही मुक्तिदाता गुरु

---

१. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८७ से २९१ तक।

२. (क)-- जनमेजय का नागयज्ञ, अंक २ प्रथम दृश्य, तपोवन, पृष्ठ ४७
तथा अंक ३ छठा दृश्य, वेदव्यास का आश्रम, पृष्ठ ९७।

(ख) चन्द्रगुप्त, दाण्ड्यान का तपोवन, पृष्ठ १९०।

३. यतश्च मोक्षदः प्रोक्तः स्वभ्यस्तज्ञानवान्बुधैः।
तस्मात्स्वभ्यस्तविज्ञानतैवैकं गुरुलक्षणम्॥

— तंत्रालोक, भाग ८, आ० १३।३३२-३३३।

४. योगी चतुर्विधः संप्राप्तो घटमानः सिद्धयोग सुसिद्धश्चेति। तत्र संप्राप्तः प्राप्तयोगोपदेशमात्रो, घटमानश्च तदभ्यासमात्रनिष्ठ प्ररूढाविति परस्य किं कुरुतः। सिद्धयोगस्य पुनः स्वभ्यस्तज्ञानमप्यस्ति, इति तत्प्रयोजकीकारेणैवायं मोचको, नान्यथेत्युक्तं योगी तु स्वभ्यस्तज्ञानित्वादेव उत्तमे पदे योजकः।

—तंत्रालोकटीका, भाग ८, आ० १३,
पृष्ठ १९८-१९६।

बनकर अपने लोकानुग्रह से अन्य जीवों को भवताप-ज्वाला से मुक्त कर सकते हैं और 'क्रम-मोक्ष' से आत्मस्थ होने वाले ऐसे भक्त योगी ही गुरुभाव से लोक के उद्धारक होते हैं[1]। वे जीवन्मुक्त योगी अज्ञान में व्याकुल (भवतापित) सांसारिक जीवों के उपकार की इच्छा करते हुए आत्म प्रत्यभिज्ञा द्वारा उन्हें समरसता के आनन्द में विश्रान्त करना चाहते हैं[2]।

सिद्धयोगी हो जीवों की मुक्ति का अधिकारी

'आनन्द सर्ग' में 'मानव' और उससे उपलक्षित सारस्वत-नगर-निवासियों को गुरुभाव से अद्वैतोपदेश देते हुए आत्म-प्रत्यभिज्ञात करने वाला मनु ऐसा ही एक 'क्रममुक्त' योगी है जिसने अद्वैत शैवशास्त्र के उपदेश-श्रवण और परतत्त्वदर्शन के अनन्तर परतत्त्व की भावना आदि रहस्योपायों से अनुपाय-समावेश तक पहुँचकर स्वप्रत्यय से शिवतारूप स्वरूप-विश्रान्ति प्राप्त की है। अतएव स्पष्ट है कि मुक्तात्मा मनु 'स्वभ्यस्त ज्ञानवान्' सिद्धयोगी है। ऐसे सिद्धयोगी मनु को 'मानव' (मनु-पुत्र) का मुक्तिदाता गुरु बनाकर प्रसादजी ने यहाँ काश्मीर शैवदर्शन के सिद्धान्तों का ही अनुसरण किया है क्योंकि काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार स्वभ्यस्त ज्ञानवान् सिद्धयोगी ही जीवों का मोचक गुरु बनकर उन्हे उत्तमपद (शिवस्वरूप) पर आरूढ कर सकता है। मनु में स्वभ्यस्त ज्ञानी (सिद्धयोगी) के लक्षणों का मिलना और उसके द्वारा गुरुभाव से 'मानव' (मनु-पुत्र) सहित सबको मुक्त किया जाना काकतालीय न्याय का संयोग-मात्र नहीं है। यहाँ 'काकतालीय न्याय' की सम्भावना के लिए तनिक भी स्थान नहीं है क्योंकि मनु के ऐसे मुक्तिदाता गुरुभाव के पीछे पराशक्ति श्रद्धा द्वारा प्रदत्त शिवाद्वयदर्शन का तत्त्वोपदेश, 'रहस्यसर्ग' के रहस्यात्मक योगाभ्यास से अनुपायसमावेश-लाभ और तदनन्तर मनु द्वारा आत्मस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा की

---

१. तं ये पश्यन्ति ताद्रूप्यक्रमेणामलसंविदः।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्थैवास्यानुग्रहात्मता ॥
ये पूर्वाभ्यासादिना निर्मलसंविदः।
—तंत्रालोक, आ० २, पृष्ठ ३४।

२. कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन्।
समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि ॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा अधि० १।१।१।

सुस्पष्ट योजना है, जो काकतालीय न्याय की यहाँ संभाव्यमान कल्पना तक को छिन्नमूल करके कामायनीकार के पूर्व स्थिर मन्तव्य को स्पष्ट कर देती है।

जीवन्मुक्त मनु का लोकानुग्रह

'मानव' की मुक्ति के लिए जीवन्मुक्त मनु ने गुरुभाव से शिवाद्वयस्वरूप का यह आनन्दमूलक ज्ञानोपदेश दिया है —

जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।
चेतन समुद्र में जीवन
लहरों-सा बिखर पड़ा है॥
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना
निर्मित आकार खड़ा है।
° ° °
वैसे अभेद सागर में
प्राणों का सृष्टि-क्रम है।
सब में घुल-मिल कर रसमय
रहता यह भाव चरम है॥
° ° °
सब भेद-भाव भुलवा कर
दुख-सुख को दृश्य बनाता।
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता[1]॥

यह उपदेश निःसंदेह काश्मीर शैवदर्शन की ऐसी विशिष्ट तत्त्वोपलब्धि है जो उसे भारतीय अद्वैतवादी दर्शनों में शीर्षस्थान पर ला बैठाती है और इसी उत्कृष्ट कोटि की शैव विचारधारा ने शिवभक्त प्रसादजी की दार्शनिक दृष्टि को सर्वाधिक प्रभावित और प्रोन्नत किया है।

मुक्तात्मा मनु ने मानव को लक्ष्य करके गुरुभाव से जो तत्त्वोपदेश दिया है उसकी काश्मीर शैवदर्शन के साथ कितनी अधिक समता है, इसे हम अब

१. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८८-२८९।

यहाँ प्रकट करेंगे। काश्मीर शैवदर्शन सामरस्यमूलक अद्वैत का प्रतिपादक है और आभासमान विश्व–वैचित्र्य को, अनन्त लहरों के रूप में स्फुरित सागर की समरस जलता (जलत्व) की भाँति, शिव की आत्म-शक्ति का ही विलास मानता है। जिस प्रकार शान्त निस्तरंग सागर अपने स्वरूपभूत जल को अपने आपमें ही असंख्य वीचिमालाओं के रूप में आभासित करता है, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी अखण्ड प्रकाशरूपता (संविद्रूपता) के अन्तर्गत अपनी स्पन्दरूपा इच्छामात्र से अपने अद्वय स्वरूप को ही विश्वभाव से आभासित करता है[1]।

सामरस्यपूरित अभेदवाद

वीचिमालाओं के रूप में उल्लसित जल अपने आधाररूप अपार जलसंघात से पूर्णतः अभिन्न होते हुए भी तरंग-रूपों में परस्पर भिन्न प्रतीत होता है। वैसे ही विश्वरूप में भासमान प्रकाश अपने आधारभूत महाप्रकाश से सर्वथा अभिन्न होते हुए भी प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूपों में भिन्नवत् आभासित होता है[2]। प्रकाशात्मा शिव आनन्द-सागर है और जगद्वैचित्र्य उसी की आनन्द-वीचियाँ हैं। सागर की जलरूपता और वीचिमाला की जलरूपता में जैसे तत्त्वतः कोई भेद नहीं और सर्वत्र एक ही जलरूपता (जलत्व) का सामरस्य ओतप्रोत है वैसे ही शक्तिमान् शिव और शिव के शक्तिस्फार जगत् में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है[3]। भेद का आभास केवल अतत्त्व–दृष्टि की कल्पना-मात्र है। तत्त्वप्रकाश हो जाने पर तो गुड़, खाण्ड, शर्करिका आदि सब रूपों में विद्यमान एक ही इक्षु-रस की भाँति प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय आदि सबमें एक ही पारमेश्वर चैतन्य की प्रतीति होने लगती है—

सबमें घुल-मिल कर रसमय
रहता यह भाव चरम है[4]।

इस सामरस्य-प्रकाश के उदित होने पर प्राणी द्वैत विकल्पों से निर्मुक्त होकर जगत् के यावन्मात्र पदार्थों को अपना ही शक्ति-विलास अनुभव करते हुए 'सर्वोऽहं'' की अभेद दृष्टि पा लेता है। सामरस्य का यही अद्वयविमर्श नित्य-सुख अथवा अखण्ड आनन्द है।

---

१. तंत्रालोक, भाग २–आ० ३।१०२–१०३।
२. मालिनीविजयवार्त्तिक, प्रथमकाण्ड, वार्त्तिक ६०५–६०६।
३. शिवदृष्टि, आ० ३।३७–३८।
४. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८८।

काश्मीर शैवदर्शन के इसी सामरस्यपूरित अभेदवाद के आधार पर प्रसाद जी ने मानव-कल्याण की भावना को संमुख रखकर कामायनी में मनु के द्वारा कहलाया है — कि जैसे ज्योत्स्ना के समुद्र में बुद्बुद्-सा रूप बनाकर अपनी अपनी आभा से चमकते हुए असंख्य नक्षत्र दिखाई देते हैं वैसे ही संवित्प्रकाश के अभेद-सागर में जीवों की सृष्टि का क्रम चलता है—

इस ज्योत्स्ना के जलनिधि में
बुद्बुद् सा रूप बनाये।
नक्षत्र दिखाई देते
अपनी आभा चमकाये ॥
वैसे अभेद सागर में
प्राणों का सृष्टि-क्रम है[1]।

स्वप्रकाश संवित् समुद्र-तुल्य है और विश्व-जीवन उसमें लहरों की भाँति स्फुरित हो रहा है। जिस प्रकार अनन्त लहरों के रूप में विलसित सागर का समुल्लास सागर ही है, उससे कथमपि भिन्न नहीं, उसी प्रकार अनन्त जीवों के रूप में स्फुरित संवित्-स्वभाव परमेश्वर का यह अद्वैत चिदात्मा में विश्व-आभास संवित्स्फार तत्त्वतः परमेश्वर ही है। शैवागम की इस सम्बन्ध में स्पष्ट घोषणा है क एक परमशिव ही स्वस्वभावरूप प्रकाशरूपता और विमर्शरूपता से शक्तिमान् और शक्ति पदार्थद्वय कहलाता है, जगत् उसकी शक्ति है और शक्तिमान् की ही संज्ञा महेश्वर है[2]। वस्तुतः दोनों एक हैं[3]। शिवरूप होते हुए भी शिव के स्वातंत्र्य से लहर-स्थानीय जीव आणव आदि मलत्रय की स्वकल्पित अपूर्णता के तारतम्य से अपनी कुछ व्यक्तिगत छाप अर्थात् अपना अपना व्यक्तिगत वैशिष्ट्य लिए हुए अनन्त भेद-विस्तार को जन्म देते हैं क्योंकि अपने पूर्ण शिवस्वभाव की अपहानि या विस्मृति ही तो परिमित जीवता का कारण है। उक्त जीवता में

१. कामायनी, आनन्दसर्ग।

२. शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥
—परमार्थसारटीका, पृष्ठ १०।

३. न वह्नेर्दाहिका शक्तिः व्यतिरिक्ता विभाव्यते।
—विज्ञानभैरव, श्लोक १९।

ही द्वैत कल्पना को प्रश्रय मिलता है। "कुछ छाप व्यक्तिगत" कथन के द्वारा भी प्रसादजी ने प्रत्यभिज्ञादर्शन के ही उस सिद्धान्त का संकेत किया है जिसके अन्तर्गत मलतारतम्यके विचार से समस्त जीवों को'सकल'से लेकर शिवपर्यन्त सात मुख्य प्रमातृवर्गों में विभक्त करके भी मुख्य गौणभाव से पुनः उनकी अनन्त प्रकारता का उल्लेख किया गया है[१]। ये सब शक्ति के ही प्रकाश-बिन्दु हैं और शक्ति शक्तिमान् (शिव) से भिन्न नहीं। आत्मा प्रकाशरूप है और अप्रकाश की सत्ता शशविषाण तुल्य है,यह पूर्व कहा जा चुका है। इसी कारण शक्तिस्फुरण-रूप जीवों को पूर्वोद्धृत पंक्तियों में 'ज्योत्स्ना के जलनिधि में अपनी अपनी आभा से चमकते हुए" अर्थात् अपना परिमित स्वरूप प्रकट करते हुए कहा गया है, क्योंकि सागरतरंगवत् प्रकाशांश जीव पूर्णप्रकाशात्मा परमेश्वर के बाहर प्रकाशित भी कहाँ हो सकते हैं? केवल प्रकाशरूप तो मणि आदि पाषाण भी हो सकते हैं, परन्तु प्रकाशात्मा परमेश्वर जड़ नहीं है, क्योंकि उसे अपनी प्रकाशरूपता का विमर्श भी होता है[२]। इस विचार से प्रसादजी ने ज्योत्स्ना के जलनिधि के साथ "चेतन समुद्र" का साभिप्राय प्रयोग भी कर दिया है। इसके साथ ही कामायनी के सुविज्ञ कवि ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि स्वरूप-संकोच की उक्त "कुछ छाप व्यक्तिगत" के ही कारण जीवात्मा धर्माधर्मरूप मिथ्याविकल्पों से परिबद्ध होकर स्वकल्पित क्षणिक सुख-दुखादि से पुलकित और दुखित होते रहते हैं। परन्तु तत्त्वतः तो यह सचराचर विश्व चिति का ही संवित्समुल्लास है[3] और इस कारण अभेदनिष्ठ समरस योगी के लिए आत्मशक्ति का विलास होने से आनन्दरूप ही है[४]। शिव आनन्द-सागर है और वही सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है, वही सब में है और सभी उसमें हैं। कामायनीकार ने भी तो इसी को चरमभाव कहा है—

सब में घुल-मिल कर रसमय
रहता यह भाव चरम है।

१. देखिए यही प्रबन्ध, अध्याय ४।

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ १९७-१९८।

३. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८८।

४. (क)—आत्मज्ञो न कुतश्चन बिभेति सर्वं तस्य निजरूपम्।
—परमार्थसार, श्लोक ५८।

(ख)—अहंविमर्शसंचेतनं रसरूपो वा आनन्दः इति वा।
—विज्ञानभैरवविवृति, पृष्ठ ६१।

इस प्रकार सर्वत्र एक परमशिव के ही स्वातंत्र्य–विलास की परिव्याप्ति से अभेदवाद की प्रतिष्ठा करते हुए सबमें "हम केवल एक हमीं हैं" के विमर्श की पूर्ण 'अहन्ता' के कारण शिवस्वरूप में समाविष्ट मनु कहते हैं कि मैं (शिव) अपनी चेतना-शक्ति से सबको ही स्पर्श किए हूँ और मेरी यह शक्ति ही अपने स्वातंत्र्य से एक होकर भी सागर की अनन्त लहरों की भाँति विभिन्न रूपों को ग्रहण कर नाना जीवभाव से खेल रही है—

शिवस्वरूप में समाविष्ट मनु के स्वातंत्र्य–विलास की सर्वत्र परिव्याप्ति

मैं कि मेरी चेतनता
सबको ही स्पर्श किये-सी
सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूँट पिये-सी[1]।

और ऐसा करते हुए भी वह अद्वैत ही है। अतः इस अद्वयरूपता की पूर्णता की अनुभूति से निर्विकार (मलानवच्छिन्न) होकर मुक्त स्वभाव के उल्लास में नित्य हँसते हुए यह मानव-जगत् अपने निर्विकार तात्त्विक आनन्द-स्वभाव में विश्रान्त होकर इस बात का साक्षी बने कि संविद्रूपा शिवता हमसे भिन्न कहीं अन्यत्र नहीं, वह तो हममें ही विद्यमान है[2]। प्रत्येक मानव तत्त्वतः शिवरूप है, पर ऐसी दृढ़ प्रतीति के अभाव में वह अपने को संकुचित समझ कर शिव को अपने से भिन्न मानता है। शिवत्व-विमर्श के अखण्ड आनन्द में विश्रान्त होने के लिए अपने अप्रत्यभिज्ञात शिवरूप को अपने में ही प्रत्यभिज्ञात करना चाहिए क्योंकि वही तो मलानवच्छिन्न अखण्ड आनन्द का उत्स है। अतः उसे अनुभव-प्रकाश में लाना ही जीवन का चिर एवं चरमसाध्य है। शिवाद्वयदर्शन के इसी उपर्युक्त तत्त्वोपदेश को हृदयंगम करवाने के लिए मनु अपने पुत्र 'मानव' को सम्बोधित करके कहता है—"हे मानव! तू सब भेद-भाव भूलकर सामरस्यज्ञान से दुःख सुख को पूर्ण संविन्मयता की दृष्टि से स्वांगरूप में देखते हुए इस

---

१. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८९।

२. चेतन का साक्षी मानव हो, निर्विकार हँसता-सा।

—कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८९।

अद्वैतविमर्श को हृदयंगम कर कि "यह मैं हूँ[1]" (इदमहमस्मि) अर्थात् यह सब मैं ही हूँ, जगत् मेरा स्वातंत्र्य–विजृम्भण है और मैं अपने इस जगद्रूप शक्ति-प्रसार से शक्तिमान् (शिव) हूँ। स्वात्म-शिवता के ऐसे पूर्ण विमर्श के उदित होते ही हे मानव! अज्ञानदशा में दुःखार्णव प्रतीत होने वाला यह विश्व सर्वत्र स्वात्मरूप की प्रतीति से तेरे लिए आनन्दवपु,—आनन्द नीड़—, बन जायगा—

सब भेद-भाव भुलवाकर
दुख-सुख को दृश्य बनाता।
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता॥[2]"

"दुख-सुख को दृश्य बनाता" में 'दृश्य' का प्रयोग भी अपना दार्शनिक महत्त्व लिए हुए है। "दृश्यं शरीरम्[3]" के द्वारा शिवसूत्रों में कहा भी गया है कि विश्व के सुख-दुःख को 'दृश्य' बनाने अर्थात् अपना ही संविन्मय शरीर समझ लेने पर उनसे क्षणिक प्रसन्नता या खिन्नता नहीं होती। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी यह बात कही है कि सब कुछ आत्म-स्वरूप हो जाने पर आत्मज्ञ के लिए कुछ भी क्लेशकारी नहीं रह जाता[4]।

लोकानुग्रहरत पूर्णकाम (निराशंस) मनु ने गुरुभाव से मानव को यह महावाक्य सुनाया—

मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'।

और यह गुरुवचन सुनते ही तत्क्षण शिवरूप मनु की स्वात्मभूता अनुग्रह-शक्ति श्रद्धा के "मधु अधरों की रागारुण किरण कला-सी स्मिति-लेखाएँ[5]" अनुग्राह्यजन 'मानव' और उससे उपलक्षित यात्रीदल पर स्वरूप-प्रकाश का संविदालोक ज्योतित कर तत्क्षण ही उन्हें स्वात्म-प्रत्यभिज्ञा के परामर्शरूप आनन्द में निमग्न कर देती है—

---

१. मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'।
— कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८९।

२. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २८९।

३. शिवसूत्र १।१४।

४. आत्मज्ञो न कुतश्चन बिभेति सर्वं तस्य निजरूपम्।
—परमार्थसार, श्लोक ५८।

५. कामायनी, पृष्ठ २८९।

क्षण भर में सब परिवर्तित
अणु-अणु थे विश्व-कमल के।
पिंगल पराग से मचले
आनन्द-सुधा-रस छलके[1]॥

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि श्रद्धा प्रत्यभिज्ञात-आत्मा मनु की स्वात्मभूता शक्ति होने के कारण बिना बोले ही शिवरूप मनु के अनुग्रह का फल जीवों को अनुभूत करा देती है। वस्तुतः अपनी शक्ति के द्वारा ही तो शिव विश्व के जीवों पर अनुग्रह करता है। मनु भी यहाँ शिवरूप सिद्धयोगी है जो अपनी अभिन्न अनुग्रहशक्ति (श्रद्धा) के द्वारा जीवों पर अनुग्रह प्रकट करता है। मुक्तात्मा के आनन्द-स्वरूप को यहाँ प्रसादजी ने बड़े ही उपयुक्त अप्रस्तुत द्वारा संवेद्य बनाया है। जिस तरह कमल का पुष्प पूर्णतः विकसित होने पर पराग की परिपूर्णतावश मकरन्द-रस से छलकता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार यहाँ मुक्तात्मा विश्व-संवित् के अभिन्न अंग बनकर स्वात्म-स्वरूप के पूर्ण प्रकाश से अन्य-निरपेक्ष परिपूर्णता के विमर्शात्मक आनन्द में स्पन्दमान (घूर्णित) हैं।

लोकानुग्रह-रत 'पूर्ण काम' मनु के द्वारा अपनी अनुग्रहशक्ति से जीवों की मुक्ति

'मानव' तथा इड़ा सहित समस्त यात्रीदल को आत्म-प्रत्यभिज्ञात करने से गृहीतगुरुरूप आत्मस्थ मनु की "भैरवता" का भी यहाँ स्पष्ट संकेत है। उसने अनुग्रहमात्र से ही सब को स्वरूप-समाविष्ट कर दिया है। मनु का यह मुक्तिकारक अनुग्रह वही 'अनुग्रह' है जो परमेश्वर के कृत्यपंचक के अन्तर्गत गिना जाता है और जिससे संसारी जीवों की मुक्ति होती है। अतएव स्पष्ट है कि जीवन्मुक्त मनु को यहाँ परमेश्वर का आंशिक 'विभूति-लाभ' हो रहा है और वह जीवन्मुक्ति की पराकाष्ठा अर्थात् 'भैरवता-स्वरूप' में समाविष्ट है। जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, "भैरवता" को प्राप्त मुक्तात्मा के स्वतंत्र कर्तृत्व को प्रकट करते हुए शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः कहा भी है कि अपनी महेश्वरता के स्वातंत्र्य का परामर्श करते हुए वह जो-जो इच्छा करता है उन सबको शिवत्व में अपने समावेश के अभ्यास से इसी शरीर में रहते हुए ही जान लेता है और पूर्ण

मनु के मुक्तिकारक अनुग्रह में उसकी 'भैरवता' का संकेत

---

१. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २९१।

कर लेता है—इति परामृशन् यद्यदिच्छति तत्तज्जानाति करोति च समावेशाभ्यासपरोऽनेनैव शरीरेण[1]। गुरुरूप मनु के अनुग्रह से 'मानव' आदि के शिवरूप में समाविष्ट होने के बाद प्रसादजी ने 'आनन्दसर्ग' में बाह्य प्रकृति का जो अत्यन्त रमणीय चित्र खींचा है, उससे सामरस्य में अवस्थित मुक्तात्माओं के आनन्द-प्रसार की व्यञ्जना की गई है क्योंकि शिवभाव को प्राप्त शुद्ध प्रमाताओं को तो भीतर और बाहर सर्वत्र आनन्द ही प्रसृत हुआ प्रतीत होता है। अतः उक्त सर्वत्र प्रसृत आनन्द की व्यापकता और एकरूपता की स्पष्ट प्रतिपत्ति कराने के लिए प्रसादजी ने प्रकृति में भी यहाँ सर्वत्र आनन्द उल्लास दिखाया है[2]। शिवस्वरूप में विश्रान्ति के आनन्दातिशय के कारण सभी मुक्तात्माओं में प्रेम

सामरस्य-विश्रान्ति से मुक्तात्माओं और प्रकृति में सर्वत्र आनन्द-उल्लास

का निर्मल प्रकाश परिव्याप्त हो गया और सर्वत्र अपनी ही एक कला की अर्थात् संवित्-शक्ति की व्याप्ति का विमर्श होने के कारण सब कुछ आत्ममय ही प्रतीत होने लगा—

प्रतिफलित हुईं सब आँखें
उस प्रेम-ज्योति विमला से।
सब पहचाने से लगते
अपनी ही एक कला से[3]॥

काश्मीर शैवदर्शन में कहा भी है कि एक चिति ही स्वेच्छावश नाना रूप ग्रहण करती हुई अखिल विश्व में अभेदरूप से स्फुरित हो रही है[4] और उस चितिरूपा आनन्दशक्ति में विश्रान्त प्राणी सामरस्य के अखण्ड आनन्दपद में संलीन रहता है।[5] स्पष्ट ही कामायनी ग्रन्थ काश्मीर शैवदर्शन के अभेदवाद के सामरस्यमूलक आनन्दवाद को लेकर मानवता के कल्याण के लिए हिन्दी-जगत् में अवतीर्ण हुआ है। इस प्रकार पूर्ण संविद्रूपता की निर्मल 'समष्टि-दृष्टि'

---

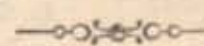
१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २६९।
२. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २९१ से २९४ तक।
३. कामायनी, पृष्ठ २९४।
४. स्वप्रकाशा संविदेव एका तत्तदात्मना स्फुरति।
–तंत्रालोक टीका, भाग १, पृष्ठ १७२।
५. तंत्रालोक टीका, भाग १ आ० २, पृष्ठ २९।

से न केवल मानव, इड़ा, प्रजाजन आदि संपूर्ण चेतन प्राणी ही अपितु जगत् के यावन्मात्र पदार्थ भी "श्रद्धायुत मनु" (शक्तियुत शिव) के साथ समरस होकर स्वात्माद्वय-विमर्श के आनन्द-पद में विश्रान्त हो गये और अनन्त लावण्यराशि शिव का अव्यक्त सुन्दर स्वरूप साकार हो उठा। सामरस्य-विश्रान्ति से सबमें यह अद्वैत विमर्श दृढ़ हो गया कि एक संविद्रूप चैतन्य ही सर्वत्र विलसित है। सर्वत्र ओतप्रोत सामरस्य के उक्त अद्वैत-विमर्श के कारण वहाँ मनुष्यों में और प्रकृति में सर्वत्र अखण्ड आनन्द का साम्राज्य हो गया जिसे प्रसादजी ने यह कहकर प्रकट किया है—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था ॥

इस प्रकार आत्मस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा से मानव, इड़ा और सारस्वत प्रदेश के निवासी सभी शिवरूप मनु के साथ समरस हो गए और सब में एक चेतनता की समरस व्याप्ति के विमर्श से अखण्ड आनंद में विश्रान्त हो गये।

निष्कर्ष यह है कि अपने चैतन्यस्वरूप (शिवत्व) का साक्षात्कार करके सर्वानुस्यूत अपनी पूर्ण अहन्ता के विमर्श से कृतकृत्य हुआ मनु जैसा 'पूर्णकाम' ऋषि ही जीवों को भव-ताप से मुक्त कर सामरस्य दृष्टि से शाश्वत सुख में समाविष्ट कर सकता है क्योंकि वह जगत् भर को आत्म-शक्ति के विलासरूप में ही तो देखता है-"हम केवल एक हमीं हैं"। जगत् भर को आत्ममय देखने वाला मनु-सदृश जीवन्मुक्ति ऋषि ही संसृति-सेवा एवं विश्व-कल्याण के महान् आदर्शों की पूर्ति कर सकता है। निश्चय ही कामायनीकार की तत्त्व-दृष्टि शैवागम से अनुप्राणित है और कामायनी के दार्शनिक प्रतिपाद्य का आधार काश्मीर शैवदर्शन है।



६. कामायनी, आनन्दसर्ग, पृष्ठ २९४।

उपसंहार

कामायनी की दार्शनिक विचारधारा के अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि उसमें काश्मीर शैवदर्शन के मानव-कल्याणकारी सिद्धान्तों का सुन्दर एवं योजनाबद्ध निरूपण हुआ है। मनु तीन प्रकार के मलों से आबद्ध एक सामान्य जीव है जो अशुद्ध अध्वा के परिपुष्ट बन्धन की दशा में पड़ा हुआ है। मायाकृत स्वरूप-विपर्यास से वह प्रमेयरूप जड़ शरीर में अहन्ता का अभिमान दृढ़ करके शरीर-धर्मों को अपने स्वभाव का गुण समझता हुआ उनकी तृप्ति से हर्षित और अतृप्ति से दुखित होता है। जैसे अपने ही भीतर स्थित कस्तूरी की सुगन्ध को मृग बाहर के पदार्थों में ढूँढ़ता फिरता है वैसे ही कला, विद्या, राग, काल एवं नियति नामक कंचुकों से संकुचितशक्ति होकर वह आनन्द की उपलब्धि के लिए बाह्य विषयों को टटोलता-फिरता है। अपने ऐसे प्रयत्नों में शरीर-सुखों की मनोभिलाषा का अतृप्ति से दुखी एवं निराश होकर वह अपने दुखी जीवन के कारण सम्पूर्ण संसार को ही दु:खों का घर समझते हुए ऐहिक दुःखों से मुक्ति और जीवन की पूर्णता पाने के लिए वैराग्य-मूलक तप को ही जीवन का लक्ष्य बना लेता है।

अनन्त दुःखों से संतापित ऐसे जीव मनु को श्रद्धा स्वस्थ जीवन-दृष्टि प्रदान करने के लिए काश्मीर शैवदर्शन का उपदेश देती है। श्रद्धा शिव को पराशक्ति है जो लोकानुग्रह के विचार से भगवान् शिव की अनुग्रहशक्ति कहलाती है। भगवान् शिव को ही शैवागम में 'काम' या कामेश्वर कहा है। वह 'पूर्णकाम' (निराशंस) है। अतएव अपनी पूर्णता के ऐश्वर्य के विमर्श में वह शिव नित्यभाव से आनन्द-सागर बना हुआ है। श्रद्धा उसी आनन्द-सागर भगवान् कामेश्वर अर्थात् शिव की अभिन्न शक्ति है और जीवों पर अनुग्रह करने के लिए भगवती परासंवित् (प्रेमकला) का संदेश लेकर अनुग्रहशक्ति के रूप में इस संसृति में अवतीर्ण हुई है। मनु तत्त्वतः परिगृहीतजीवभाव शिव ही है, किन्तु अज्ञानवश वह अपने शिवस्वरूप को पहचान नहीं पाता। उसके इस अज्ञानरूपी मल के प्रक्षालन के लिए श्रद्धा उसे अद्वैत शैवदर्शन का उपदेश देती हुई कहती है कि परमशिव विश्वोत्तीर्ण होते हुए विश्वात्मक भी है। वह एक ही परमार्थ सत्ता है जो प्रकाश-विमर्शरूप है। विमर्श उसका शक्ति-स्वभाव है। उसकी यह विमर्शशक्ति अथवा चितिशक्ति ही अपने स्वातंत्र्य से जगदाभास के नाना रूपों में विलसित होती है। अतएव जगत् शिव की

आनन्द-लीला होने से शिव के अन्तर्गत उसी प्रकार विलसित होता है जैसे सागर की स्वात्म-रूपा तरंग सागर में विलसित होती है। सुख-दुःख भी उसकी स्वातंत्र्य-लीला के ही अंग हैं। अतः वे उसका आत्मस्वरूप होने के कारण उसके लिए क्षणिक सुख-दुःख के हेतु न बनकर नित्य आनन्दरूप ही रहते हैं। जब सब कुछ शिवमय ही है तो जीव भी शिव ही है। किन्तु 'संकुचितस्वरूप' होने के कारण जीव को अपने शिवस्वभाव के आनन्द का विमर्श नहीं होता। काम अर्थात् कामेश्वर की अज्ञात वाणी ने भी जीवात्मा मनु को यही उपदेश दिया है कि श्रद्धारूपी 'पूर्णकाम की प्रतिमा' अर्थात् पारमेश्वरी शक्ति को आत्म-शक्ति के रूप में प्रत्यभिज्ञात कर तुम अपने पूर्णकाम-रूप शिवस्वभाव में विश्रान्त हो जाओ।

अनुग्रहशक्ति श्रद्धा के द्वारा अद्वैत शैवदर्शन का उपदेश देने पर भी जब मनु भेदवृत्ति का परित्याग नहीं करता तब भगवान् शिव की वामाशक्ति (निग्रह-शक्ति) से अधिष्ठित होकर वह और भी अधःपतित होता है। परमेश्वर के शक्तिपात से उसमें भोगवैरस्य तथा श्रद्धा के प्रति भक्ति का उन्मेष होता है। यही उस पर शक्तिपात का प्रारम्भ है। शक्तिपात के इस प्रारम्भ से वह परमार्थ की अभिलाषा प्रकट करता है। ऐसे दर्शितभक्ति मनु की शान्ति-अभिलाषा के जगते हुए संस्कारों को दृढ़मूल करने के लिए गुरुरूपिणी श्रद्धा दीक्षापूर्वक उसे नटेश-दर्शन के रूप में परतत्त्व का प्रथम दर्शन कराती है जिससे कि वह श्रद्धा के द्वारा दिखाये गये परतत्त्व में स्वप्रत्यय से भावना दृढ़ करके जीवन्मुक्त हो सके। उक्त प्रथम परतत्त्व-दर्शन की आनन्द-रसिकता के संस्कारवश ही मनु में शैवदर्शन के उन रहस्यात्मक उपायों के प्रति प्रवृत्ति होती है जिनसे जीवता के अज्ञानरूपी मल का प्रक्षालन और अपने शिवस्वरूप का ऐश्वर्य-विमर्श होता है। रहस्यसर्ग की रहस्यात्मक साधना के सोपान पथ पर आरोहण करते हुए जीवात्मा मनु अशुद्ध अध्वा से उत्तीर्ण होकर शुद्ध अध्वा (शुद्धविद्या के क्षेत्र) में पहुँच कर आत्मज्ञानी गुरुरूपा श्रद्धा के कथन मात्र से ही इच्छा ज्ञान-क्रियारूपा शक्ति को स्वशक्ति-रूप में प्रत्यभिज्ञात कर अपने शिवस्वरूप में विश्रान्त हो जाता है। शिव की अनुग्रहशक्ति श्रद्धा शिवरूप मनु की अभिन्न शक्ति बन जाती है। 'संकुचित काम' (मितैश्वर्य) रूप वाला मनु 'पूर्णकाम' (शिव) बन जाता है और अपनी ही विमर्शरूपा आनन्द शक्ति से स्पन्दमान हो उठता है। इस तथ्य को प्रसादजी ने यह कहकर प्रकट किया है—

निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द-अंबु-निधि शोभन।

आत्म-स्वरूप में उसका यह स्पन्दन जीवन्मुक्ति के स्वात्म-पूर्ण आनन्द का अतिशय है। जीवन्मुक्ति से कृतकृत्य मनु के लिए लोकानुग्रह ही शेष जीवन का कर्तव्य-कर्म रह जाता है। इसी लोकानुग्रह में संलग्न 'श्रद्धायुत मनु' संसृति-सेवा करते हुए 'मानव', इड़ा आदि सारस्वतनगर-निवासियों के यात्रीदल को जीवन्मुक्त करते हैं। जीवन्मुक्त मनु के अनुग्रह से सारस्वतनगर-निवासियों को भवताप से मुक्त और आनन्द में विश्रान्त दिखाकर प्रसादजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पूर्णकाम आत्म-योगी ही संसृति के सच्चे हितकारी और कल्याण-मार्ग के दर्शक हो सकते हैं। जो स्वयं अपूर्ण हैं, विषय-सुखों की ओस चाटते फिरते हैं वे भला क्या संसृति-सेवा करेंगे? जो स्वयं अन्धकार में हैं अर्थात् अज्ञानी हैं वे दूसरों को क्या प्रकाश-दर्शन करा सकेंगे? उत्तर निश्चय ही 'नहीं' है। वस्तुतः आनन्द ही जीवन का परम साध्य है तथा इस स्वात्मानन्द में विश्रान्त होने वाले जीवन्मुक्त ही लोक-सेवा के द्वारा विश्व को शान्ति-लाभ करा सकते हैं। भौतिक उन्नति के द्वारा अपना अभ्युदय करते हुए भी विश्व को निःश्रेयस से पराङ्मुख नहीं रहना चाहिये। समरसता की तत्त्वदृष्टि में दृढ़ रहते हुए ही अभ्युदय की साधना की जानी चाहिये, यही कामायनी का आज के भौतिक युग को आनन्द-सन्देश है। इस प्रकार आदि से लेकर अन्त तक कामायनी में काश्मीर शैवदर्शन के सिद्धान्तों का योजनाबद्ध विकास विद्यमान है। काव्य में दर्शन के विचारतत्त्व की ऐसी उत्तम योजना से इस ग्रन्थ-रत्न का महत्त्व न केवल साहित्य में ही स्थायी रहेगा अपितु दर्शन के क्षेत्र में भी चिन्तन को गति प्रदान करेगा।

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत ग्रन्थ

१—श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र, प्रकाशक–रिसर्च डिपार्टमेंट, जम्मू एण्ड कश्मीर स्टेट, श्रीनगर ।

२—श्रीस्वच्छन्दतंत्र, क्षेमराजकृत उद्द्योतटीका सहित, भाग १ ।

३—श्रीस्वच्छन्दतन्त्र, भाग २ ।

४—श्रीस्वच्छन्दतन्त्र, भाग ३ ।

५—श्रीस्वच्छन्दतन्त्र, भाग ४ ।

६—श्रीस्वच्छन्दतन्त्र, भाग ५ अ ।

७—श्रीस्वच्छन्दतन्त्र, भाग ५ ब ।

८—श्रीस्वच्छन्दतन्त्र, भाग ६ ।

९—श्रीनेत्रतन्त्र-क्षेमराजकृत उद्द्योत टीका सहित, भाग १ ।

१०—श्रीनेत्रतन्त्र, भाग २ ।

११—श्रीविज्ञानभैरव-क्षेमराज तथा शिवोपाध्यायकृत विवृति और आनन्द-भट्टकृत विज्ञानकौमुदी टीका सहित ।

१२—शिवसूत्र, क्षेमराजकृत विमर्शिनी सहित ।

१३—शिवसूत्र, भास्कराचार्यकृत वार्त्तिक सहित ।

१४—शिवसूत्र, वरदराजकृत वार्त्तिक सहित ।

१५—स्पन्दकारिका, कल्लटकृत वृत्ति सहित ।

१६—स्पन्दकारिका, रामकण्ठकृत विवृति सहित ।

१७—स्पन्दकारिका, क्षेमराजकृत निर्णय वृत्ति सहित ।

१८—शिवदृष्टि, उत्पलकृत वृत्ति सहित ।

१९—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, अभिनवगुप्तकृत विमर्शिनी सहित भाग १ ।

२०—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, अभिनवगुप्तकृत विमर्शिनी सहित, भाग २ ।

२१—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, उत्पलदेवकृत वृत्ति सहित ।

२२—सिद्धित्रयी, उत्पलदेवकृत ।

२३—तंत्रालोक अभिनवगुप्त, जयरथकृत टीका सहित, भाग १ ।

२४—तन्त्रालोक, भाग २ ।

२५—तन्त्रालोक, भाग ३ ।

२६—तन्त्रालोक, भाग ४-६ ।

२७--तन्त्रालोक, भाग ७ ।
२८—तन्त्रालोक, भाग ८ ।
२९—तन्त्रालोक, भाग ९ ।
३०—तन्त्रालोक, भाग १० ।
३१—तन्त्रालोक, भाग ११ ।
३२—तन्त्रालोक, भाग १२ ।
३३—तन्त्रसार अभिनवगुप्त ।
३४--मालिनीविजयवार्त्तिक-अभिनवगुप्त ।
३५—तन्त्रवटधानिका-अभिनवगुप्त ।
३६—श्रीपरात्रिंशिकाविवरण-अभिनवगुप्त ।
३७—परमार्थसार—अभिनवगुप्त, योगराजकृत विवृति सहित ।
३८—बोधपंचदशिका-अभिनवगुप्त ।
३९—परात्रीशिका-अभिनवगुप्तकृत अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनी लघुवृत्ति सहित, सम्पादक-जगद्धर जाडू शास्त्री ।
४०—स्पन्दसंदोह-क्षेमराज ।
४१—प्रत्यभिज्ञाहृदय-क्षेमराज ।
४२—पराप्रावेशिका-क्षेमराज ।
४३—अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका-आद्यनाथ ।
४४—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह-राजानक आनन्दकृत विवरण सहित ।
४५—कामकलाविलास-पुण्यानन्द ।
४६—जन्ममरणविचार-भट्टवामदेव ।
४७—वातूलनाथसूत्र-वातूलनाथ, अनन्तशक्तिपादकृतवृत्ति सहित ।
४८—देवीनामविलास-साहिब्कौल (आनन्दनाथ) ।
४९—भावोपहार-चक्रपाणिनाथ, भट्टरम्यदेवकृतविवरण सहित. ।
५०—स्तवचिन्तामणि-भट्टनारायण, क्षेमराजरचित विवृतिसहित ।
५१—शिवसूत्रवृत्ति ।
५२—गुरुनाथपरामर्श – मधुराज (कश्मीर रिसर्च बाइ एनुवल भाग १, नं० १) ।
५३—स्पन्दकारिका—उत्पलवैष्णवकृत दीपिकावृत्ति सहित
५४--शिवस्तोत्रावली-उत्पलदेवकृत, क्षेमराजकृत वृत्ति सहित ।
५५--भास्करी, भाग २ सम्पादक-के० ए० शुभ्रमनिया अय्यर तथा डा० के० सी० पाण्डेय ।

५६—महार्थमंजरी, परिमलावृत्तिसहित,—महेश्वरानन्द, सम्पादक गणपति शास्त्री।

५७—शिवजीवदशक—साहिबकौल (आनन्दनाथ), (अप्रकाशित)

५८—परमार्थचर्चा -- अभिनवगुप्त, अपेन्डिक्स-सी (अभिनवगुप्त : एन हिस्टो० एण्ड फिलो० स्टेडी)

५९—अनुभवनिवेदन स्तोत्र- ,,

६०—देहस्थदेवता स्तोत्र— ,,

६१—महोपदेशविंशतिक— ,,

६२—श्रीविंशतिकाशास्त्र—श्रीमद् अमृतवाग्भव।

६३—स्वातंत्र्यदर्पण —श्री बलजिन्नाथ पण्डित (अप्रकाशित)

इतर-तन्त्र ग्रन्थ

६४—त्रिपुरारहस्य-सं० डा० गोपीनाथ कविराज, भाग १।

६५—त्रिपुरारहस्य- ,, ,, भाग २।

६६—त्रिपुरारहस्य- ,, ,, भाग ३।

६७—त्रिपुरारहस्य- ,, ,, भाग ४।

६८—सौन्दर्यलहरी-श्रीशंकराचार्य।

६९—महिम्न स्तोत्र।

७०—पंचस्तवी-धर्माचार्य, हरभट्टी व्याख्या सहित, भाग ३।

७१—पंचस्तवो-धर्माचार्य, हरभट्टकृत व्याख्या सहित भाग १-२, (अप्रकाशित)।

७२—सर्वदर्शनसंग्रह-सायण माधव, द्वितीय संस्करण।

अन्य संस्कृत ग्रन्थ

७३—छान्दोग्य उपनिषद्, बाम्बे यन्त्रालय, लाहौर

७४—मत्स्यपुराण, गुरुमण्डल प्रकाशन, कलकत्ता।

७५—महाभारत, सम्पादक-पं० रामचन्द्र शास्त्री, किंजबडेकर।

७६—सांख्यकारिका।

७७—ऋग्वेद-दशम मण्डल।

७८—अष्टाध्यायी।

७९—कुमारसंभव-महाकवि कालिदास।

८०—श्रीमद्भगवद्गीता-रामकण्ठरचित विवरण सहित।

हिन्दी-ग्रन्थ

८१—अभिनव भारती, व्याख्याकार-आचार्य विश्वेश्वर, सम्पादक-डा० नगेन्द्र।

८२—आधुनिक साहित्य-नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रथम सस्करण।

८३—इरावती-जयशंकर प्रसाद, चतुर्थ संस्करण।

८४—इन्द्रजाल-जयशंकर प्रसाद, द्वितीय संस्करण।

८५—अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय अध्ययन-रामलाल वर्मा।

८६—एक घूँट-जयशंकर प्रसाद, द्वितीय संस्करण।

८७—कबीर ग्रन्थावली-सम्पादक बाबू श्यामसुन्दरदास।

८८—कामना-जयशंकर प्रसाद, चतुर्थ संस्करण।

८९—कानन कुसुम—जयशंकर प्रसाद, पंचम संस्करण।

९०—कामायनी—जयशंकर प्रसाद, अष्टम संस्करण।

९१—कामायनी-(अभिभाषण)-डा० फतहसिंह।

९२—कामायनी-अनुशीलन—डा० रामलालसिंह।

९३—कामायनी-दर्शन-डा० कन्हैयालाल सहल और डा० विजयेन्द्र स्नातक।

९४—कामायनी-सौन्दर्य - डा० फतहसिंह।

९५—कामायनी भाष्य-डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना।

९६—कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना-विश्वनाथलाल शैदा।

९७—कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन-डा० द्वारिकाप्रसाद, प्रथम संस्करण।

९८—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध-जयशंकर प्रसाद, पंचम संस्करण।

९९—चन्द्रगुप्त-जयशंकर प्रसाद।

१००—चित्राधार-जयशंकर प्रसाद, तृतीय संस्करण।

१०१—झरना-जयशंकर प्रसाद, सप्तम संस्करण।

१०२—जनमेजय का नागयज्ञ-जयशंकर प्रसाद।

१०३—जयशंकर प्रसाद-नन्ददुलारे वाजपेयी, द्वितीय संस्करण।

१०४—प्रेम पथिक-जयशंकर प्रसाद, तृतीय संस्करण।

१०५—प्रतिध्वनि-जयशंकर प्रसाद, प्रथम संस्करण।

१०६—प्रसाद का काव्य-डा० प्रेमशंकर, प्रथम संस्करण।

१०७—प्रसाद का काव्य और दर्शन-डा० ज्ञानवती अग्रवाल(अप्रकाशित)

१०८—बिहारी रत्नाकर, टीकाकार-जगन्नाथदास रत्नाकर।

१०९—भारतीय दर्शन-पं० बलदेव उपाध्याय।
११०—भ्रमरगीतसार, सम्पादक-पं० रामचन्द्र शुक्ल।
१११—शिवमहापुराण (हिन्दी) अनुवादक-पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र।
११२—हिन्दी साहित्य का इतिहास-पं० रामचन्द्र शुक्ल।
११३—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भूनाथ सिंह।
११४—ज्ञानेश्वरी-गीता पर भक्त ज्ञानेश्वरकृत टीका।
११५—पंत, प्रसाद व मैथिलीशरण-रामधारीसिंह 'दिनकर'।
११६—रामचरितमानस-गोस्वामी तुलसीदास।
११७—रससिद्धान्त: स्वरूप विश्लेषण—डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित।
११८—कल्याण 'शिवाङ्क'।

अंगरेजी ग्रन्थ

११९—काश्मीर शैविज्म, पार्ट १, जे० सी० चटर्जी।
१२०—अभिनवगुप्त: एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टेडी— डा० के० सी० पाण्डेय।
१२१—लाइफ आफ श्रीरामकृष्ण (कम्पाइल्ड फ्रॉम वेरिअस ओथेन्टिक सो'रसेज)।
१२२—कलेक्टेड वर्क्स ऑफ सर आर० जी० भण्डारकर, भाग ४।
१२३—प्रेसिडेन्सिअल एड्रेस ऑफ वी० राघवन्।

नामानुक्रमणिका

ग्रन्थकार और अन्य शैव गुरु

अन्य उद्धृत व्यक्ति

ग्रन्थ

स्तोत्र



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
वाराणसी-१